अर्थशास्त्र

मुरलीधर जोशी
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय
और
सेवाराम शर्मा
अध्यापक, लखनऊ विश्वविद्यालय

लखनऊ
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड
१९५१

प्रस्तावना

गत पच्चीस-तीस वर्षोंमें पाश्चात्य देशोंमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके विवेचन और विश्लेषणमें बड़े वेगसे प्रगतिहुई है। कोईभी आधुनिक अर्थशास्त्री इन प्रवृत्तियोंसे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। प्रस्तुत पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रके सिद्धान्तोंकी विवेचना कीगई है। प्रत्येक विषयपर आधुनिक मतका प्रतिपादन करते हुए तत्सम्बन्धी अन्य मतोंकी विवेचनाभी करदी गई है। आशाहै कि पाठकों—विशेषकर विश्वविद्यालयोंके विद्यार्थियों—के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

साधारणत: अर्थशास्त्रके दो विभाग किये जाते है। एक विभाग सिद्धान्तोंका निरूपण करताहै और दूसरा आर्थिक समस्याओंका अध्ययन करता है। दोनो विषय महत्वपूर्ण है। इस पुस्तकमें अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंपर ही प्रकाश डालनेका प्रयास कियागया है। अतएव इसमें पाठकोंको आर्थिक समस्याओं और उनके समाधानो का विशेष वर्णन नही मिलेगा।

अर्थशास्त्रकी आधुनिक पुस्तकोंमें एक विशेष दृष्टिकोणके आधारपर सम्पूर्ण विषयोंकी विवेचना करनेकी प्रथा चलपडी है। किसीमें आर्थिक क्षेमको, किसीमें राष्ट्रीय आयको, किसीमें मूल्यको और किसीमें सीमान्त विश्लेषणको प्रधानता दी गई है। इस रीतिसे विषयका प्रतिपादन करनेमें कुछ विशेषताए अवश्य है। प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकोंने अपनेको किसी एक दृष्टिकोणसे बद्ध नही किया है। उन्होने केवल एकही दृष्टिकोण अपने सामने रखाहै और वह यह कि पाठक इस विषयके विविध प्रकरणोंको सुगमताके साथ समझ सकें। यही कारणहै कि आधुनिक प्रवृत्तियोंका समावेश करतेहुए भी अध्यायोंके क्रममें कुछ अशतक पुरानाही ढग रखागया है।

इस पुस्तकको लिखनेमें सबसे बडी कठिनाई लेखकोंको विषय सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दोंको प्राप्त करनेमें हुई। प्रचलित पुस्तकों, अर्थशास्त्र, शब्दावलियों और कोषोंमें जो शब्द प्राप्त हुए उनमें अनेक अनुपयुक्त जानपडे। अतएव लेखकोंने बहुतसे शब्दोंकी सृष्टि स्वयंकी है। कहीं कहींपर एकही अर्थमें दो शब्दोंका भी

प्रयोग होगया है जैसे प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा, मजूरी और पारिश्रमिक इत्यादि। अभी अर्थशास्त्र शब्दावली बननेको है। अतएव लेखकोंने अपनेको किसी शब्द-विशेष से बद्ध नहीं करलिया है। पाठकोंकी सुविधाके लिए पुस्तकमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दोंकी एक शब्दावली पुस्तकके अन्तमें दे दीगई है।

अर्थशास्त्रके सम्पूर्ण क्षेत्रकी विवेचना करनेमें एक समस्या यह उत्पन्न होजाती है कि भिन्न भिन्न विषयोंका किस अनुपातमें समन्वय कियाजाये। अर्थशास्त्रके अन्तर्गत अनेक विषय और प्रकरण हैं और प्रत्येकमें सम्बन्धित अनेक मत हैं। अतएव किस विषयको कितना स्थान देना चाहिए इसका निर्णय करना कठिन है। हो सकता है कि प्रस्तुत पुस्तकमें किसी प्रकरण विशेषको उस मात्रामें विवेचना न होपाई हो जिस मात्रामें अन्य पुस्तकोंमें प्राप्त हो अथवा पाठक आशा करते हों। कालान्तरमें भिन्न भिन्न विषयोंके महत्वमें परिवर्तन होता रहता है और भिन्न भिन्न प्रकरणोंके सन्तुलनमें लेखककी मनोवृत्तिका भी प्रभाव पड़ता है। पाठकोंसे हमारा सविनय अनुरोध है कि वे हमको पुस्तककी त्रुटियों और अशुद्धियोंकी सूचना देनेका कष्ट करें जिससे हम दूसरे संस्करणमें पुस्तकको अधिक उपयोगी बना सकें।

हमारे ज्ञानका आधार प्रधानतया पाश्चात्य देशोंके अर्थशास्त्रियोंकी पुस्तकें और लेख हैं। हम इनके बहुत आभारी हैं। हमको मार्शल टौसिग पीगू विक्सीड, विक्सेल, बोजर, नाइट, रौबिन्स, माइजज हायक ओहलिन, केन्स और हेबरलरकी पुस्तकों से विशेष सहायता मिली है। विश्वविद्यालयमें अध्यापनका कार्य करनेके कारण हमको स्वयं भी सोचने-समझने और तर्क करनेका अवसर प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम अपने सहयोगी अध्यापकों और अर्थशास्त्रके छात्रोंके भी आभारी हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय

मुरलीधर जोशी
सेवाराम शर्मा

विषय-सूची

१

अर्थशास्त्र का स्वरूप और क्षेत्र

इस संसारमें मनुष्य जिस वातावरणमें जन्म लेता है वह वास्तवमें अनेक प्रकारकी परिस्थितियोंका सम्मिश्रण मात्र है। इनमेंसे कुछ परिस्थितियां ऐसी है जिनके उत्पन्न करनेमें उसका कुछ हाथ नहीं है और कुछ ऐसी है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे उसीके आचरण और व्यवहारके फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। इन सभी प्रकारकी परिस्थितियोंका उसपर तथा उसके कार्योपर प्रभाव अवश्य पडता है। अतएव वह इन परिस्थितियों और तत्सम्बन्धी तथ्योंको समझनेकी चेष्टा करता है। सम्भव है कि प्रारम्भमें वह केवल स्वाभाविक उत्सुकतावशही ऐसा करता रहा हो परन्तु निश्चयही आगे चलकर इस प्रकार प्राप्त ज्ञानका प्रयोग उसने या तो परिस्थितियोंको अपने अनुकूल अथवा अपने को परिस्थितियोंके अनुकूल बनानेमें किया। यही नहीं जहा परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ वहा प्रतिकूल परिस्थितियोंमें सघर्ष करनेमें भी इस ज्ञानसे उसको बडी सहायता मिली।

उत्सुकता जाग्रत करने वाली वस्तुओंमें प्रकृतिका स्थान सर्वप्रथम है। मनुष्य अपने आस पास जीव-जन्तुओं और पेड-पौदोंको देखता है और उनकी उत्पत्ति एव विकास, गुण तथा प्रवृत्ति जाननेकी चेष्टा करता है। इसी प्रकार वह आकाशमें सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रोंको देखता है। पृथ्वी पर प्रकाश, धूप, वृष्टि, नदी, समुद्र पहाड इत्यादि को देखता है। खानोंसे खनिज पदार्थ, लोहा, कोयला, सोना, चादी इत्यादि निकलते हुए देखता है। निश्चय ही उसके मनमें इनके विषयमें जाननेकी उत्कठा होती है। केवल देख-सुनकर प्राप्त साधारण बोधसे ही उसको सन्तोष नही होता। वह गहराईमें जाना चाहता है और कार्य-कारणके सम्बन्धका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। वह इन विषयोंकी छान-बीन करके उनके अन्तर्गत नियमों और सिद्धान्तोंकी स्थापना करता है तथा उनके आधार पर भावी परिस्थितियोंके विषयमें कुछ हद तक भविष्यवाणी करनेका भी प्रयत्न करता है। इस प्रकारके ज्ञानको विज्ञान कहते है। भिन्न भिन्न विषयोंके सम्बन्धमें एकत्रित

ज्ञान-विज्ञान विभिन्न शास्त्रोंके अन्तर्गत आते हैं। उदाहरणके लिए प्राणियोंके विषयमें जो विज्ञान है, उसका समावेश प्राणि शास्त्रमें, पेड़-पौदोंका वनस्पति शास्त्र में और ग्रह-नक्षत्रों आदिका खगोल शास्त्र में है। इसी प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र इत्यादि भी अपने अपने विषयोंके विज्ञानको प्रतिपादित करते हैं। इनमें भी कुछ विषयों पर अधिक ज्ञान प्राप्त हो चुका है क्योंकि उनके प्राप्त करनेके अधिक साधन उपलब्ध है; अन्य बहुतसे विषयों पर अभी ज्ञान बहुत ही परिमित है।

अर्थशास्त्र का विषय

मनुष्य न केवल बाह्य परिस्थितिको ही समझनेका प्रयत्न करता है, वरन् वह अपने और अपने कार्योंके विषयमें भी जानना चाहता है। उदाहरणके लिए, वह अपने शरीरके तथा अपनी मनोवृत्तिके विषयमें भी ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। इन विषयोंकी विवेचना तथा व्याख्याके फलस्वरूप शरीरविज्ञान शास्त्र और मनोविज्ञान शास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाजमें रहना पसन्द करता है। अतएव उसके अन्य मनुष्योंसे अनेक प्रकारके सम्बन्ध हो जाते हैं। इन सम्बन्धोंके अध्ययनके फलस्वरूप अनेक शास्त्रोंकी सृष्टि हुई है। जैसे समाजके सगठित रूपमें रहनेके लिए व्यवस्था एवं नियमकी आवश्यकता होती है, जिसके लिए किसी प्रकारके शासक अथवा शासकसंघ का होना आवश्यक है। इसके फल-स्वरूप राजा और प्रजा, शासक और शासित, राज्य और नागरिकोंके बीच अनेक प्रकारके कर्तव्य और उत्तरदायित्वके प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका विवेचन राजनीति शास्त्रमें किया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य और मनुष्यके बीच धर्म सम्बन्धी, भाषा सम्बन्धी, नीतिसम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न होजाती हैं जिनका अध्ययन तत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें किया जाता है।

मनुष्यकी अनेक प्रकारकी आवश्यकताएं होती हैं जिनकी पूर्तिके लिए वह सतत प्रयत्न करता रहता है। इन्हीं आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए किसान खेतोंमें और श्रमजीवी कारखानोंमें काम करते हैं। कुछ मनुष्य अध्यापनका कार्य करते हैं, कुछ चिकित्साका, कुछ व्यापारका और कुछ सरकारी नौकरीका। इन्हीं आवश्यकताओं

की पूर्तिके लिए विविध प्रकारके कल कारखानो, बैंक, रेल, जहाज, डाक और तार इत्यादिका निर्माण हुआ है। इन्ही आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए साधारणत: मनुष्य चिन्तित रहता है और कठिन परिश्रम तथा दौडधूप करता है। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नही है कि मनुष्य इस विषयकी ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुआ है तथा उसने इसके अध्ययनकी चेष्टा की है जिसके परिणामस्वरूप एक शास्त्रकी उत्पत्ति हुई, जिसे अर्थशास्त्र कहते है।

अर्थशास्त्रके नामही से उस विद्याका बोध होता है, जिसका सम्बन्ध 'अर्थ' अर्थात् धन, द्रव्य और सम्पत्तिसे हो। हम देखते भी है कि मनुष्यके समयका एक बडा भाग अर्थके उपार्जन और उसके द्वारा अपनी आवश्यकताओकी पूर्तिमें व्यय होता है। जिन आवश्यकताओकी पूर्ति अर्थ द्वारा होसकती है उनको आर्थिक आवश्यकताए कह सकते है। आजकलके आर्थिक समाजमें प्राय. सभी आवश्यकताओकी पूर्तिके लिए प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें अर्थकी आवश्यकता पडती है। यह कहना ठीक नही होगा कि मनुष्यकी कुछ आवश्यकताए आर्थिक होती है और कुछ अनार्थिक और तत्सम्बन्धी आर्थिक तथा अनार्थिक कार्य भी होते है। वास्तव में प्रत्येक आवश्यकता तथा कार्यका कम या अधिक मात्रा में आर्थिक पक्ष अवश्य रहता है। अतएव इन कार्यो और आवश्यकताओसे अर्थशास्त्रका सम्बन्ध हो जाता है तभी अर्थशास्त्री को उनका अध्ययन करना पडता है।

मनुष्यकी आवश्यकताए जहा अपरिमित होती है, वही उनकी पूर्तिके साधन परिमितभी होते है। अतएव मनुष्य अपनेको इस प्रकारकी परिस्थिति में पाता है जिसमें उसे यह निर्णय करना पडता है कि किन आवश्यकताओकी पूर्ति की जावे और किस अश में। हम देखते है कि प्रत्येक कुटुम्ब की आय सीमित होती है परन्तु उसके सामने अनेक प्रकारकी आवश्यकताए रहती है, जिन सभी की तृप्ति इस सीमित आय से नही हो सकती क्योकि आय का जो भाग एक आवश्यकता की पूर्ति पर व्यय किया जाता है, वह दूसरी आवश्यकताकी पूर्ति के लिए उपलब्ध नही रहता। अर्थात् एक आवश्यकताकी पूर्ति का अर्थ हुआ किसी दूसरी इच्छा का अतृप्त रहना। मनुष्यकी आवश्यकताओकी पूर्ति उपभोगकी वस्तुओसे होती है। समाजके सभी लोगो की सभी आवश्यकताओके लिए उपभोगकी वस्तुए पर्याप्त नही होती है। इसका प्रधान कारण यही है कि इन वस्तुओको उत्पन्न

करनेके साधन, प्राकृतिक सामग्री, पूजी और मनुष्यों की शारीरिक एवं मानसिक शक्ति सीमित है। अतएव यह एक महत्वपूर्ण समस्या है कि इन सीमित साधनोंका असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ किस प्रकार सामजस्य किया जाय। इस समस्याको हम आर्थिक समस्या भी कह सकते हैं। यह समस्या प्रत्येक व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज के सामने है। यही समस्या अतीतकाल में भी रही है और भविष्य में भी रहेगी। यह ठीक है कि अतीतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय में उत्पत्तिके साधनो और वस्तुओंके उत्पादन में बहुत वृद्धि हो गयी है परन्तु साथ ही साथ आवश्यकताओंकी सख्या में भी वृद्धि हुई है। अतएव समस्या ज्यों की त्यो बनी है। यह समस्या प्रत्यक प्रकार की आर्थिक पद्धति में पायी जाती है। देश में पूजीवादी व्यवस्था हो अथवा समाजवादी, प्रत्येक व्यवस्थाको इस परिस्थितिका सामना करना पडता है और प्रत्यक व्यक्ति भिन्न भिन्न रीतियोसे इस समस्याको सुलझाना चाहता है। पृथ्वीके अधिकाश भागमें आजकल पूजीवादी आर्थिक व्यवस्था है अतएव इस पुस्तकमें प्रधानतया इसी बातकी विवेचना की जायेगी कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत इस समस्या का समाधान किस प्रकार किया जाता है। इस व्यवस्थाके अतिरिक्त जो अन्य प्रकार की व्यवस्थाए प्रचलित हैं उनमें किस प्रकारसे इसका समाधान किया गया है, इसका भी सक्षेपमें विवेचन किया जायेगा।

मनुष्य अपनेको इस परिस्थिति में पाता है कि उसकी आवश्यकताए तो अपरिमित हैं किन्तु उसके पास उनकी पूर्तिके साधन परिमित हैं। इन साधनोंमें एक विशेष गुण यह है कि इनमेंसे बहुतसे इस प्रकारके है जिनसे अनेक प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका कार्य लिया जा सकता है। उदाहरणके लिए भूमि एक उत्पत्ति का साधन है। भूमि पर कई प्रकारका अनाज पैदा किया जा सकता है; मकान बनाया जा सकता है; तालाब अथवा कुआ खुदवाया जा सकता है; और भी अनेक प्रकारसे भूमिका उपयोग हो सकता है। परन्तु यदि भूमि का एक टुकडा किसी समय एक कार्यमें लगा दिया गया तो उसी समय उससे दूसरा कार्य नही लिया जा सकता। यही अवस्था श्रम और पूजीकी भी है। ऐसी दशा में परिमित एव विविध कार्योंके योग्य साधनो का अपरिमित आवश्यकताओंसे सामजस्य करने में जिस प्रकारका आचरण होता है, वह मनुष्यके लिए बडे महत्वका है, क्योंकि उसीके आधार पर इस बात का निर्णय होता है कि उसकी किन आवश्यकताओंकी पूर्ति

होसकेगी और किस अंश तक। कई आधुनिक अर्थशास्त्रियो के मतमें अर्थशास्त्र के विषयका मूल तत्व यही है। हम ससार में जितने आर्थिक कार्य, आर्थिक सस्थाए और आर्थिक सम्बन्ध पाते है वह सब इसी मूल तत्व पर केन्द्रित है। इस प्रकारसे अर्थशास्त्रके विषयको इस दृष्टिकोणसे देखना ठीक भी है। किसी समस्या को समझने, सुलझाने और समाधान करनेका कार्य ही किसी भी शास्त्रका मुख्य उद्देश्य है। मनुष्य और समाजके सामने एक बडी विकट समस्या यह है कि वह अनेक प्रकारकी आवश्यकताओसे घिरा हुआ है और इनमें बराबर वृद्धि हो रही है। इनकी तृप्तिके लिए वह अपने पास पर्याप्त मात्रा में साधन नही पाता। ऐसी परिस्थिति में वह क्या करता है और वैसा क्यो करता है, इसका विश्लेषण करना और इनको कार्य-कारणसे सम्बन्धित कर उनके साधारण व्यापार पर प्रकाश डालना एक महत्वपूर्ण विज्ञानसम्बन्धी कार्य है। अर्थशास्त्रके मूल में यही तत्व है।

इसी परिस्थितिको हम दूसरे प्रकारसे भी देख सकते हैं। मनुष्यको जीवित रहनेके लिए वायुकी आवश्यकता है। परन्तु सौभाग्यसे प्रकृतिने वायुको इतनी प्रचुर मात्रामें प्रदान किया है कि उसके सम्बन्धमें कभी भी इस प्रकार की समस्या पैदा नही हुई कि 'कब' 'कहा' और 'कितनी मात्रामें' इसका प्रयोग करें। सभी वायु सम्बन्धी आवश्यकताओकी पूर्ति करने पर भी यह बहुत परिमाणमें बची रहती है। इसलिए वायुके सम्बन्धमें कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नही होती। यही कारण है कि वायुके लिए हमको किसी प्रकारका मूल्य नही देना पडता। जिस वस्तुको बिना प्रयास और बिना मूल्यके किसी भी मात्रामें प्राप्त किया जासके, उसको हम बिना मूल्यकी वस्तु कहेंगे। इस प्रकारकी वस्तुए हमारे बडे कामकी हो सकती हैं परन्तु आर्थिक दृष्टिसे इनका कोई महत्व नही है। अतएव इन वस्तुओको हम आर्थिक वस्तुओके वर्गमें नही रखते। मनुष्यके दुर्भाग्यसे ऐसी वस्तुओकी संख्या बहुतही कम है। अधिकाश वस्तुओकी मात्रा सीमित होती है और उनको प्राप्त करनेके लिए हमको स्वय परिश्रम करना पडता है अथवा मूल्य देकर दूसरेसे लेना पडता है। प्रकृतिने सभी वस्तुओको प्रचुरताके साथ नही दिया। भूमि का क्षेत्र सीमित है और कृषिके योग्य भूमि का तो बहुतही सीमित। इसी प्रकार खनिज पदार्थोंका परिमाण भी सीमित है। आवश्यकतासे कम मात्रामें होनेके कारण

इनको प्राप्त करनेके लिए श्रम अथवा द्रव्यके रूपमें मूल्य चुकाना पड़ता है। मनुष्य की बनाई हुई वस्तुएभी सीमितही होती हैं क्योंकि उनको बनानेके साधन भी सीमित हैं। अतएव उनको प्राप्त करनेके लिए भी मूल्य देना होता है। एक प्रकारसे हम कह सकते हैं कि मूल्यवाली वस्तुए ही आर्थिक वस्तुए हैं और इन वस्तुओंके उपभोगसे जिन आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है वही आर्थिक आवश्यकताए समझी जाती हैं।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

आर्थिक साधनोंके परिमित होनेके कारण अनेक प्रकारके आर्थिक व्यापार उत्पन्न होजाते हैं। पहिला महत्वपूर्ण व्यापार उत्पत्तिके साधनोंसे भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुए भिन्न भिन्न मात्राओंमें उत्पन्न करना है। उत्पत्तिकी इस क्रियापर राष्ट्रीय आयका परिमाण और उसका स्वरूप निर्भर करता है। आर्थिक साधनोंके समुचित प्रयोग पर आर्थिक क्रियाका स्तर निर्भर करता है। अतएव राष्ट्रीय आय कितनी है और किस प्रकार की है और इसमें किस प्रकारका परिवर्तन हो रहा है यह अर्थशास्त्रका एक महत्वपूर्ण अग है जिसका विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। दो प्रकार की वस्तुओंका उत्पादन होता है। एक तो उपभोग्य वस्तुए और दूसरी उत्पादक वस्तुए। इन वस्तुओंकी उत्पत्तिकी क्रियामें जो साधन भाग लेते हैं, उनकी द्रव्यरूपी आय भी इसी क्रिया द्वारा प्राप्त होती है। इस द्रव्यरूपी आयके व्यय पर ही उत्पन्नकी हुई वस्तुओंकी माग अवलम्बित रहती है और मागके आधार पर उत्पत्तिका स्तर निर्भर करता है। यदि मागमें किसी कारण कमी आ जाय तो आर्थिक साधनोंमें बेकारी, उत्पत्तिकी मात्रामें कमी और आर्थिक क्षेमका ह्रास होने लगता है। पूजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें इस प्रकारकी अवस्था बहुधा हो जाया करती है। इस प्रकारकी परिस्थितिया क्यों उत्पन्न हो जाती हैं और किस प्रकार इनका प्रतिकार किया जासकता है, यह आधुनिक आर्थिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण अग हो गया है क्योंकि इसी पर राष्ट्रीय आयका और साधनाके उपयोग का परिमाण निर्भर करता है।

दूसरा आर्थिक व्यापार जो कि प्रत्येक आर्थिक व्यवस्थामें पाया जाता है,

विनिमयका है। प्राचीनसे प्राचीन मनुष्यजाति में भी किसी न किसी मात्रामें श्रमविभाजन और विशिष्टीकरण पाया गया है। आधुनिक ससारमें तो यह विशिष्टीकरण इतना विस्तृत एव व्यापक हो गया है कि कोई भी मनुष्य अपने उपभोग की वस्तुओका एक छोटा भाग भी स्वय नही उत्पन्न करता। लाखो करोडो वस्तुओंके बीच वह एक भी समूची वस्तु नही बनाता; केवल उसका एक नगण्य भाग बनाता है। ऐसी अवस्थामें अपनी अपनी आवश्यकताओ की तृप्तिके लिए विनिमयका कार्य आवश्यक हो जाता है। प्राचीन कालमें यह कार्य वस्तु-विनिमय की प्रथा द्वारा सम्पन्न होता था। आजकल वही द्रव्यके माध्यमसे होता है। विनिमयकी सुगमताके लिए दो बातोका होना अति आवश्यक है। एक तो विनिमयका आधार और दूसरा उसका माध्यम। विनिमयका आधार मूल्य है और माध्यम द्रव्य। आजकल द्रव्यके रूपमें ही मूल्य प्रकट किया जाता है और द्रव्यकी सहायतासे क्रय-विक्रय होता है।

द्रव्यका परिमाण सरकार, केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंको द्वारा निर्धारित होता है। प्रगतिशील देशोमें बैंको द्वारा प्रचलित किये गये साखद्रव्य की ही प्रधानता है। आर्थिक पद्धतिके सगठन तथा सचालन में द्रव्यका इतना महत्व है कि इसके परिमाण, व्यय और सचयके परिवर्तनसे आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतएव द्रव्य और द्रव्य सम्बन्धी सस्थाओके नियन्त्रण की आवश्यकता होती है।

द्रव्यके रूपमें वस्तुओंके जो मूल्य निर्धारित होते है, उन्हीके आधार पर पूजीवादी पद्धतिमें उत्पत्तिका स्तर और स्वरूप बनता और बदलता जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता की व्यवस्थामें उत्पादक उन्ही वस्तुओका, उन्ही मात्राओंमें उत्पादन करते है जिनसे उन्हें अधिक लाभ हो। वस्तुओके बनानेमें जो लागत लगती है वह इन वस्तुओंके उत्पादनमें लगे साधनोके मूल्यका ही समुच्चय है। वस्तुओके मूल्य और लागतके अन्तर पर ही लाभकी मात्रा निर्भर करती है। अतएव उत्पादकको अपना व्यवसाय और उत्पादनकी मात्राको स्थिर करनेके लिए वस्तुओ और साधनोके मूल्यकी जानकारी होनी चाहिए। यह मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है और इसपर किन किन बातोका प्रभाव पडता है, इसका विश्लेषण अर्थशास्त्र का एक प्रधान अग है। यदि हम ध्यानसे देखें तो ज्ञात होगा कि मूल्यस्तरो पर न केवल

लाभकी मात्रा निर्भर करती है अपितु उत्पत्तिके साधनोकी नियुक्ति, राष्ट्रीय आय और व्यक्तिगत आय भी इन्हीपर निर्भर करती है।

उत्पादित आय भिन्न भिन्न मनुष्यो अथवा वर्गोमें किस प्रकार विभक्त होती है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है क्योकि आयका जो भाग उनको मिलता है, उसीपर उनका आर्थिक क्षेम निर्भर करता है। आजकल मुख्यतः आय द्रव्यके रूपमें होती है, जिसका उपार्जन उत्पत्तिके कार्यमें सहायता देनमे होता है। यह द्रव्यमयी आय श्रमजीवियो को पारिश्रमिक और वेतनके रूपमें और पूजीपतियोको ब्याज, लगान और लाभके रूपमें प्राप्त होती है। स्पष्ट है कि इस आयकी मात्रा उत्पत्तिके साधनो के प्रयोग और उनके मूल्यपर अवलम्बित होती है। श्रमजीवियोकी आयका परिमाण इस बात पर निर्भर करता है कि उनकी नियुक्ति कितने समयके लिए और कितने पारिश्रमिक पर होगी। उत्पत्तिके अन्य साधनोके मूल्यका निर्धारण भी उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार साधारण वस्तुओंके मूल्यका।

राष्ट्रीय आय किस प्रकार समाजमें भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोमें और किस अनुपात में विभाजित होती है, इसका प्रभाव केवल इन वर्गोके क्षेमपर ही नही परन्तु सारी आर्थिक व्यवस्था पर पडता है। अनुभवसे यह ज्ञात हुआ है कि कम आयवाले अपनी आयका अधिकाश भाग उपभोगकी वस्तुए खरीदनेमें व्यय कर देते है और धनी वर्ग अपनी आयका एक बडा भाग बचा लेते है। इसी बचतसे उद्योग-धन्धो के लिए पूजी बनती है। यदि यह बचत पूजीके रूपमें प्रकट होती रहे और आर्थिक कार्योमें लगती रहे तो इससे आर्थिक साधनोको काम मिलता रहेगा और उत्पत्तिकी मात्रा और आयस्तरमें भी वृद्धि होती रहेगी। परन्तु बहुधा ऐसा होजाता है कि यह बचत पूजीके रूपमें न लगकर संचित रूपमें बेकार पडी रहजाती है क्योंकि इसको लगानेसे पूजीपतियोको लाभकी आशा नही होती। बचत और इसके उपयोगके व्यवधानसे आर्थिक कार्यमें शिथिलता और मन्दी आजाती है। कुछ लोगोका विश्वास है कि सामाजिक आयमेंसे यदि कम आय वाले वर्गको अधिक भाग प्राप्त हो तो उनकी व्ययशीलतासे उपभोगके पदार्थोकी माग बढेगी, जिससे पूजीकी उत्पादकतामें वृद्धिकी आशा बनी रहेगी, क्योंकि पूजीवादी समाजमें आयका वितरण बहुत असमान होता है और अधिकाश बचतकी मात्रा एक छोटे वर्गके पास केन्द्रित रहती है अतएव वर्ग सम्बन्धी वितरणका इस प्रकरणमें बहुत महत्व

हो जाता है।

उत्पत्तिका चरम उद्देश्य उपभोग है। उत्पादक वस्तुओंका प्रयोजन भी उपभोग की वस्तुओंके निर्माणमें सहायता देना है। अतएव इनका मूल्य भी इनकी सहायता से निर्मित उपभोगकी वस्तुओंके मूल्य पर निर्भर करता है। उत्पादकोंको उपभोक्ताओंके लिए वस्तुएं बनानी है। साधारणत. पूंजीवादी व्यवस्थामें उपभोक्ताको कोई भी वस्तु किसी भी मात्रामें प्राप्त करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि उपभोक्ता किस परिमाणमें किन किन वस्तुओंको प्राप्त करनेकी चेष्टा करेगा इसका निश्चय अवश्यही उसकी आयके परिमाण, उसकी आवश्यकताओंकी गरिमा और आवश्यकताओंको तृप्त करने वाली वस्तुओंके मूल्य पर निर्भर करेगा। यह जानी हुई बात है कि उत्पादक वर्ग विज्ञापनों और अपने क्रय-चातुर्यसे अपनी वस्तुओंकी माग उत्पन्न करते है और उनके बेचनेमें समर्थ होते है। परन्तु अन्ततोगत्वा वही उत्पादक अपने व्यवसायमें सफल होंगे जो अपने उद्योग-धधोंको शीघ्रतासे उपभोक्ताओंकी मागमें होने वाले परिवर्तनोंके साथ सामञ्जस्य बनाये रख सकेंगे। इस प्रकरणमें एक गूढ़ विषयकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है कि किस प्रकार उत्पत्ति और उपभोगकी क्रियाएं एक साथ गुथी हुई हैं। उत्पत्ति की क्रियासे आयका सृजन होता है। इस आयका साधनोंके स्वामियोंमें वितरण होता है। इसके फलस्वरूप भिन्न भिन्न वस्तुओंकी भिन्न भिन्न मात्रामें माग होती है और इसके आधार पर पुन: उत्पत्तिकी क्रिया निर्भर करती है।

आधुनिक कालमें कोईभी देश स्वावलम्बी नहीं रह सकता। भारतवर्ष बहुतसी वस्तुएं दूसरे देशोंसे मोल लेता है और अपनी वस्तुओंको दूसरे देशोंमें बेचता है। इसके अतिरिक्त एक देशकी पूंजीभी दूसरे देशमें लगी होती है। इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धोंके कारण आयात-निर्यात, विदेशीविनिमय, लेनदेन का असन्तुलन इत्यादि समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं जिनका विवेचन और विश्लेषणभी अर्थशास्त्रके अन्तर्गत होता है।

प्रत्येक देशकी सरकारभी उसकी आर्थिक पद्धतिका महत्वपूर्ण अंग होती है। अपनी कर-व्यय-ऋणनीति एवं आर्थिक विधानो द्वारा वह उत्पत्तिकी मात्रा और उसके स्वरूप, राष्ट्रीय आय और उसके वितरणमें बहुत प्रभाव डाल सकती है। अतएव राजस्वनीति सम्बन्धी सभी कार्य अर्थशास्त्रीके अध्ययनके विषय होजाते हैं।

आर्थिक विश्लेषण की रीतियां

हमने देखाकि अर्थशास्त्रके अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण समस्याए है। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार इन समस्याओका विश्लेषण करके उनके कार्यकारण सम्बन्ध की खोज की जाय और किस प्रकार उनके अन्तर्गत नियमोका ज्ञान प्राप्त किया जाय। कुछ विज्ञान ऐसे है जिनके विषयोका अध्ययन और विश्लेषण प्रयोगशालाके अन्दर वातावरणको अनुकूल बनाकर अथवा प्रतिकूल परिस्थितियो को नियन्त्रित करके कियाजा सकता है। उदाहरणके लिये रसायनशास्त्र में विविध रसायनोका अलग अलग सम्मिश्रण करके नियन्त्रित वातावरणमें उनका प्रभाव देखा जासकता है। अर्थशास्त्रीको समस्याए इस प्रकारकी है जिनका अध्ययन नियन्त्रित वातावरणमें किसी प्रयोगशालाके अन्दर नही होसकता। यहभी सम्भव नही होता है कि अन्य व्यवधानोको हटाकर किसी एक कारणके प्रभावका अध्ययन किया जा सके। उदाहरणके लिए यदि हम यह जानना चाहें कि चीनीके मूल्यमें वृद्धि होनेसे इसकी मांग और उत्पत्तिपर क्या प्रभाव पडताहै तो यह सम्भव नही है कि हम उन सब अन्य कारणोको हटा सकें जिनका चीनीकी माग एव उत्पत्ति पर प्रभाव पडता है जिसम केवल चीनीके मूल्यकी वृद्धिका प्रभाव अलगसे ज्ञात हो सके। यदि माग घट गई, तो हम यह नही कह सकते कि यह कमी केवल मूल्यकी वृद्धिके कारण हुई है। मागकी कमीके और भी कारण होसकते है जिनका प्रभावभी सम्भव है उसी समय पड रहा हो जबकि चीनीके मूल्यमें वृद्धि हुई है। उदाहरणके लिए, कल्पना कीजिये, डाक्टरो ने चायमें कोई ऐसी बात ढूढ निकाली जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता हो, जिसके कारण लोग धीरे धीरे चायका प्रयोग कम कर रहे हो। अत चीनीकी माग गिरने लगी हो। अब चूकि दोनो कारण साथ साथ चल रहे है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि मागकी कमी पर किस कारणका कितना प्रभाव पड रहा है। यदि मागकी कमीके दो ही कारण होने तो भी हम चाय पीनेवालोको अलग कर मूल्यकी वृद्धिका प्रभाव चाय न पीनेवाले मनुष्योंकी मागके परिवर्तनके आधार पर निश्चित करनेमें बहुत कठिनताका अनुभव करते। परन्तु मागको प्रभावित करनेवाले अन्य बहुतसे कारण होसकते है जिनका प्रभाव हम नही रोक सकते। वास्तव में अर्थशास्त्र काविषयही ऐसा है जिसमें हम स्वाधीन मनुष्योके

व्यवहार और कार्योका अध्ययन करते है अतएव यह असम्भव है कि हम उनको प्रयोगशालामें नियन्त्रित कर उनपर कार्यकारण सम्बन्धी प्रयोग करें। यही कारण है कि अर्थशास्त्रीकी प्रयोगशाला कोई कमरा नही वरन् सारा जगत् है।

आर्थिक विश्लेषण की एक रीति, जो ऐतिहासिक रीति कही जाती है, यह है कि हम पूर्वघटित आर्थिक घटनाओंके आधार पर उन आर्थिक नियमोको खोज निकालें जिनसे ये घटनाए समझाई जा सकें। आर्थिक घटनाए नित्य हो घटती रहती है। यदि हम किसी विशेष प्रकार के घटनासम्बन्धी नियम जानना चाहें तो भिन्न भिन्न समयोमें घटित उस प्रकारकी घटनाके क्रम का अध्ययन तथा विश्लेषण करके उसमें कार्यकारण सम्बन्धके खोजनेका प्रयत्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए यदि अनेक बार हमको दिखायी दे कि जब जब भी चीनीके मूल्यमें वृद्धि हुई है तभी चीनीकी मागमें कमी पायी गयी है, तो इससे यह परिणाम निकाला जासकता है कि मूल्य की वृद्धिक कारण मागमें कमी हुई है और उसी आधार पर हम कह सकते है कि यदि भविष्यमें भी मूल्यमें वृद्धि होगी तो मागमें कमी आ जायेगी। पूर्वघटित घटनाओ का विवरण आकडोके रूपमें इकट्ठा किया जाता है। अनेक आर्थिक घटनाए आकडोमें मापी जा सकती है जैसे मूल्य, उत्पत्ति, माग, कर, ब्याज की दर, बेकारी इत्यादि। यदि घटनाओसे सलग्न आकडे ऐतिहासिक क्रम से इकट्ठा किये जायें और इनमें असम्बद्ध घटनाओंको छोडकर सम्बद्ध घटनाओके आधार पर पूर्वापर सम्बन्ध ज्ञात किया जाय तो इनका समान धर्म निर्धारित किया जा सकता है। इस रीति का प्रयोग सरल नही है और इसके आधारपर प्राप्त नियमोकी अवश्यम्भाविता भी सन्देहजनक है। कोई भी ऐतिहासिक घटना तत्कालीन परिस्थितियोमे सलग्न रहती है। कोई भी घटना भिन्न भिन्न कालोमें एक ही परिस्थितिमें नही वरन् भिन्न भिन्न परिस्थितियोमें घटित होती है। अतएव उसके सम्बन्धमें जो सामान्य धर्म हम स्थापित करते है वह पूर्णरूप से लागू नही होगा क्योकि सलग्न परिस्थितिया एक ही प्रकारकी नही होती। इसके अतिरिक्त दो घटनाए एकके पीछे एक घट रही है इससे हम यह तात्पर्य नही निकाल सकते कि वे कार्यकारणसे अवश्यही सम्बन्धित हो। वे पूर्णत: स्वतन्त्र हो सकती हैं अथवा ऐसा भी हो सकता है कि वे दोनो घटनाए किसी तीसरी घटनासे प्रभावित हो रही हो।

एक और रीतिका भी प्रयोग किया जाता है जिसको आनुमानिक रीति कहते हैं। यह सर्वविदित है कि वास्तविक आर्थिक घटनाए बहुत गहन, पेचीली और उलझी होती हैं जिससे उनका पूर्ण रूपसे विश्लेषण करना बहुत ही कठिन कार्य है। अतएव विश्लेषणके लिए अर्थशास्त्री आर्थिक परिस्थितिको काल्पनिक रूपसे सरल बनानेकी चेष्टा करता है। इस कल्पित आर्थिक व्यवस्थामें वह कुछ बातोको स्वयसिद्ध मान लेता है। उदाहरणके लिए मनुष्य आर्थिक कार्योको अपने लाभके उद्देश्यस करता है, आर्थिक व्यवहारोमें पूर्ण स्पर्द्धा पायी जाती है इत्यादि। इन अनुमानोंके आधार पर वह तर्क द्वारा नय नये परिणाम निकालता है। अब ये नये परिणाम वास्तविक जगत्में कहा तक लागू होंगे, यह इस बात पर निर्भर है कि उसकी कल्पनाए वास्तविक स्थितिसे कितनी भिन्न है। यदि वास्तविक स्थितियो में कल्पित स्थितियोसे अधिक विभिन्नता न हो तो हम कह सकते है कि जो परिणाम काल्पनिक स्थितियोके आधार पर प्राप्त किये गये है, वे वास्तविक जगत् में भी ठीक उतरेंगे। यदि ऐसा नही है तो वास्तविक जगत में ये परिणाम पूर्णरूप से लागू नही होंगे। उदाहरणके लिए, यदि पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाके आधार पर हम इस परिणाम पर पहुँचें कि अमुक-वस्तु का अमुक मूल्य होगा और यदि वास्तविक ससारमें अपूर्ण प्रतिस्पर्द्धा हो तो हमारा परिणाम ठीक नही उतरगा। यह नही समझना चाहिए कि वास्तविक जीवन इन कल्पित अवस्थाओसे भिन्न है अतएव इस आनु-मानिक रीतिका कोई महत्व नही है। एक मिश्रित और पचीली स्थिति का विश्लेषण करनेके लिए इस रीतिका प्रयोग बहुधा सुविधाजनक होता है। एक सरल आर्थिक प्रतिरूप कल्पितकर उसके आधारपर कुछ परिणाम निकाले जाते है और क्रमशः इस कल्पित प्रतिरूपमें वास्तविकता का समावेश करके उनमें सशोधन कियाजा सकता है। यह भी नही समझना चाहिए कि जिन अर्थशास्त्रियो ने इस विधिका प्रयोग किया है वे वास्तविकतासे अनभिज्ञ थे। हा, इस बातको पूर्णरूप से ध्यानमें रखना चाहिए कि आनुमानिक आधार पर जो कार्य-कारण शृखलाका प्रतिपादन किया जाता है उसकी वास्तविकता और यथार्थता तभी प्रमाणित होसकती है, जब कि वे कल्पनाए वास्तविकतासे अधिक दूर न हो।

व्यवहारमें अर्थशास्त्रीको अपने विषयको समझनेमें और उसके विश्लेषणमें इन सभी रीतियोकी आवश्यकता होती है। ऐतिहासिक रीतिका महत्व इसलिए है कि

इसके प्रयोगमें हम वास्तविकताके साथ चलते हैं और उसके आधार पर ही सामान्य धर्म जाननेकी चेष्टा करते है। परन्तु आर्थिक विषयोंकी गम्भीरता और जटिलता के कारण प्रत्येक अवस्थामें इस रीतिका प्रयोग सम्भव नही होता। अतएव हमको आनुमानिक रीतिका आश्रय लेना पडता है। इस रीतिके आधार पर जो परिणाम प्राप्त किये जातेहैं उनकी यथार्थताकी परीक्षाके लिए हमको उन्हें वास्तविकता की कसौटी पर कसना पडता है।

आर्थिक क्षेम

जब मनुष्य किसी विषयका अध्ययन एवं विश्लेषण करता है तो उसका कुछ न कुछ उद्देश्य रहता है। एक उद्देश्य तो उस विषयका ज्ञान प्राप्त करना, उसके विविध अगों-प्रत्यगोंका अध्ययन करके उनके कार्य-कारण पर प्रकाश डालना और तत्सम्बन्धी सामान्य धर्म खोज निकालना है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए उसे अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक रीतियों और प्रयोगोंको काममें लाना पडता है। परन्तु हमारा उद्देश्य केवल ज्ञानप्राप्ति ही नही होसकता। इस जगत्में केवल ज्ञानही से हमारा काम नहीं चलता। हमको कर्म करने पडते हैं। ज्ञान प्राप्त करनेकी मनोवृत्ति, अवकाश तथा साधन केवल कुछही लोगोंको उपलब्ध होते हैं परन्तु कर्म सभीको करने पडते है क्योंकि बिना कर्म किये हम अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकते। थोडा बहुत प्रत्येक मनुष्य अपने कार्यके विषयमें जानता ही है, परन्तु प्रत्येक मनुष्यको उसका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। अतएव ऐसे लोगोंके कार्य उतनी उत्तमतासे नही होसकते जितनी कि तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तिसे होसकते हैं। यदि हमें किसी विषयका ज्ञान होजाये तो उस विषय सम्बन्धी कार्योंको हम अधिक सुगमता से और अच्छे ढगसे करसकते है। अतएव प्राप्त ज्ञानका व्यवहारमें प्रयोग होना चाहिए। उदाहरणके लिए, यदि मनुष्यको शरीरके अवयवों, उनके कार्यों और सम्बन्धोंका ज्ञान प्राप्त हो तो व्यवहारमें उस ज्ञानसे शारीरिक व्याधियोंको दूर अथवा कम करनेमें उसको सुविधा होगी।

आर्थिक क्षेत्रमें जो कार्य किये जाते हैं उनका उद्देश्य अन्ततोगत्वा आवश्यकताओं की पूर्ति कर आर्थिक क्षेमको बढाना है अतएव इस क्षेत्रके अध्ययन और विश्लेषण

से जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उससे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिमें सहायता मिलने की भावना होना स्वाभाविक है। जिन विज्ञानोका सीधा सम्बन्ध मानव समाज से है और विशेषकर जो मनुष्यकी आर्थिक आवश्यकताओसे सम्बन्धित है उनको तो अर्थ-शास्त्रके कार्यक्षेत्रमें बहुत महत्व प्राप्त है। अतएव अर्थशास्त्रीको अपने ज्ञानके प्रकाशसे आर्थिक क्षेमकी वृद्धिके लिए सरकारको, अन्य संस्थाओको और व्यक्तियो को उचित आर्थिक नीतिका अवलम्बन करनेमें सहायता देनी चाहिए।

अर्थशास्त्र और विज्ञान

कभी कभी यह प्रश्न किया जाता है कि अर्थशास्त्रको विज्ञान कहना चाहिए अथवा नही। वास्तवमें यह प्रश्न ठीक नही है। जब हम आर्थिक परिस्थितियो, कार्यो और सम्बन्धोका वैज्ञानिक रीतियोसे अध्ययन और विश्लेपण करते है और उनके आधारपर कार्य-कारणके सम्बन्धोका ज्ञान करते है और तत्सम्बन्धी नियमोका प्रति-पादन करते है तो निश्चय ही हम इस विद्याको विज्ञान द्वारा सम्बोधित करेंगे। हो सकता है कि हमारा विज्ञान अनेक कठिनाइयोके कारण अभीतक उच्च स्तर तक न पहुँच सका हो। परन्तु हमारा लक्ष्य और ध्येय यही है। अर्थशास्त्रको इससे भी कोई प्रयोजन नही कि हमारी आवश्यक्ताए अच्छी है अथवा बुरी और हमारा लक्ष्य वाछनीय है अथवा अवाछनीय। अर्थशास्त्री तो वास्तवमें जो आर्थिक कार्य हो रहे है और जो आर्थिक सम्बन्ध पाये जाते है उनका ही अध्ययन और विश्लेपण करता है और उनके विषयमें ही सामान्य धर्म का प्रतिपादन करता है। मनुष्यको मदिरापान करना चाहिए अथवा नही, उसको अधिक द्रव्य भोजनमें व्यय करना चाहिए अथवा सिनेमामें, इनका उत्तर अर्थशास्त्रकी परिधिके बाहर है। इसका उत्तर सम्भवत: नीति शास्त्र देसके। अर्थशास्त्री देखता है कि लोग मदिरा पीते है, उसके लिए मूल्य देनेको तत्पर है अतएव उत्पादकोको मदिरा उत्पादन करनेमें लाभ की आशा होती है और उत्पत्तिके कुछ साधन मदिरा बनानेके काममें आते है जिस के फलस्वरूप यह साधन अन्य आवश्यकताओको तृप्त करनेके लिए प्राप्त नही होते। इस प्रकारकी परिस्थितियोका अर्थशास्त्री अध्ययन करता है।

अर्थशास्त्र विज्ञान तो अवश्य है, परन्तु अन्य विज्ञानोकी अपेक्षा इसका सम्बन्ध

कार्यक्षेत्रसे अधिक है। ऐसा होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि इसका विषय ही इस प्रकार का है। अर्थशास्त्रके विषयको अच्छी तरह समझकर और उसका मनन कर जो क्रियायें की जायेंगी उनसे आर्थिक क्षेममें वृद्धि होनेकी सम्भावना है। यही कारण है कि इगलेडके विद्वान अर्थशास्त्री प्रोफेसर पीगू ने कहा है कि अर्थशास्त्री इस प्रकारके विज्ञानकी वृद्धिकी चेष्टा करेगा जो कि क्रियाका आधार बन सके।

अर्थशास्त्र का अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इस अध्यायके आरम्भमें ही लिखा जा चुका है कि भिन्न भिन्न विषयोंके अध्ययनके फलस्वरूप भिन्न भिन्न शास्त्रोंकी सृष्टि हुई है। परन्तु वास्तवमें इन सभी विषयों और तत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें पृथकता नही है। सभी विषय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें, कम या अधिक मात्रामें एक दूसरेसे सम्बन्धित है। अर्थशास्त्रका सम्बन्ध मनुष्यो के एक विशेष प्रकारके व्यवहार एव आचरणसे है परन्तु इस व्यवहार एव आचरणके लिए मनुष्य अपनेको अन्य परिस्थितियोंसे अलग नही कर सकता। इस प्रकरणमें अर्थशास्त्रसे केवल उन्ही शास्त्रोंके सम्बन्धकी विवेचना, सक्षेपमें की जायेगी जो उसके अधिक निकट है।

अर्थशास्त्रका समाजशास्त्रसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना तो ठीक नही होगा कि अर्थशास्त्र समाजशास्त्रका एक भाग है क्योंकि दोनोंके विषय और क्षेत्र अलग अलग हैं। परन्तु चूकि आर्थिक कार्य एव सम्बन्ध सामाजिक पद्धति, वर्गीकरण, सस्थाओ, विचारो और व्यवहारोंसे प्रभावित होते हैं अतएव अर्थशास्त्रीको समाज सम्बन्धी विषयोकी जानकारी होना आवश्यक है। इस प्रकार मानव शास्त्र से भी अर्थशास्त्र सम्बन्धित है। भिन्न भिन्न युगोंमें भिन्न भिन्न प्रकारकी सस्कृतियोंमें मनुष्यका अध्ययन मानव शास्त्र का विषय है। इस विषयके अध्ययनसे अर्थशास्त्रीको प्राचीन, आर्थिक सस्थाओ और सम्बन्धोको समझनेमें सहायता मिल सकती है। राजस्व शास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्रको जोडता है। राज्यका विधान किस प्रकार का है, आर्थिक क्षेत्रमें राज्यकी क्या नीति है और राज्य किस प्रकार आर्थिक कार्योंका नियन्त्रण करता है, राज्यकी कर-व्यय-ऋणनीति क्या है, इनका आर्थिक स्थितिऔरक्रियाओपरगहराप्रभाव पडता है। आर्थिकक्षेमसे नीतिशास्त्रका विशेष

सम्बन्ध है। माना कि अर्थशास्त्रीको, क्या होना चाहिए और क्या नहीं होना चाहिए, इस विषयसे विशेष प्रयोजन नहीं होता है फिरभी अनेक आर्थिक नीतियां और विधान नीतिशास्त्रकी उक्तियो परही आश्रित रहती है। उदाहरणके लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक न्यूनतम जीवनस्तरको सुरक्षित करना, सन्तोषजनक पारिश्रमिक देना, सामाजिक बीमा करना, सम्पत्तिके वितरणमें असमानता कम करना, इस प्रकारके सभी कार्य अधिकतर नीतिशास्त्रसे सम्बन्धित है। मनोविज्ञानसे भी अर्थशास्त्रका सम्बन्ध है। उपयोगिताकी प्राप्ति, लाभकी आशा, निराशा, उपयोग और बचत करनेकी प्रवृत्ति इस प्रकारकी मनोवृत्तियोका आर्थिक कार्यों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

अर्थशास्त्र के नियम

प्राय कहा जाता है कि अर्थशास्त्रके नियम प्राकृतिक विज्ञानोंमें प्रतिपादित नियमोंके समान अनिवार्य नहीं होते है अर्थात अर्थशास्त्रके नियमोंमे हमको इस प्रकारकी आशा नहीं करनी चाहिए कि वे सभी कालमें और सभी परिस्थितियोमें चरितार्थ होंगे। परन्तु यदि हम इस विषयके मूलमें जायें तो पता चलता है कि इस प्रकारका आक्षेप ठीक नहीं है। अर्थशास्त्रके नियम अन्य विज्ञानोंके नियमोंके समानही है। किसी भी नियमसे यही बोध होता है कि किन्हीं दीगयी परिस्थितियोमें किस परिणामकी आशा करनी चाहिए। यदि यह आशा पूरी नही होरही है तो अवश्यमेव परिस्थितिमें बदलाव होगया होगा। उदाहरणके लिए बाजारका एक नियम है कि यदि किसी वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होजाये तो उसका मूल्य गिरने लगेगा। अब यदि वस्तुके परिमाणमें वृद्धि होगई और फिरभी मूल्य नहीं गिरा तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि नियम अशुद्ध है। यह नियम चरितार्थ इसलिए नहीं होरहा होगा कि सम्भव है परिस्थितियोमें अन्तर पड गयाहो। होसकता है मांगभी उसी अनुपातमें बढ गयी हो जिस अनुपातमें बाजारमें पूर्ति बढी है। अथवा बढ़े हुए परिमाणको बाज़ारमें न रखकर उत्पादक अथवा व्यापारी संग्रह कर रहे हो।

अर्थशास्त्रके और प्राकृतिक नियमोंके भेद करनेका प्रधान कारण होसकता है यह रहाहो कि प्राकृतिक विज्ञान सम्बन्धी नियमोकी प्रयोगशालामें परीक्षा की

जासकती है, जहां परिस्थितियां नियन्त्रित की जासकती हैं। जैसा कि पहिले बताया जाचुका है कि अर्थशास्त्री की प्रयोगशाला किसी कमरके भीतर सीमित नहीं की जासकती और न आर्थिक परिस्थितियां ही इच्छानुकूल बनायी जासकती हैं। अतएव आर्थिक नियमोंकी परीक्षा करनेके लिए हमको सदैव इस प्रकारकी शुद्ध परिस्थितियां प्राप्त नहीं होतीहैं जिनमें वह नियम पूर्णरूप से चरितार्थ होसके। यही कारणहै कि आर्थिक नियमोंके प्रतिपादनमें प्रायः 'जब अन्य बातें यथावत् रहें' यह वाक्य जोड़ दिया जाता है।

२

आवश्यकताएं

उपभोग का महत्व

हम चारो ओर मनुष्यको अनेक प्रकारके कार्योंमें व्यस्त पाते हैं। कोई खेतमें, कोई कारखानेमें, कोई व्यापारमें, कोई दफ्तरमें और कोई किसी अन्य व्यवसायमें लगा दिखायी देता है। इसका प्रधान कारण यह है कि साधारणतः मनुष्य इसी प्रकारके कार्योंसे अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करसकता है। आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओ और सेवाओंका उपभोग करना पडता है। उपभोग शब्दका सम्बन्ध उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्तिसे है। कुछ वस्तुए ऐसीहैं जिनका अस्तित्व एकही बारके उपभोगसे, कमसे कम बाह्य रूपमें तो समाप्त होजाता है—रोटी, फल, कोयला इस प्रकारके उदाहरण हैं; और कुछ वस्तुए टिकाऊ होती हैं। इनका अस्तित्व एव उपयोगिता दीर्घकाल तक बनी रहती है। कपड़ा, फर्निचर, रेडिओ इसके उदाहरण हैं। वस्तुओंके उपभोगमें हम वस्तुओंकी उपयोगिता प्राप्त करते हैं। यदि किसी वस्तुकी उपयोगिता उपभोक्ताकी आवश्यकताकी पूर्तिके बिना नष्ट होजाये तो उसको उपभोग नही कहा जायेगा। ऐसी स्थितिमें हम कहेंगे कि वह वस्तु नष्ट होगयी। उदाहरणके लिए बाढ, भूचाल, आधी, अग्नि आदि प्रकोपोंमें जो विनाश होताहै उसको उपभोग नहीं कहा जाता। उपभोगमें किसी आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिए। आवश्यकता अच्छी है अथवा बुरी, इसका प्रश्न नही है। कैसीभी आवश्यकताहो, यदि किसी वस्तु अथवा सेवा द्वारा उसकी पूर्ति होजाये तो ऐसी स्थितिमें उपभोग शब्द प्रयोग किया जाता है।

आवश्यकताए और उनकी विशेषताए

हम देखते हैं कि मनुष्यको अनेक प्रकारकी वस्तुओ एव सेवाओंकी आवश्यकता

होती है। जन्मसे मरण पर्यन्त इन आवश्यकताओं से छुटकारा नही मिलता। चाहे मनुष्य वनमानुषकी अवस्थामें हो अथवा आधुनिक सभ्यताके नये युगमें, आवश्यकताए उसको घेरे रहती है। हा यह अवश्यहै कि सभी मनुष्योकी सभी अवस्थाओ में एकही प्रकारकी आवश्यकताए नही होतीं। जब मनुष्य पशुवत् जीवन व्यतीत करता था तो उसकी आवश्यकताए केवल उदर-पूर्ति तकही सीमित थी। ज्यो ज्यो वह सभ्यताकी ओर अग्रसर होता गया, उसकी आवश्यकताओ की सख्यामें वृद्धि होती गयी। कहा जाताहै कि सभ्यताका विकास और आवश्यकताओ की वृद्धि साथ साथ चली आयी है। आधुनिक कालमें तो आवश्यकताओ का कोई अन्त ही नही दिखायी पडता। साधारणत मनुष्य अपनको इनक बोझसे दबा हुआ पाता है। प्रारम्भिक आवश्यकताओ के अतिरिक्त, जिनकी पूर्ति जीवन-रक्षाके लिए अनिवार्य है, जैसे अन्न, वस्त्र, मकान, आधुनिक कालमें सास्कृतिक और भोगविलास सम्बन्धी आवश्यकताओ की बहुत वृद्धि हुई है। इन्ही बढती हुई आवश्यकताओ की पूर्तिके लिए आर्थिक साधनो, कार्यो और सम्बन्धोकी भी वृद्धि हुई है।

आवश्यकताओमें अनेक प्रकारकी विशषताए दिखायी दती है।

(१) आवश्यकताओ की सख्या अपरिमित है। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य होगा जिसकी सभी आवश्यकताओकी पूर्ति होगयी हो। धनी से धनी मनुष्यको भी यही प्रतीत होताहै कि यदि उसक पास और अधिक धन होता, तो वह और अधिक आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकता अथवा इन्ही आवश्यकताओ की पूर्ति विशष प्रकारसे कर पाता। आवश्यकताए सदैव प्रत्यक्ष नही रहती है। जैसेही किसी प्रबल आवश्यकताकी पूर्ति हुई, दूसरी आवश्यकता उसका स्थान ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार मनुष्यके आर्थिक और आय स्तरमें वृद्धि होनेके कारणभी अनक प्रकारकी आवश्यकताए उत्पन्न होजाती है। एक साधारण आवश्यकताकी पूर्तिके लियेही अनेक वस्तुओकी आवश्यकता होती है। उदाहरणके लिए उदर-पूर्ति का काम रूखे सूखे भोजनसेभी चल सकता है, परन्तु मनुष्यकी तृप्ति इस प्रकारके भोजनसे नही होती। वह बढिया और स्वादिष्ट भोजन चाहताहै साथही समय समयपर उसमें परिवर्तनभी चाहता है। इसी प्रकार सर्दी-गर्मीसे शरीरकी रक्षाके लिए उसे वस्त्रोकी आवश्यकता होती है। काम तो साधारण वस्त्रोसे भी चल

जाता है, परन्तु मनुष्यका इससे सन्तोष कहा होता है। उसको तो बढ़िया और विविध प्रकारके वस्त्र चाहिए, घूमनेके लिए अलग, सोनेके लिए अलग, खानेके और रातके लिए अलग। इसी विविधता और विलासिताके समावेशसे एक सरल सी आवश्यकताभी दुरूह बन जाती है।

पाश्चात्य देशोंकी विचार-धाराके अनुसार इन बढ़ती हुई आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप ही सभ्यताकी वृद्धि हुई है। यदि मनुष्य सन्तोषी होकर हाथपर हाथ रखकर बैठ जाता तो सुख, आराम और विलासकी अनेक सामग्रियां जो हम अपने चारोंओर देखते हैं, कहांसे उपलब्ध होतीं। यह बात हमकोभी मान्यहै कि मनुष्यके शारीरिक एवं मानसिक सुख-सन्तोषके लिए विविध प्रकारकी वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। अपनी वर्तमान अवस्थासे असन्तोषके कारणही वह उद्यम एवं उद्योग करनेको प्रेरित होताहै जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकारके आविष्कार होते हैं, जिससे मनुष्यकी आर्थिक अवस्थामें विकास होता है। यदि सन्तोषावस्था मनुष्यको आलसी और निष्क्रिय बनाने लगे तो इस प्रकारका सन्तोष उसके और समाजके लिए हितकर न होगा। वह असन्तोष जो मनुष्यको अग्रसर होनेके लिए प्रेरित करता है, वाञ्छनीय समझा जाना चाहिए।

(२) हमने बताया कि कोईभी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सकता। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी एक आवश्यकताकी पूर्णरूप से पूर्ति नहीं कर सकता। आवश्यकताओं की एक विशेषता यह है कि किसी विशेष समय में किसी विशेष वस्तुकी आवश्यकता की पूर्णरूप से पूर्ति की जासकती है। इसका कारण यहहै कि जैसे जैसे आवश्यकताकी पूर्तिके साधन हमारे पास बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे उस आवश्यकताकी तीव्रता घटती जातीहै और अन्तमें ऐसा समय आजाता है कि वह आवश्यकता उस समय बिल्कुल शान्त होजाती है। इसका उदाहरण हम भोजनकी आवश्यकतासे देखसकते हैं। भूखकी सीमा होती है जैसे जैसे भोजनकी सामग्री हमें अधिक मात्रामें प्राप्त होती जातीहै, वैसे वैसे भूख मिटती जाती है। जब पेट भर जाताहै तो भोजनकी आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार परिमाणके साथ प्रत्येक आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और पर्याप्त मात्रामें उस वस्तुकी प्राप्ति होने पर उसकी आवश्यकताकी पूर्णरूप से पूर्ति होजाती है। अर्थशास्त्र का एक मुख्य सिद्धान्त जिसे 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रासनियम' कहते हैं, आवश्यकताओं

की इसी विशेषता पर आधारित है। इस नियमका विवेचन आगे चल कर किया जायेगा।

(३) आवश्यकताओंकी आपसमें प्रतिस्पर्द्धा रहती है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्यके पास एकसाथ सभी आवश्यकताओं की पूर्तिके साधन नहीं होते। इसलिए उसको निर्णय करना पड़ता है कि किस आवश्यकता की पूर्ति किस अंश तक कीजाये। इसका उदाहरण हमको अपने नित्यके व्यवहारमें मिलता है। यदि किसी विद्यार्थीको एक पुस्तक और एक कोट की आवश्यकता है और उसके पास एकही वस्तुको खरीदनेके लिए धनहै तो इन दो आवश्यकताओं में होड होगी और विद्यार्थीको इनमेंसे एकको चुनना पड़ेगा यदि वह कोट खरीदता है, तो उसे किताब से वंचित रहना पड़ेगा।

(४) आवश्यकताएं विकल्पितभी होती है अर्थात् किसी आवश्यकताकी पूर्ति अनेक वस्तुओंसे होसकती है। ये वस्तुएं एक दूसरेकी स्थानापन्न होसकती हैं। उदाहरणार्थ भूख-निवारणके लिये गेहूं, जौ चना अथवा बाजरेकी रोटी खायी जासकती है। कुछ अंशोंमें एक अन्न दूसरे अन्नका स्थानापन्न होसकता है। यदि गेहूंका मूल्य बढजाय तो लोग जौ, चना इत्यादि अन्नोंको काममें लाने लग जायेंगे। यदि एक आवश्यकता दो वस्तुओंमें से किसी एकसे सन्तुष्ट की जासकती है तो लोग उस वस्तुको खरीदेंगे, जिसका मूल्य कम होगा। इस प्रकारकी वस्तुओंमें बहुत अधिक मात्रामें प्रतिस्पर्द्धा होती है। उत्पादनके कार्यमें भी कई साधन ऐसे होते है जो एक दूसरेके स्थानापन्न होसकते हैं। उत्पादक का प्रायः यह विचार करना पड़ता है कि वह मजदूरों की संख्यामें वृद्धि करे अथवा मशीनो की। इस प्रवृत्तिके आधार पर प्रतिस्थापन सिद्धान्त बना है। हम आगे चल कर देखेंगे कि इस सिद्धान्त का प्रयोग अर्थशास्त्रके सभी भागोंमें होता है।

(५) आवश्यकताएं एक दूसरेकी पूरक भी होती हैं। किसी एक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये अनेक वस्तुओंकी एकसाथ आवश्यकता होतीहै, जैसे टेनिस खेलनेके लिये बल्ला, गेंद, जाल और परदों की एकसाथ आवश्यकता होती है। इन सबके सहयोगसे ही टेनिस खेलनेकी आवश्यकता की पूर्ति होसकती है। इस प्रकार विशेष रूपसे सम्बंधित वस्तुओंमें से किसी एकके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे तत्सम्बन्धी वस्तुओंकी मांग में एवं उनके मूल्यमें भी परिवर्तनकी सम्भावना रहती है।

(६) किसी मनुष्य अथवा परिवारकी विविध आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए जो वस्तुएं नित्य व्यवहारमें लाई जाती हैं, उन सबसे मिलकर उस मनुष्य अथवा कुटुम्बका जीवन-स्तर निर्धारित होता है। इन वस्तुओंके उपभोगका स्वभाव पड जाता है, जिसमें बहुत धीरे धीरे परिवर्तन होता है। इसी प्रकार अनेक वस्तुओंका प्रयोग लोकाचारमें होता है। इनमेंभी परिवर्तन धीरे धीरे होता है। इस प्रवृत्तिसे वस्तुओंके उपभोग और उनकी मांगमें कुछ अंश तक स्थिरता आजाती है, जिससे उत्पादन कार्यमें भी उसी सीमा तक स्थिरता आजाती है।

उपयोगिता

जब हम यह कहतेहैं कि हमारी अमुक आवश्यकता है तो उससे किसी वस्तुका अभाव सूचित होता है। यदि वह वस्तु पर्याप्त मात्रामें प्राप्त होजाती है तो अभाव दूर होजाता है और हम कहते हैं कि इस आवश्यकता की पूर्ति होगयी। वस्तुओं और सेवाओंके उपभोगसे हमको जो तृप्ति होतीहै उसको मापनेके लिये उपयोगिता शब्दका प्रयोग किया जाता है। तृप्ति एक मानसिक अवस्थाहै जिसका विश्लेषण बहुतही कठिन कार्य है। किसी एकही मनुष्यको भिन्न भिन्न परिस्थितियोंमें एकही वस्तुसे भिन्न भिन्न मात्रामें तृप्ति मिलती है, जिनकी माप करना एवं उनकी तुलना करना सुगम नहीं होता। अन्य मनुष्योंको किसी वस्तु अथवा सेवासे किस मात्रामें तृप्ति मिलतीहै, इसका ज्ञान होना तो अत्यन्त दुष्कर है। फिरभी इस कार्यके लिये किसी प्रकारका वाह्य मापदंड काममें लाना अनिवार्य होजाता है।

किसी मनुष्यको एक वस्तुके उपभोगसे कितनी मात्रामें तृप्ति प्राप्त होतीहै इस का निरपेक्ष रूपमें तो अनुमान नहीं होसकता किन्तु विविध वस्तुओंके उपभोगसे उस को जो सापेक्ष तृप्ति मिलनेकी सम्भावना रहतीहै उसका अनुमान किया जासकता है। यदि दो वस्तुओंका मूल्य समानहो और कोई व्यक्ति उन दोनोंमें से एकको खरीदताहै तो इससे प्रकट होताहै कि वह दूसरी वस्तुकी अपेक्षा उस वस्तुके उपभोग से अधिक मात्रामें तृप्तिकी आशा करता है। किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए मूल्य देना पडता है। उस मूल्यसे अन्य वस्तुएंभी प्राप्त होसकती हैं। जब कोई व्यक्ति एक वस्तु खरीदताहै तो वह उससे प्राप्त होनेवाली तृप्तिकी तुलना उन

वस्तुओंसे प्राप्तहोनेवाली तृप्तिमे करताहै जो उसने नही खरीदी। इस प्रकार हम देखतेहै कि किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये मनुष्य जो द्रव्य देताहै, उससे वस्तुसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताका बोध होता है। यदि वह यह निश्चय नही कर पारहा कि वह उस वस्तुको ले अथवा द्रव्यको अपने पास रखे तो इससे बोध होताहै कि किसी दूसरी वस्तुसे अपेक्षित तृप्ति पहली वस्तुकी अपेक्षित तृप्तिके समकक्ष है।

किसी दीहुई परिस्थितिमें किसी वस्तुके उपभोग से जो तृप्ति मिलतीहै उसको उपयोगिता कहते है। इस उपयोगिताकी माप तो नही होसकती परन्तु किसी व्यक्ति विशेषकी उस परिस्थितिमें उस वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी अन्य वस्तु अथवा द्रव्यसे अपेक्षित उपयोगितासे हम तुलना कर सकते है। यदि किन्हीदो वस्तुओके लिए मनुष्य समान द्रव्य देनेको तैयारहो तो हम यह कह सकतेहै कि वह उन दोनोंसे समान उपयोगिताकी आशा करता है। अतएव साधारणतया कहा जासकता है कि दो वस्तुओकी अपेक्षित उपयोगिताए उसी अनुपातमें है जिस अनुपातमें उनको प्राप्त करनेके लिए द्रव्य दिया जाता है। इस प्रकरणमें हम यह बताना चाहतेहै कि द्रव्यसे उपयोगिताकी माप और तुलना करनेमें सुविधा होती है। द्रव्य-विहीन आर्थिक पद्धतिमें भी इस प्रकारका तुलनात्मक कार्य किया जासकता है जबकि एक वस्तुसे अपेक्षित उपयोगिताकी तुलना सीधे दूसरी वस्तुसे अपेक्षित उपयोगितासे कीजाती है।

क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम

आवश्यकताओ और उनकी विशेषताओंकी चर्चा करते हुए हमने बताया था कि प्रत्येक आवश्यकता सीमित होतीहै अर्थात उसका निवारण होसकता है। इसका कारण यह है कि जैसे जैसे उस आवश्यकताकी पूर्ति करनेके साधनोका संग्रह अथवा उपभोग होता जाताहै, वैसे वैसे उस आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और एक समय आजाता है जब उसका लोप होजाता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सकते है। किसी समय अथवा परिस्थितिमें यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु विशेषका लगातार उपभोग अथवा सचय करता है तो उस वस्तु की क्रमागत इकाइयोंसे प्राप्त उपयोगिता घटने लगतीहै क्योकि उस वस्तु कीआव-

श्यकताकी तीव्रता घटने लगती है। अतएव तृप्तिकी मात्राभी कम होने लगती है। जब वह वस्तु इतनी मात्रामें संचित होजाती है अथवा उपभोग की जातीहै कि आवश्यकता बिल्कुल शान्त होजाती है तो ऐसी अवस्थामें तृप्तिके कुल परिमाणमें वृद्धि नहीं होती और हम कह सकतेहैं कि उपयोगिता शून्य होगई है। अब यदि इस सीमाके आगेभी उपभोग किया जाय तो कुल उपयोगितामें हानि होनेकी सम्भावना रहतीहै अर्थात् उपयोगिता प्रतिकूल होने लगती है। उपयोगिताकी इस प्रकारकी प्रवृत्तिके आधार पर एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त बनाहै, जिसको 'क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम' कहते हैं। इस नियमकी व्याख्या इस प्रकारसे कीजाती है, जैसे जैसे किसी कालावधि में किसी वस्तुका संग्रह क्रमशः बढ़ता जाताहै, वैसे वैसे क्रमागत प्राप्त उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। अर्थात् वस्तुकी किसी इकाई से प्राप्त उपयोगिता उससे पहिलेकी इकाईकी उपयोगितासे कम रहती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वस्तुकी इकाइयोंमें असमान उपयोगिता निहित है। सभी इकाइयोंका रूपरंग इत्यादि विशेषताएं समानहैं परन्तु जैसे जैसे एक मनुष्य उस वस्तुकी इकाइयोंका क्रमशः उपभोग अथवा संचय करता जाताहै, वैसे वैसे उसको प्राप्त क्रमागत उपयोगिताका ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए कोई मनुष्य केले खरीदता है जोकि सब बातोंमें समान हैं। तुलनाके निमित्त मान लीजिये कि पहिले केलसे उसको १०० इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है। जब वह दो केले लेताहै तो (केलेकी इच्छाकी आंशिक तृप्ति हो चुकनेके कारण) मान लीजिए ८० इकाई उपयोगिताकी वृद्धि हुई अर्थात दो केलोंसे कुल १८० इकाई उपयोगिता प्राप्त हुई। यह कहना उपयुक्त नहीं होगा कि दूसरे केलेकी उपयोगिता ८० इकाई है और पहिलेकी १००। दोनों केले सर्वथा समान हैं परन्तु क्योंकि वह व्यक्ति एक केला ला चुका है अतएव उसके मनमें दूसरे केलेके लिए पहिले जैसी तीव्र अभिलाषा नहीं है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी वस्तुकी उपयोगिता जाननेके लिए यह आवश्यकहै कि उपभोक्ताके पास उस वस्तुकी कितनी इकाइयां हैं। उपरोक्त उदाहरण में जब वह व्यक्ति तीसरा केला खरीदता है तो मान लीजिये कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोंकी वृद्धि होजाती है। अर्थात् कुल उपयोगिता २३० इकाइयां होजाती हैं। इसी प्रकार मान लीजिये कि चौथे केलेसे केवल २० इकाई उपयोगिता की वृद्धि होजाती है। इस प्रकार ४ केलोंकी कुल उपयोगिता २५० इकाइयां हुईं। यह नहीं कहना

चाहिए कि तीसरे केलेकी उपयोगिता ५० और चौथे केलेकी २० इकाइयां है बल्कि इस प्रवृत्तिको इस प्रकार बनाना चाहिए कि जब प्राप्त केलोंकी संख्या दो से तीन होगयी हो तो कुल उपयोगितामें ५० इकाइयोंकी वृद्धि हुई और जब संख्या तीनसे चार हुईतो कुल उपयोगितामें २० इकाई की वृद्धि हुई। यहां पर हम देख रहे हैं कि ज्यों ज्यों केलोंकी संख्या बढती जारही है, त्यों त्यों कुल उपयोगिता कम अनुपातमें बढ रही है।

कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता

ऊपर दिये गये केलोंके उदाहरणसे हम कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के भेद और उनके सम्बन्धका स्पष्टीकरण कर सकते हैं। इस उदाहरणको बढा कर हम आगे दीहुई तालिकामें दिखा रहे हैं *

केलोंकी संख्या	*कुल उपयोगिता*	*सीमान्त उपयोगिता*
१	१००	१००
२	१८०	८०
३	२३०	५०
४	२५०	२०
५	२६०	१०
६	२६०	०
७	२५०	—१०
८	२३०	—२०

* ध्यान रहे कि तालिका में जो संख्याएं दीगयी हैं वह सब काल्पनिक हैं। वास्तव में न कुल उपयोगिता और न सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार संख्या के रूपमें प्रकट की जासकती है। यहां पर संख्याओं द्वारा केवल इस बातको दिखानेकी चेष्टा कीगयी है कि कुल उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता किस प्रकारसे सम्बन्धित है।

किसी वस्तुकी जितनीभी इकाइयां लीगयी हों उन सभीकी उपयोगिताके समुदायको कुल उपयोगिता कहते हैं। तालिकाके कॉलम २ में केलोंकी भिन्न भिन्न संख्याओंकी कुल उपयोगिता दिखायी गयी है। उदाहरणके लिए ५ केलोकी कुल उपयोगिता २६० इकाई है। वस्तुकी इकाइयोंकी क्रमागत वृद्धिसे प्रत्येक बार कुल उपयोगितामें जो वृद्धि होतीहै, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते हैं। इसको तालिकाके कालम ३ में दिखाया गया है। जब केलोंकी संख्या बढ़कर ३ से ४ हुई तो कुल उपयोगिता २३० से २५० इकाइयां होगयी अर्थात् कुल उपयोगितामें २० इकाइयों की वृद्धि हुई। अत: ४ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता २० है। इसी प्रकार ५ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता १० है जबकि कुल उपयोगिता २५० से बढ़कर २६० इकाइयां होजाती है। सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करनेकी सरल विधि यहहै कि जब वस्तुकी संख्यामें एक इकाई बढ़ा या घटा दीगयी हो तो दो क्रमागत कुल उपयोगिताओं का अन्तर निकाल लिया जाये।

इस तालिकासे यहभी पता चलताहै कि ५ केलोंके प्राप्त करने तक कुल उपयोगिता बढ़ती जाती हैं, यद्यपि क्रमागत वृद्धिका अनुपात घटता जाता है। छठे केलेके लेनेपर उपयोगिता पूर्ववत् रहतीहै और सातवें और आठवें केलोके लेने पर घटने लगती है। अब यदि हम सीमान्त उपयोगिताके कॉलमको ध्यान-पूर्वक देखें तो मालूम होगा कि केलोंकी संख्यामें वृद्धि होनेपर क्रमागत सीमान्त उपयोगिता घटती जातीहै; परन्तु पांच केलो तक (जहां तक कुल उपयोगिता बढ़ती रहती है) यह धनात्मक रहती है। ६ केले लेने पर सीमान्त उपयोगिता शून्य होजाती है और कुल उपयोगिताकी वृद्धिभी समाप्त होजाती है अर्थात् कुल उपयोगिताके अधिकतम स्तर पर सीमान्त उपयोगिता शून्य रहती है। जब केलोंकी सातवां और आठवीं इकाई लीजाती हैं तो सीमान्त उपयोगिता ऋणात्मक होजाती है और कुल उपयोगिता घटने लगती है। सामने दिये रेखा-चित्रमें सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है।

इस चित्रमें समकोण चतुर्भुज द्वारा सीमान्त उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि जैसे जैसे केलोंकी संख्या बढती जाती है, चतुर्भुजका क्षेत्रफल घटता जाता है। यदि इन चतुर्भुजोंके सिरोंको अविच्छिन्न रेखा द्वारा जोड़दें तो दाहिनी ओर को गिरती हुई इस रेखासे भी घटती हुई सीमान्त उपयोगिता दृष्टिगोचर होती है।

प्राप्त उपयोगिता
कलो का सख्या
१००
८०
६०
४०
२०
१
२
५
६
७
८
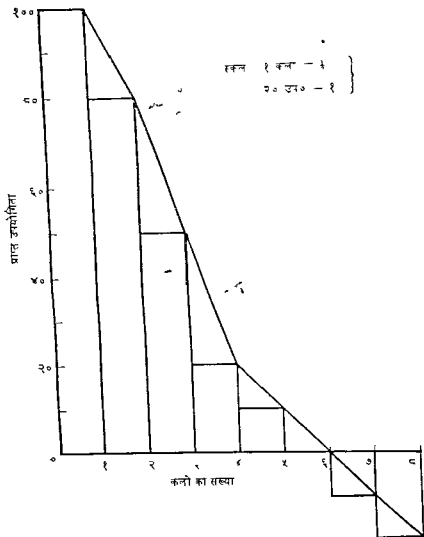
क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियमके कुछ अपवाद भी बताये जाते हैं। देखा जाताहै कि यदि कोई वस्तु बहुत ही सूक्ष्म मात्रामें लीजाये तो कुछ सीमा तक सीमान्त उपयोगिता घटनेके बदले बढती जान पड़ती है। परन्तु यदि हम किसी वस्तुकी इकाई पर्याप्त मात्रामें लें तो यह नियम प्रारम्भसे ही लागू होजायेगा। उदाहरणके लिए अमरूदकी छोटी छोटी फाकोंको भी उसकी इकाई माना जा सकताहै और एक अमरूदको अथवा एक सेर अमरूदको भी। किसी वस्तुकी इकाई का पर्याप्त परिमाण क्याहो, इसका परिमाण भिन्न भिन्न वस्तुओंके लिए भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भिन्न भिन्न होगा।

इसी प्रकार यदि ४ कुर्सियोंका एक सेट होताहै और किसी व्यक्तिके पास ३ कुर्सियां हैं तो चौथी कुर्सीसे उसको अधिक सीमान्त उपयोगिता जान पड़ेगी। ऐसी परिस्थितिमें चारों कुर्सियांके एक पूरे सेटको एक पर्याप्त मात्राकी इकाई समझना चाहिए। यही बात डाकके टिकट इकट्ठा करनेवालों अथवा विलक्षण वस्तुओंका संग्रह करनेवालों के विषयमें भी कही जासकती है। पूर्वोक्त उदाहरण क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियमके वास्तविक रूपमें अपवाद नहीं हैं।

सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम

प्रत्येक मनुष्य चाहताहै कि उसको अधिकतम सन्तोष और तृप्ति मिले। वह अपने परिमित साधनोंका प्रयोग इस प्रकारसे करना चाहताहै जिससे उसे प्रत्येक साधनके सीमान्त उपभोगमें सम उपयोगिता प्राप्त हो। यदि किसी साधनके एक दिशाके उपयोगसे दूसरी दिशाके उपयोग द्वारा अधिक उपयोगिता प्राप्त होनेकी सम्भावना हो तो यह उसके हितमें होगा कि वह उस साधनको कम उपयोगिता वाले उपयोगसे हटाकर अधिक उपयोगिता वाले उपयोगमें लगाये। जब उसके साधनोंकी सीमान्तिक उपयोगिताएं सभी उपयोगोंमें समान होजाती हैं तो फिर साधनको एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें बदलनेसे कोई लाभ नहीं होता। साधनोंको विविध उपयोगोंमें वितरण करनेकी इस प्रवृत्तिको सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम कह सकते हैं। इसका दूसरा नाम प्रतिस्थापना सिद्धान्त भी है क्योंकि इसके अन्तर्गत साधनोंके विभिन्न उपयोगोंकी इस प्रकारसे प्रतिस्थापना होती है कि किसी भी

उपयोगोंसे समान सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त हो। जब इस प्रकारका वितरण हो जाता है ता फिर तटस्थताका आविर्भाव होजाता है, अतएव इस दशाको तटस्थता सिद्धान्तभी कहा गया है। प्रति स्थापना शीर्षक अध्याय में सिद्धान्त का पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है। वह हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सभी भागो अर्थात् उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरणमें चरितार्थ होना है।

उपभोगके सम्बन्धमें इस प्रवृतिको 'सम-सीमान्त-उपयोगिता नियम' कहते हैं। इस नियम की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी आय को भिन्न भिन्न वस्तुओंमें इस प्रकार व्यय करेगा, जिससे उसको विभिन्न वस्तुओंमें व्यय किये गये रुपये अथवा आनोसे समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्तहो। आय एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग विविध वस्तुओंको प्राप्त करनेमें होता है। यदि आयको एक इकाईसे एक उपयोगकी अपेक्षा दूसरे उपयोगमें अधिक उपयोगिता मिलनेकी सम्भावना हो तो उसको दूसरे उपयोगमें व्यय करनेमें अधिक तृप्ति मिलेगी। परन्तु जब किसी उपयोगमें द्रव्यकी एक इकाईके बाद दूसरी इकाई क्रमश: व्यय की जायेगी तो उस उपयोगकी सीमान्तिक उपयोगिता घटती जायेगी और ऐसी स्थिति आजायेगी जबकि दूसरे उपयोगसे अधिक तृप्ति होगी। इस दूसरे और इसी प्रकार तीसरे, चौथे उपयोगोंमें भी क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियम लागू होगा। अतएव वह व्यक्ति द्रव्यकी विभिन्न इकाइयोंको व्यय करनेके पहिले यह जाननेकी चेष्टा करेगा कि किस वस्तुमें व्यय करनेसे उसे अधिक सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। उसको अपने कुल व्ययसे अधिकतम उपयोगिता तभी मिल सकेगी जब द्रव्यकी प्रत्येक इकाईसे सभी उपयोगोंमें समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। इस नियमको हम साधारण एव सुगम उदाहरणसे दिखा सकते हैं। मान लीजिए एक लडकेके पास एक रुपया है, जिससे वह चाय, पेडा और सन्तरे लेना चाहता है। सुगमताके लिए हम यहभी मान लेतेहै कि इन सभी वस्तुओंकी इकाईका मूल्य दो आना है। अब प्रश्न यह है कि वह कितनी इकाइया भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मोलले, जिससे उसे अधिकतम उपयोगिताकी प्राप्ति हो। वह निश्चयही अपने मनमें प्रत्येक वस्तुकी विभिन्न इकाइयोंसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओं की तुलना करेगा। अगले पृष्ठ पर दीगयी तालिकामें काल्पनिक सख्याओंमें इन तीनो वस्तुओंकी विभिन्न इकाइयोसे प्राप्त उपयोगिता दीगयी है।

प्रति दुअन्नीमें प्राप्त वस्तुकी इकाइया	आपेक्षित उपयोगिता		
	चाय	पेडा	सन्तरा
१	५	१५	१०
२	३	१२	८
३	२	१०	५
४	१	५	२
५	०	१	१

इस तालिकाको ध्यानमें रखते हुए उस लडकेको एक रुपया निम्न प्रकारसे व्यय करनेमें अधिकतम उपयोगिता मिलेगी.

वस्तुओंकी इकाई	उपयोगिता	कुल
१ प्याली चाय	५	५
४ पेडे	१५ + १२ + १० + ५	४२
३ सन्तरे	१० + ८ + ५	२३
	कुल उपयोगिता	७०

यदि वह चौथे पेडके स्थानमें एक प्याली चाय और पिये तो कुल उपयोगितामें ५ इकाईकी कमी और ३ इकाईकी वृद्धि होगी अर्थात् कुल उपयोगितामें २ इकाई की कमी होजायेगी, कुल उपयोगिता ६८ (७० − ५ + ३) रह जायेगी। पाठक स्वय जाच करके ज्ञात कर सकतेहैं कि अन्य किसी प्रकारसे वस्तुओंको मोल लनेमें कुल उपयोगिता ७० से कम ही मिलेगी। इस उदाहरणमें प्रत्यक वस्तुमें व्यय की गयी दुअन्नीकी सीमान्त उपयोगिता ५ है। इसी स्थितिको रेखाचित्र द्वारा भी प्रकट कर सक्ते है।
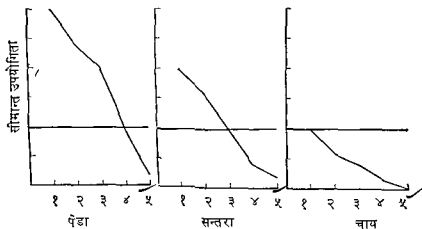
इस रेखाचित्र में पडी रेखा द्वारा प्रति दुअन्नीसे प्राप्त वस्तुका परिमाण और खडी रखा द्वारा सीमान्तिक उपयोगिता दिखायी गयी है। स्पष्ट है कि आठ दुअन्नियो से चार पेडे, तीन सन्तरे और एक प्याली चाय लनेसे उसको समान (५) सीमान्तिक उपयोगिता मिलती है।

वास्तवमें सभी वस्तुओंकी इकाइयोंका मूल्य समान नही होता है। इस बात को ध्यानमें रखते हुए हम इस सिद्धान्तको इस प्रकारसे भी कह सक्तेहैं कि प्रत्येक विचारवान् मनुष्य इस प्रकार व्यय करेगा जिससे सभी मोल लीगयी वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिता उनके मूल्यके अनुपातमें हो। उदाहरणके लिए यदि छातेका मूल्य १० रुपया, टोपीका २ रुपया और रूमालका १ रुपया हो तो कोई मनुष्य

छाते को खरीदना नहीं चाहेगा, यदि छातेसे अपेक्षित उपयोगिता कमसे कम टोपियों और १० रुमालोंके बराबर न हो। इस सम्बन्धको समीकरणके रूपमें प्रकार लिखा जा सकता है :

$$\frac{\text{छातेका मूल्य}}{\text{छातेकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{टोपीका मूल्य}}{\text{टोपीकी सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{रुमालका मूल्य}}{\text{रुमालकी सीमान्त उपयोगिता}}$$

यदि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होजाये तो भिन्न भिन्न वस्तुओंकी इकाइयो को खरीदनेमें भी इसी प्रकार परिवर्तन होनेकी प्रवृत्ति होगी, जिससे अनुपात पूर्ववत् होजाये।

भिन्न भिन्न वस्तुओ पर द्रव्यको व्यय करनेसे कोईभी व्यक्ति कुल उपयोगिताको तभी अधिकतम बना सकता है जब कि मोल लीगयी वस्तुओंकी सीमान्त उपयोगिताए उनके मूल्यके अनुपातमें हो।

वास्तविक ससारमें भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मागकी स्थिरता और अनेक मूल्यो में बहुत भिन्नता होनेके कारण इस अनुपातके अनुसार चलना कठिन होजाता है। परन्तु प्रवृत्ति इस प्रकारकी अवश्य रहती है। एक बात और भी ध्यानमें रखनेकी है कि कालान्तरमें फैशन और रुचिमें परिवर्तन होनके कारण भिन्न भिन्न वस्तुओंकी सापेक्ष सीमान्तिक उपयोगिताओं में भी अन्तर आजाता है। यदि कुछ काल तक वस्तुओंके मूल्य और रुचिमें परिवर्तन न हो तो मनुष्यको अपने व्ययके वितरणसे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करनेमें सुगमता होगी।

३

मांग

माग का तात्पर्य

अर्थशास्त्र में 'माग' शब्दका प्रयोग एक विशिष्ट अर्थमें होता है। किसी मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्बन्धी माग उसके मूल्यके साथ निहित रहती है। 'मोहनकी २० आमोंकी माग है' यह वाक्य असम्बद्ध समझा जायेगा, जबतक इसके साथ आमका भाव न जोड दिया जाये। वस्तुत: हमको कहना चाहिए, 'यदि आमका मूल्य चार आने प्रति आम हो तो इस मूल्यपर मोहनकी माग २० आमकी है।' यदि आमका भाव चार आने न होकर पाच आने अथवा तीन आने हो तो सम्भव है कि मोहनकी मागमें भी अन्तर पड जाये। भिन्न भिन्न मूल्यो पर मोहनके लिए आमोंकी माग भिन्न भिन्न होगी। अतएव मागका तात्पर्य यह है कि किसी समय विशेषमें खरीदार भिन्न भिन्न मूल्योंपर किसी वस्तुकी कितनी इकाइया खरीदेगा।

मागका आवश्यकताओ और उनकी विशेषताओंसे घनिष्ट सम्बन्ध है। दूसरे अध्यायमें हमने बताया है कि किसीभी वस्तुकी आवश्यकता की तीव्रता उस वस्तु के सग्रहसे कम होजाती है। आवश्यकता की तीव्रतामें न्यूनता आनेके कारण उस वस्तुकी उपयोगिता भी कम होतीचली जाती है अतएव उसका मूल्यभी उपभोक्ताकी दृष्टिमें गिरता जाता है। आवश्यकताकी तीव्रताका मागपर भी प्रभाव पडता है। यदि किसी मनुष्यको किसी वस्तुकी आवश्यकता बहुत तीव्रहो तो उसके लिए उस वस्तुकी उपयोगिता बहुत अधिक होगी और वह उसको अधिक मूल्यपर भी खरीद लेगा। परन्तु यदि आवश्यकता शिथिल पड गयीहो तो वह उस वस्तुको कम मूल्य पर खरीदना चाहेगा। इस प्रकार हम देखतेहैं कि मोहन अधिक परिमाणमें आम खरीदना तभी पसन्द करेगा जबकि विक्रेता उनका मूल्य घटाये। अधिक मूल्य होने पर वह कम आम खरीदेगा। मागकी इस प्रवृत्तिका हम पृष्ठ पर दीगयी तालिका द्वारा निदर्शन कर सकते है:

मूल्य (आनों में)	मोहनकी माग
८ प्रति आम	० आम
७ ,, ,,	१
६ ,, ,,	५
५ ,, ,,	१०
४ ,, ,,	२०
३ ,, ,,	३०
२ ,, ,,	३५

स्मरण रहे कि उपरिलिखित तालिका किसी विशेष व्यक्ति की किसी विशेष समय पर आमोंकी मागकी द्योतक है; भिन्न भिन्न व्यक्तियों के लिए एक ही समय पर अथवा एकही व्यक्तिके लिए भिन्न भिन्न समयों पर यह तालिका भी भिन्न हो-सकती है क्योंकि प्रत्येक मनुष्यकी किसीभी वस्तु सम्बन्धी माग उसकी आय, अभिरुचि और अन्य वस्तुओंके मूल्यपर अवलम्बित रहती है। इनमें परिवर्तन होने से उसकी मागमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु किसी समय विशेषमें इन सब बातोंके यथावत् रहनेपर वह भिन्न भिन्न मूल्योंपर उस वस्तुको भिन्न भिन्न परिमाणों में खरीदनेको तत्पर रहेगा। भिन्न भिन्न मनुष्यों की आय, अभिरुचि, आवश्यकताकी तीव्रता किसी वस्तुके लिये भिन्न भिन्न होती है। अतएव प्रत्येक मनुष्य भिन्न भिन्न मूल्योंपर किसी वस्तुको समान परिमाणमें नहीं खरीदेगा। ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार मोहन ६ आनेके हिसाबसे ५ आम खरीदता है, दूसरे उपभोक्ताकी माग, जिसको आममें अधिक अभिरुचि नहीं है अथवा जो इस भावपर आम खरीदने में असमर्थ है, ६ आने प्रति आम मूल्य होनेपर शून्य हो सकती है। अतएव प्रत्येक उपभोक्ताकी आमकी मागकी तालिका भिन्न भिन्न होने की सम्भावना है। यदि हम किसी समय विशेषके लिए सभी उपभोक्ताओं की मागकी तालिकाओं का समुच्चय करें तो हमको सभी उपभोक्ताओं की कुल आमों की मागकी तालिका प्राप्त होसकती है। कल्पना कीजिए, आमोंके बाजारमें पाच उपभोक्ताहैं, जिनकी किसी एक दिनकी मागकी तालिका निम्न प्रकारकी है:

प्रति ग्राम का मूल्य	दैनिक माग					
	क	ख	ग	घ	ङ	कुल
८ आना	०	०	१	०	२	३
७	१	०	२	०	५	८
६	५	०	५	२	८	२०
५	१०	१	१०	५	१५	४१
४	२०	३	१५	१०	२५	७३
३	३०	५	२०	१५	३०	१००
२	३५	१०	२०	२०	३०	११५

अन्तिम कोष्टकमें उपभोक्ताओ की भिन्न भिन्न मूल्योसे सम्बन्धित कुल माग पाचों उपभोक्ताओ की मागोंके योगसे प्राप्त कीगयी है। उदाहरणके लिए यदि आमोका मूल्य ४ आने प्रति आमहो तो कुल माग ७३ होगी और यदि २ आने हो तो कुल माग ११५ होगी। इस कुल मागकी तालिकाको (तथा प्रत्येक उपभोक्ताकी माग की तालिकाको) रेखाचित्र द्वाराभी व्यक्त किया जासकता है।

मांग का नियम

माग की तालिका और रेखाचित्र से मागके विषयमें हमको एक बडी महत्वपूर्ण बात मालूम होती है। वह यहकि जैसे जैसे आमका मूल्य घटता जाता है, वैसे वैसे उसकी माग बढती जाती है और जैसे जैसे मूल्य बढता जाता है, वैसे वैसे माग घटती जाती है। यही बात स्वाभाविकभी मालूम पडती है। यदि किसी वस्तुको अधिक मात्रामें बेचनाहो तो उसके मूल्यको घटाना ही पडेगा; क्योकि अधिक मात्रामें लेनेमे किसीभी उपभोक्ताको कम सीमान्तिक उपयोगिता प्राप्त होती है। अतएव अन्य बातोंके यथावत् रहनेपर उपभोक्ताओ को अधिक मात्रामें खरीदनें के लिए मूल्य घटाकर ही आकृष्ट किया जासकता है। इसी बातको हम दूसरे प्रकारसे भी कह सक्ते है। कोई उपभोक्ता किसी मूल्यपर वस्तु खरीदता है तो
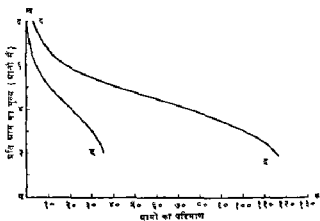
इस रेखाचित्रमें दद रेखा मोहनके मागकी तालिका और द'द' रेखा कुल मागको दर्शाती है।

वह अपनेको उसी मूल्यसे प्राप्त होनेवाली दूसरी वस्तुसे वञ्चित करता है अर्थात् जिस दूसरी वस्तुको वह लेसकता था, उसका उसे त्याग करना पडता है। अब यदि उसको पहिली वस्तु कम मूल्यपर प्राप्त होसके तो दूसरी वस्तुकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक क्रय सिद्ध हो जायेगी। अर्थात् यदि दो वस्तुओंमें प्रतियोगिता हो और उनमेंसे एकके मूल्यमें कमी करदी जाये तो जिस वस्तुका मूल्य कम कर दिया गया है उसकी माग बढ जायेगी और अपेक्षत: अधिक मूल्यवाली वस्तुके स्थानमें भी इसी वस्तुको अधिक मात्रामें लेनेकी प्रवृत्ति होगी क्योंकि मूल्यमें कमी होनेसे अन्य स्थानापन्न वस्तुओंका स्थानभी कुछ अंश तक वही वस्तु ग्रहण करने लगेगी। अतएव इसकी मागमें वृद्धि अवश्य हो जायेगी।

चाहे हम इस विषयको घटती हुई सीमान्तिक उपयोगिताके दृष्टिकोणसे देखें अथवा स्थानापन्न वस्तुओंके परिमाणमें अन्तरके दृष्टिकोणसे देखें, किसी वस्तुकी माग अधिक मूल्यपर कम और कम मूल्यपर अधिक रहेगी। इसीको माग का नियम भी कहते है। यह स्थिति रेखाचित्रमें दाहिनी ओर गिरती हुई मागकी रेखासे व्यक्त होती है।

माग मे परिवर्तन

मागके नियमके अनुसार अन्य बातें यथावत् रहनेपर भी मूल्यमें कमी होनेसे किसी वस्तुकी मागमें वृद्धि और मूल्यमें वृद्धि होनेपर मागमें कमी होजाती है। यह प्रवृत्ति किसीभी मागकी तालिका अथवा मागकी रेखामें देखीजा सकती है। परन्तु मूल्यमें कमी अथवा वृद्धि न होने परभी किसी वस्तुकी मागमें कमी अथवा वृद्धि हो सकती है। मागमें इसप्रकार होनेवाली कमी अथवा वृद्धिको 'मागमें परिवर्तन' के नामसे पुकारते है। परिवर्तनकी परिभाषा इसप्रकार है। यदि किन्ही दियेगये मूल्योंपर उपभोक्ता पहिलेसे कम अथवा अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदें तो हम कहतेहैं कि उस वस्तुकी मागमें परिवर्तन होगया है। यदि दियेगये मूल्यो पर उपभोक्ता पहिलेसे अधिक परिमाणमें उस वस्तुको खरीदें तो हम कहेंगे किमाग का प्रसार हुआ और यदि कम मात्रामें खरीदें तो हम कहेंगे कि मागमें सकुचन हुआ। नीचे दीहुई तालिकामें मागके परिवर्तनको दिखाया गया है.

आमोका मूल्य (आना)	पहिलेकी माग	इकाई की माग	
		क	ख
८ प्रति आम	३	५	०
७ ,, ,,	८	१२	२
६ ,, ,,	२०	३०	१०
५ ,, ,,	४१	६०	२५
४ ,, ,,	७३	९०	४५
३ ,, ,,	१००	१२०	६०
२ ,, ,,	११५	१४०	८५

नयी मागका कोष्टक (क) मागमें प्रसार और कोष्टक (ख) मागमें सकुचन सूचित करता है। इस तालिकाको रेखाचित्रमें पृष्ठ पर दिखाया गया है:
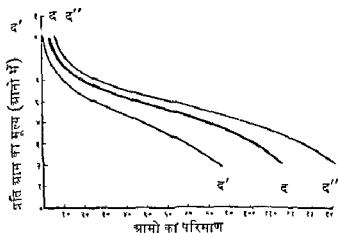
पिछली मागको द द रेखासे दिखलाया गया है। द' द' रेखासे मागमें सकुचन और द'' द'' रेखासे मागमें प्रसार दिखलाया गया है।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि मागमें परिवर्तन होनेपर मागकी तालिका और रेखाचित्र बदल जाते हैं। मागमें परिवर्तन होनेका कारण यहहै कि अन्य सब बातें पूर्ववत् नही रहती हैं। घट बढ होनेसे भिन्न भिन्न वस्तुओं सम्बन्धी अभिरुचि में परिवर्तन होनेसे अथवा अन्य वस्तुओंके कम या अधिक मात्रा और मूल्यमें प्राप्त होनेके कारणभी किसी वस्तुकी मागमें परिवर्तन होसकता है। साधारणत. आय की वृद्धिसे किसी वस्तुकी कुल मागमें प्रसार और आयकी कमीसे मागमें सकुचन होजाता हैं। यदि किसी कारणसे लोग आमोंको पहिलेसे अधिक पसन्द करने लगें तो भी मागका प्रसार होगा और यदि कम पसन्द करें तो माग सकुचित हो जायेगी। इसी प्रकार यदि किसी वस्तुकी प्रतिरूप वस्तुओंकी सख्यामें वृद्धि होजाये अथवा किसी प्रतियोगिता वाली वस्तुका मूल्य कम करदियां जाये तो पहिली वस्तुकी मागमें सकुचन हो जायेगा। इसके प्रतिकूल यदि प्रतिरूप वस्तुओंकी सख्या कम होजाय अथवा किसी प्रतियोगिता करनेवाली वस्तुका मूल्य बढजाये तो पहिली वस्तुकी मागमें प्रसार होगा। उदाहरणके लिए यदि कोई नया फल बाजारमें बिकने लगे तो कुछ लोग आमोंकी कमी करके इस नये फलको लेने लगेंगे। अतएव आमकी मागकी रेखा बायीं ओर नीचेको होजायेगी। और यदि सेब, सन्तरा इत्यादि फलोंके मूल्यमें

वृद्धि होजाये तो कुछ लोग इनके बदले आम लेने लगेंगे और आमकी मागमें प्रसार होजायेगा।

माग की लोच

अभी हम देख चुके है कि मूल्यमें परिवर्तन होनेसे किसी वस्तु की मागके परिमाणमें भी परिवर्तन होजाता है। परन्तु सभी वस्तुओंके मूल्यमें कुछ घट-बढ हो जानेका प्रभाव सभी मनुष्यो पर एकसा नही पडता। कुछ वस्तुए ऐसी होती है जिनके मूल्यमें थोडासा अन्तर होजाने पर उनकी मागमें विशेष परिवर्तन नही होताहै जैसे नमक। परन्तु यह बात चीनीके लिए नही कह सकते है। यदि चीनीका मूल्य १ रुपया प्रति सेर से घटकर १४ आने प्रति सेर होजाये तो उसकी मागमें अवश्य ही वृद्धि होगी और १ रुपया २ आने प्रति सेर होनेपर माग घट जायेगी। हा यहबात अवश्यहै कि कुछ धनीलोग जिनकी १ रुपयके भावपर चीनीकी आवश्यकता पूर्णरूप से तृप्त होजाती है, वह १४ आने सेरके हिसाबसे भी उतनी ही मात्रामें चीनी खरीदेंगे और १ रुपया २ आने प्रति सेरपर भी उतनीही मात्रामें खरीदेंगे। यदि चीनी २ आने प्रति सेरके हिसाबसे बिकने लगे तो प्राय: सभीलोग इस भावपर चीनीको पर्याप्त परिमाणमें खरीद लेंगे और डेढ आने प्रति सेरपर मागमें विशेष वृद्धि न होगी। किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेसे जो मागके परिमाणमें परिवर्तन होजाता है उसको मागकी लोच कहते है। अर्थात् मागकी लोच मूल्य-परिवर्तनसे प्रभावित होकर मागमें पडनेवाले अन्तरकी माप है। यदि मूल्यके परिवर्तनसे मागमें कुछभी अन्तर न हो तो उसको बेलोच माग कहेंगे। शायदही ऐसी कोई वस्तुहो जिसकी समुदायिक माग बेलोच हो। वास्तवमें भिन्न भिन्न वस्तुओंकी माग कम या अधिक लोचदार होती है। इसको जाननेकी एक सुगम रीति यहहै कि किसी वस्तुके मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण उस वस्तुमें कियेगये व्यय में परिवर्तनको मालूम किया जाय। मान लीजिये आमके मूल्यमें कुछ वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरूप उसकी मागकी मात्रामें इतनीही कमी हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय पूर्ववत्ही रहा अथवा आमके मूल्यमें कुछ कमी होनेपर उसकी मागमें इतनीही वृद्धि हुई कि उसपर कियागया कुल व्यय उतनाही रहा

तो ऐसी अवस्थामें हम कहतेहैं कि इन दो मूल्य-स्तरोंके अन्तर्गत मांगकी लोच एक इकाई है। परन्तु यदि मूल्य घटनेसे कुल व्यय बढजाये और मूल्य बढनेसे कुल व्यय घटजाये तो हम कह सकतेहैं कि मांगकी लोच एक इकाईसे अधिक है। इसके प्रतिकूल यदि मूल्यके घटनेसे कुल व्यय घटजाये और मूल्यके बढनेसे कुल व्यय बढजाये तो हम कह सकतेहैं कि मांगकी लोच एक इकाईसे कम है। इस बातको नीचे दीहुई तालिकामें दिखाया गया है :

मूल्य आना	मांग	कुल व्यय आने	लोचकी मात्रा
८	३००	२४००	इकाईसे अधिक
७	४००	२८००	,, ,,
६	५००	३०००	इकाई
५	६००	३०००	,,
४	७००	२८००	इकाईसे कम
३	८००	२४००	,, ,,
२	९००	१८००	,, ,,
१	१०००	१०००	,, ,,

मांगकी लोचको नापनेकी इस साधारण विधिको रेखाचित्र द्वाराभी दिखाया जासक्ता है:
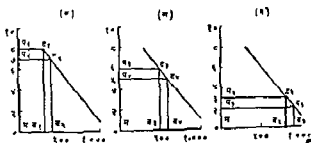
रखाचित्र (क) में द१ और द २ मूल्योके अन्तर्गत मागकी लीच इकाईसे अधिक है क्योकि 'म' प २' 'द२, ब२' का क्षेत्रफल (कुल मूल्य) 'म, प१' 'द१, ब१' से अधिक है। चित्र (ख) मे 'द ३' और 'द ४' के अन्तर्गत मागकी लोच इकाई है क्योकि 'म, प ३' 'द ३ ब ३' और 'म प ४' 'प ४, ब ४' का क्षेत्रफल बराबर है और रेखा चित्र (ग) में 'द ५' और 'द ६' मूल्योके अतर्गत मागकी लोच इकाईसे कम हैं क्योकि 'म, प ६' 'द ६, ब ६' का क्षेत्रफल 'म, प ५' 'द ५, ब ५' से कम है। इन तीनो रखाचित्रो में मागकी रेखाए एकसी है परन्तु मागकी रखाओके एक सी होनेका तात्पय यह न समझना चाहिय कि मागकी लोच भी एकसी ही है; भिन्न भिन्न मूल्योपर लोच भिन्न भिन्न हैं। अतएव हमको बिना विश्लेषणके नही कहना चाहिए कि किसी वस्तुकी माग कम या अधिक लोचवाली है, जबतक कि सारी रखाकी एक सी लोच न हो। चूकि लोच भिन्न भिन्न मूल्योपर भिन्न भिन्न होसकती है इस कारण मागकी लोचका विवेचन करते समय हमको किसी मूल्य-विशेषपर लोचके सम्बन्धमें बताना चाहिए।

एक और प्रकारसे मागकी लोच अको द्वारा प्रकटकी जासकती हैं। यदि किसी वस्तुके मूल्यमें कमी होनेके कारण माग उसी अनुपातमें बढे तो हम कहेंगे कि लोच एक इकाई है। यदि माग अधिक अनुपातमें बढे तो लोच एकसे अधिकहै और यदि माग कम अनुपातमें बढे तो लोच एकसे कम समझी जायेगी। यदि माग बिल्कुल ही न बढे तो लोच शून्य समझी जायेगी। इस सम्बन्धको निम्नलिखित समीकरण के रूपमें लिख सकते है .

$$\text{लोच} = \frac{\text{मागमें प्रतिशत वृद्धि}}{\text{मूल्यमें प्रतिशत कमी}}$$

उदाहरणके लिये यदि आमके मूल्यमें १० प्रतिशत कमी होनेपर उसकी मागके परिमाणमें १० प्रतिशत वृद्धिहो तो लोच एक इकाई, १५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे अधिक और ५ प्रतिशत वृद्धि होनेपर इकाईसे कम और पूर्ववत् रहनेपर शून्य होगी।

गणितकी ओर जिनकी प्रवृत्ति हो, ऐसे पाठकोंके लिए मागकी लोचको रेखा-चित्र द्वारा दिखलाया और मापा जा सकता है।
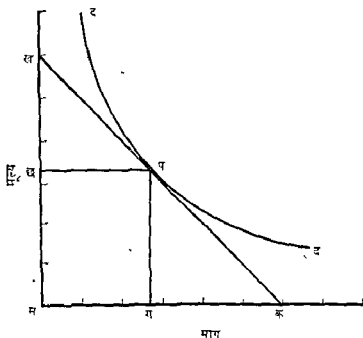
इस चित्रमें 'म, क' रेखा द्वारा मूल्य और 'म, ख' रेखा द्वारा मागका परिमाण दिखाया गया है। 'द, द' किसी वस्तुकी मागकी रेखा है। 'प' इस रेखापर एक बिन्दु है जो यह दिखलाता है कि 'म,छ' मूल्यपर 'म ग' माग है। 'क ख' रेखा 'प' बिन्दु पर स्पर्श-रेखा है। मागकी लोच 'प' बिन्दुपर 'प क': 'प ख' अनुपात द्वारा प्रकट कीजाती है। यदि 'प ख' = (२ × प क) तो मागकी लोच २ हुई, अर्थात् यदि मूल्यमें एक प्रतिशत कमीहो तो मागके परिमाणमें २ प्रतिशत वृद्धि होगी। इसी सम्बन्धको 'ग क': 'ग म' अथवा 'म छ': 'ख क' अनुपात द्वाराभी प्रकट कर सकते हैं।

माग की लोच मे भिन्नता

किसीभी वस्तुकी माग-लोच सभी मनुष्यो अथवा सभी मूल्योपर समान नही

होसकती है। फिरभी साधारणतः हम कह सकतेहै कि आवश्यकताकी वस्तुओंकी माग कम लोचदार होतीहै और विलासिताकी वस्तुओंकी माग अधिक लोचदार होती है। इसीप्रकार हम कह सकतेहै कि साधारणतः किसी वस्तुके ऊचे मूल्य-स्तरों पर माग अधिक लोचदार होती है और जैसे जैसे मूल्य गिरता जाता है, लोच भी कम होती जाती है। यहा तक कि बहुत कम मूल्य-स्तर पर लोच शून्य होसकती है। उदाहरणके लिए घडीकी मागसे गेहूकी माग कम लोचदार होगी और घडीकी मागमें भी ऊचे मूल्यपर अधिक लोच और बहुत कम मूल्यपर कम लोचकी सम्भावना होगी। इस प्रकारके साधारण सम्बन्धोंमें कठिनाई यह होतीहै कि कोई वस्तु एक मनुष्यके लिये आवश्यकताकी और दूसरेके लिए विलासिताकी वस्तु समझी जा सकती है। उदाहरणके लिए विश्वविद्यालयका छात्र फाउन्टेनपेन को आवश्यक वस्तु समझे परन्तु एक मजदूरके लिए तो वह विलासिताकी वस्तु ही समझी जायेगी। इसी प्रकार धनी व्यक्तिके लिए दो रुपये सेरके हिसाबसे चीनीका मूल्य भले ही ऊचा न हो परन्तु एक मध्यम श्रेणीके व्यक्तिके लिए तो यह मूल्य ऊचाही होगा।

मागकी लोचमें भिन्नता होनेके कुछ प्रमुख कारण नीचे दिये जाते है :

(१) यदि किसी वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुए प्रचुरतासे प्राप्त हो और वह उस वस्तुका स्थान सुगमताके साथ ग्रहण कर सकें तो उस वस्तुकी माग अधिक लोचदार होगी। इसका कारण यहहै कि यदि उस वस्तुके मूल्यमें कमी होजाये तो लोग अन्य स्थानापन्न वस्तुओंके बदले इस वस्तुको अधिक मात्रामें लेने लगेंगे और यदि उसके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो इसको छोडकर अन्य स्थानापन्न वस्तुओंको लेंगे जिससे इसकी मागमें अधिक कमी होजायेगी।

यदि किसी वस्तुकी कोई योग्य स्थानापन्न वस्तु न हो अथवा स्थानापन्न वस्तुओं की सख्यामें कमी होजाये तो उस वस्तुकी माग कम लोचदार हो जायेगी; क्योंकि वस्तुओंके चुनावका क्षेत्र इस प्रकार सकुचित होजाता है। उदाहरणके लिए बाजारमें अनेक प्रकारकी चाय बिकती है। यदि एक प्रकारकी चायके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो अनेक लोग दूसरे प्रकारकी चाय खरीदने लगेंगे। अतएव पहिली चाय की मागमें बहुत कमीकी सम्भावना रहेगी। परन्तु यदि एकही प्रकारकी चाय होती तो चायके उपभोक्ताओंको यह सुविधा प्राप्त न होती और मूल्य बढनेपर भी उनको यही चाय खरीदनी पडती अर्थात चायकी माग कम लोचदार होती।

(२) यदि किसी वस्तुका उपयोग अनेक कार्योंमें होसकता हो तो उसकी माग अधिक लोचदार होगी क्योकि मूल्यके गिर जानेसे उस वस्तुका उपयोग उन कार्यों में भी होने लगेगा जिनमें ऊचे मूल्यपर नही किया जाता था और मूल्यके बढजाने पर उस वस्तुका उपयोग अधिक आवश्यक कार्यो तकही सीमित रहेगा।

(३) यदि किसी वस्तुके मूल्य बहुत ऊचे स्तरसे गिरकर नीचे स्तरपर आजायँ तो न केवल ऊचे मूल्यपर खरीदनेवाले उपभोक्ता उस वस्तुको अधिक मात्रामें खरीदने लगेंगे वरन् निम्न आयवाले उपभोक्ताभी उसकी ओर अधिक सख्यामें आकर्षित होने लगेंगे। निम्न आयवाले उपभोक्ता अधिक सख्यामें पाये जाते हैं अतएव ऐसा होनेपर मागमें अधिक वृद्धि होजाती हैं। ऐसी अवस्थामें माग अधिक लोचदार होजाती है। परन्तु यदि किसी वस्तुका मूल्य आरम्भसे ही इतने नीचे स्तर पर हो कि न्यूनतम आयवाले उपभोक्ताभी उस मूल्यपर पर्याप्त मात्रामें उस वस्तुको खरीद लेतेहै तो ऐसी अवस्थामें मूल्य घटनेपर मागमें बहुत कम वृद्धि होगी। अर्थात् मागमें बहुत कम लोच रहेगी।

(४) यदि कुल व्ययकी तुलनामें किसी एक वस्तु पर नगण्य व्यय होता है तो उस वस्तु की मागमें कम लोच रहती है। उदाहरणके लिए किसी परिवारमें महीनेमें भोजनके पदार्थोमें जितना व्यय होताहै उसकी तुलनामें नमक पर नगण्य ही व्यय होता हैं। अतएव यदि नमकके मूल्यमें वृद्धि होजाये तो भी उसकी मागमें अधिक कमी नही होगी। परन्तु यदि कुल व्ययका एक बडा भाग किसी एकही वस्तुके ऊपर होताहो तो ऐसी वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होनेसे उसकी मागके परिमाणको अधिक घटानेका प्रवृत्ति होगी।

यदि दो वस्तुओंकी माग सम्मिलित हो तो जिस वस्तुपर कम व्यय होताहै, उस की मागमें कम लोच होती है। उदाहरणके लिए धूम्रपानके लिए सिगरेट और दियासलाईकी सम्मिलित माग रहतीहै और धूम्रपानके कुल व्ययमें दियासलाई पर किया गया व्यय बहुत कम रहता है। अतएव दियासलाईके मूल्यमें वृद्धि होने के कारण धूम्रपानमें अधिक प्रभाव नही पडेगा और दियासलाईकी मागमें भी अधिक कमी नही होगी।

(५) जो वस्तुए टिकाऊ होतीहै और जो मरम्मत होनेपर कामके योग्य बन सकतीहै उनकी मागमें अधिक लोच होती है। उदाहरणके लिए यदि जूतोंके

मूल्यमें वृद्धि होजाये तो हम कुछ समय तक मरम्मत करवा कर पुराने जूतोसे काम चला सकते है। नये जूतोके मूल्यकी तुलनामें मरम्मतमें बहुत कम पैसा लगता है।

इसप्रकार हम देखते है कि किसी वस्तुकी मागकी लोचका विषय पेचीदा है। इसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए कई बातोको साथ साथ ध्यानमें रखना पडता है।

माग की लोच का महत्व

मागकी लोचका ज्ञान अनेक व्यावहारिक कार्योमें आवश्यक होता है। किसी भी उत्पादक अथवा विक्रेताको केवल इतनाही जान लेना पर्याप्त नही होता कि वह चालू मूल्यपर किसी वस्तुको किस परिमाणमें बेच सकता है। वह यहभी जानना चाहेगा कि यदि वह किसी वस्तुका मूल्य कम करे तो उसकी बिक्रीमें कितनी वृद्धि होगी। यदि मूल्यमें कमी करनेसे माग बहुत बढ जातीहै तो सम्भवत' मूल्य घटानेसे प्रति अदद जो क्षति उसको होतीहै, उससे अधिक लाभ उसको बिक्रीमें वृद्धिसे होसकता है। परन्तु यदि माग बहुत कम बढे तो उसको हानि होनेकी सम्भावना है। साधारणत. जिन वस्तुओमें बहुत कम लोच रहतीहै उनका मूल्य अधिक रहनेपर विक्रेताको अधिक लाभ होनेकी सम्भावना रहती है। प्रत्येक विक्रेता को, चाहे वह वस्तुओंको बेचे अथवा अपना श्रम बेचे, यह बात ध्यानमें रखनी पडतीहै कि प्रत्यक अवस्थामें मूल्य अधिक रखनेसे ही अधिक आय नही होती है। एकाधिकारीको अपना मूल्य और उत्पत्तिकी मात्राका निर्धारण करनेमें विशेष रूप से मागकी लोचको ध्यानमें रखना पडता है, जैसाकि एकाधिकारी मूल्यके प्रकरण में बताया जायेगा।

राज्यको भी अपनी कर-नीतिके सम्बन्धमें मागकी लोचको ध्यानमें रखना पडता है। यदि किसी वस्तुपर राज्यको अपनी आय बढानेके लिये कर लगाना आवश्यकहो तो वह ऐसी वस्तुओ पर कर लगाताहै जिनकी मागमें कम लोच हो। यदि अधिक लोचवाली वस्तुओ पर कर लगाया जाये तो करके कारण मूल्यमें वृद्धि होने पर उनकी माग बहुत घट जायेगी और राज्यको अधिक आय नही होगी।

उपभोक्ता की बचत

कुछ समय पूर्व अर्थशास्त्र की पुस्तकोमें 'उपभोक्ताकी बचत' के विषयको बहुत

बड़ा महत्व दिया जाता था। क्रमागत उपयोगिता-ह्रास नियम और मांगकी तालिका पर इसको आधारित किया गया है। किसी भी उपभोक्ताको किसी भी वस्तुकी प्रारम्भिक इकाइयोंमें अधिक तृप्ति तथा क्रमागत बढ़ती हुई इकाइयोंसे कम तृप्ति मिलती है। अतः वह प्रारम्भिक इकाइयोंके लिये अधिक मूल्य देनेको तत्पर होगा और बढ़तीहुई इकाइयों पर कम मूल्य लगायेगा क्योंकि उसकी आवश्यकताकी उग्रता कम होती जाती है। उदाहरणके लिए मान लीजिए एक रुमालके लिए कोई मनुष्य एक रुपया तक देनेको तैयार है, दूसरे रूमालके लिए बारह आना और तीसरेके लिए आठ आना क्योंकि एक रुमालसे वह एक रुपयेके बराबर तृप्ति की, दो रूमाल खरीदनेपर बारह आनेके बराबर तृप्तिमें वृद्धिकी अर्थात् १ रुपया १२ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी और तीन रूमाल खरीदने पर आठ आनेके बराबर तृप्ति में वृद्धिकी अर्थात् २ रुपये ४ आनेके बराबर कुल तृप्तिकी आशा करता है। यदि बाजारमें प्रति रुमालका मूल्य आठ आना हो तो वह तीन रूमाल खरीदेगा, जिनका मूल्य डेढ़ रुपया हुआ। परन्तु उसको कुल तृप्ति सवादो रुपयेके बराबर हुई क्योंकि वह तीन रूमालोंके लिए सवा दोरुपये तक देनेको तत्पर था। अतएव उसको (सवा दो-डेढ़) अर्थात् १२ आनेकी बचत हुई। इस उदाहरणको रेखाचित्र द्वाराभी दिखाया जासकता है।

इस रेखाचित्रमें उपभोक्ता एक रूमालके लिये १ रुपया तक मूल्य देनेको तत्पर है। उपयोगिताके रुपमें हम कह सकतेहैं कि वह एक रूमालसे 'म प' 'क य' उपयोगिता प्राप्त करनेकी आशा करता है। दूसरे रूमालसे १२ आने अथवा 'प फ' 'ख क' उपयोगिता और तीसरेसे ८ आने अथवा 'फ ब' 'ग ख' उपयोगिताकी आशा करता है। तीन रूमालों पर ८ आना प्रति रुमालकी दर अर्थात् 'म ल' मूल्य पर कुल व्यय डेढ़ रुपया अर्थात् 'म ब' 'ग ल' हुआ। उपयोगिताके शब्दोंमें उसको डेढ़ रुपया देनेसे अपनेको 'म ब ग ल' के बराबर उपयोगितासे वंचित करना पड़ा। परन्तु उसको तीन रूमालोंसे १ रुपया + १२ आने + ८ आने = सवा दो रुपया अथवा 'म ब ग क य' क्षेत्रफलके बराबर उपयोगिता प्राप्त हुई। अतएव सवा दो रुपया − डेढ़ रुपया = १२ आने अथवा 'म ब ग क य' − 'म ब ग ल' = 'य क ग ल' क्षेत्रफलके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई।
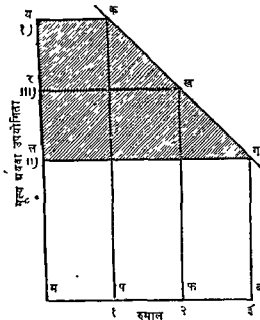
उपभोक्ताकी बचतको सख्याके रूपमें अथवा क्षेत्रफलके रूपमें प्रकट करनेमें कोई वास्तविकता नही है। हम जानतेहैं कि उपयोगिताकी सख्यामें माप नही हो सकती हैं। यह कहना कि उपयोगिता कम या अधिक है; एक बातहै और यह कहना कि उपयोगिता १०० है अथवा ८० है दूसरी बात है। इसी प्रकार उपयोगिताके आधारपर यह कहना कि वस्तुकी पहिली प्रतिके लिए कोई मनुष्य १० रुपये देनेको तत्पर है, दूसरीके लिए ६ रुपये इत्यादि औरभी भ्रम-मूलक हैं। समाजमें भिन्न भिन्न परिस्थिति, रुचि और आयके लोग रहते है, जिनके सम्बन्धमें किसीभी वस्तुकी भिन्न भिन्न प्रतियोकी उपयोगिताकी सख्यामें अथवा मूल्यके रूप में प्रकट करना असम्भव कार्य है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तुके लिए कोई मनुष्य कितना द्रव्य देनेको तत्पर है, यह उस वस्तुकी स्थानापन्न वस्तुओकी उपस्थिति और उनके मूल्य परभी निर्भर रहता है। यदि भूखके निवारणके लिए केवल रोटीही एक वस्तुहो तो एक भूखा मनुष्य एक रोटीके लिए सब कुछ देनेके लिए तत्पर होसकता है। परन्तु पेट भरनेके लिए अन्य वस्तुओकी उपस्थिति में

उसकी यह भावना नही होगी। एक भूखा धनी मनुष्य एक रोटी के लिए १००० रुपये तक देनको तत्पर होसकताहै परन्तु यदि रोटी १ आने को मिलती हो तो इस कथनको कि रोटीसे उसको ९९९ रुपये १५ आनेके बराबर उपभोक्ता की बचत हुई, व्यवहारिक ज्ञान माननेको हम तैयार नही होसक्ते हैं। इस प्रसगमें हम यहभी बतला देना चाहतेहैं कि हम मागकी रेखाको उन मूल्योंके सम्बन्धमें नही बना सकतेहैं जो व्यवहारमें कभी रहती नही। अर्थात् यदि रोटीका मूल्य १००० रुपये प्रति रोटीहो तो कितनी माग होगी, यह अकोमें वतलाना असम्बद्ध बात है। जो चलने मूल्यहै उन्ही के सम्बन्धमें मागका परिमाण वतलाया जासकता है। इसीप्रकार एक भूखे आदमीको पहिली रोटीसे बेहिसाब उपयोगिता मिलती है। अतएव किसी वस्तुको मोल लेनसे प्राप्त उपभोक्ताकी बचतको निर्धारित करना असम्भव होजाता है।

४

तटस्थ रेखाएं

उपयोगिता का दोष

उपयोगिताका उपयुक्त माप न होनेके कारण तटस्थ रेखाम्रो द्वारा माग और माग के नियमोका अध्ययन किया जाने लगा है। इन रेखाओंके जन्मदाता तो एजवर्थ थे परन्तु अर्थशास्त्रमें इनका प्रयोग पैरेटो और हिक्सने किया है।

एजवर्थ ने इन रेखाओकी परिभाषा इस प्रकारकी है; तटस्थ रेखा वह पथहै 'जिसपर-चलनेसे एक वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको किसीभी प्रकार और किसी भी मात्रामें प्रयोगमें लानेसे व्यक्ति विशेषको प्रत्येक स्थितिमें समान ही तृप्ति प्राप्त होती है। तटस्थ रेखा बनानेके लिए हमें तटस्थ तालिकाकी आवश्यकता पडती है। वह इसप्रकार बनायी जासकती है। मान लीजिए मेरे पास १०० आम और आपके पास कुछ केले है। आप मुझे अपने भन्डारमें से केले उठानेकी आज्ञा देते है, किन्तु एक प्रतिबन्ध लगाकर। आपके भन्डारसे मैं केले तभी ले सकूगा जब उन्हें अपनेलिए उपयोगी समझूगा। आपका प्रतिबन्ध केवल इतना है; 'केले चाहे जितने उठालो परन्तु उनके समान उपयोगिता जितने आमोंसे तुम्हें मिलती है, उतने आम मेरे भन्डार में रख दो।' मानलिया कि पहिला केला उठाकर मैंने २० आम रख दिये। दूसरा उठाकर १६, तीसरा उठाकर १०, फिर दो उठाकर १२ इत्यादि। स्पष्टहै कि इस प्रकारके जितनेभी विनिमय होंगे उनके बाद प्रत्येकबार मेरेपास जितनेभी आम और केलोके समूह होंगे, उनसे कुल मिलाकर मुझे समान ही तृप्ति प्राप्त होती रहगी क्योकि आमोंके रूपमें हम प्रत्येकबार जितनी उपयोगिता देते है, केलोंके रूपमें ठीक उतनीही हमें मिलजाती है। पृष्ठपर एक तटस्थ तालिका दीगयी है:

१०० ग्राम	+	० केले
८० ,,	+	१ ,,
६४ ,,	+	२ ,,
५४ ,,	+	३ ,,
४२ ,,	+	५ ,,
३३ ,,	+	८ ,,
२१ ,,	+	१४ ,,
१६ ,,	+	१८ ,,
१२ ,,	+	२९ ,,
६ ,,	+	४४ ,,
२ ,,	+	५२ ,,
१ ,,	+	६० ,,

हर पङ्क्तिमें दियेगये ग्रामों और केलोंके समूहसे हमें एकही जैसी तृप्ति प्राप्त होती है। इन समूहोंको हम अपने ज्यामितिज्ञान द्वारा रेखाङ्कित कागज़पर इस प्रकार प्रदर्शित करसकते हैं :
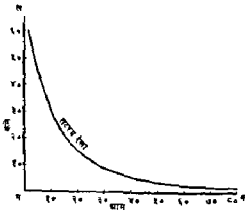
इस रेखाचित्रमें 'म, क' और 'म ख' प्रधान रेखायें हैं जोकि एक दूसरे पर 'म' बिन्दुपर समकोण बनाती हैं। 'म' बिन्दुको आरम्भ स्थान कहते हैं। और 'म, क' रेखापर ग्राम दिखाये गयेहैं और 'म, ख' रेखापर केले।

तटस्थ रेखा का आकार

इसप्रकार ऊपर दिखायेगये प्रत्येक समूहके लिए हमें एक बिन्दु प्राप्त होगा। इन सब बिन्दुओ से होकर जानेवाली बक्ररेखा का नाम तटस्थरेखा है। आरम्भमें १०० आमोंके हमारे पास होनेसे हमें एक तटस्थरेखा प्राप्त होती है। यदि आरम्भ में हमारेपास १०० आम न होकर ८० आमही होते तो दूसरी तटस्थरेखा बनती जो पहिली रेखाके बायीओर नीचे होती तथा १२० आम होनेसे तीसरी और पहिली से ऊची। इस प्रकार बहुतसी रेखाओंके समूहसे हमें एक तटस्थ रेखाचित्र प्राप्त होता है। उसका आकार प्रकार निम्नांकित होगा :
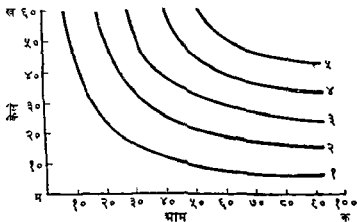
ये रेखाए आरम्भ स्थान 'म' की ओर उभरीहुई रहती हैं। ऊची और दायी ओरकी रेखाए उन समूहोंकी द्योतक है जिनकी उपयोगिता नीची और बायी ओर की रेखाओं द्वारा द्योतक समूहोंसे अधिक है।

नीची रेखासे चाहे हम दायी ओर बढ़ें, चाहे ऊपरकी ओर, हम एक ऊची रेखापर पहुच जायेंगे, इसका अर्थ यहहुआ कि एकवस्तु तो हमारेपास वैसीकी वैसी रहे, परन्तु दूसरी हमें और मिलजाये तो हमें अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। उदाहरणके लिए ऊपर दीगयी तालिकाके अनुसार ३३ आम और ८ केलोंके समूह के स्थानपर यदि ३३ आम और १० केलेहो तो इस समूहसे हमें पहिले समूहकी

अपेक्षा अधिक तृप्ति प्राप्त होगी। इन रेखाओंका समानान्तर होना आवश्यक नही है।

पैरटो का विचारथा कि उपयोगिताको काममें लायेबिना तटस्थ रेखाओको सहायतासे मागका पूरा सिद्धान्त खडाकिया जासकता है परन्तु आर्थिक सिद्धान्तकी व्याख्या करते समय वह स्वय उपयोगिताको मापी जासकने वाली वस्तु ही मानता रहा। हिक्सने पैरेटोके इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न किया है।

स्थानापन्नता की दर

इतनातो कहनेमें आपत्ति नही कि उपभोक्ता वस्तुओंके एक समूहको दूसरे समूहसे वाछनीय समझता है। कितना वाछनीय समझता है, इससे हमारा प्रयोजन नही। इस सिद्धान्तके लिए इतनाही कहना पर्याप्तहै कि वह अधिक वाछनीय समझना है। वस्तुओके समूहकी सीमान्त इकाई वह होतीहै जिसकी प्राप्ति या हानिपर विचार किया जारहा हो। जब किसी समूहसे एक वस्तुकी इकाइया निकालकर दूसरी वस्तुकी इकाइयोंको रखा जारहा होताहै तबहम पहिली वस्तुके स्थानपर दूसरी वस्तुको स्थानापन्न करना चाहते है। स्थानापन्नताकी दरसे हमारा तात्पर्य पहिली वस्तुकी उतनी इकाइयोंसे है जिनके स्थानपर दूसरी वस्तुकी एक इकाईको स्थानापन्न कियाजाता है। हमारी तटस्थ तालिकामें हमारेपास ८० आम और १ केला था। उसके उपरान्त हमें १६ आम देकर १ केला मिला। सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १६–१ हुई तदनन्तर हमें १० आम देकर १ केला मिला तब सीमान्त आमोके स्थानापन्नताकी दर १०–१ हुई। फिर दो स्थानमें १२ केले मिले अतएव सीमान्त स्थानापन्नताकी दर ६–१ हुई। इसके बाद ३–१ इत्यादि।

इस दरका एकगुण यहहै कि यह ठीक उसीप्रकार घटती जातीहै जैसेकि सीमान्त उपयोगिताका क्रमश: ह्रास होता चला जाता है। यदि हम उपयोगिताको भली-प्रकार मापनेमें असमर्थ है तो सीमान्त उपयोगिताको मापनाभी हमारे सामर्थ्य में नही है। परन्तु दो वस्तुओकी सीमान्त उपयोगिताओको पृथक पृथक मापनेमें असमर्थ होने पर भी उनके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापनेका तटस्थ रेखाओंद्वारा एक ढग है।

सीमान्त उपयोगिताओंका अनुपात

मानलीजिए हमारेपास 'क' और 'ख' दो वस्तुओंका एक समूह है और इस समूह से हमें कुछ उपयोगिता मिलरही है। हम 'क' की कुछ इकाइयोंके स्थानपर 'ख' की कुछ इकाइयाँ लेनाभी चाहते हैं परन्तु इसप्रकार कि 'क' की इकाइया देकर हमें उपयोगिताकी जितनी हानिहुई वह सब 'ख' की इकाइयोसे पूरी होजायेगी अर्थात् हमें मिलनेवाली उपयोगितामें इस अदल-बदलके कारण हानि न हो या यो कहलीजिए कि इस अदल-बदलके होने हुएभी हम एकही तटस्थरेखा पर ऊपर नीचे होने रहें। इस लैनदेनमें हमें उपयोगिताका कुल लाभ 'ख' की कुल प्राप्त इकाइया × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता होगी और उपयोगिताकी कुल हानि 'क' की कुल दीगयी इकाई × 'क' की सीमान्त उपयोगिता होगी। यह हानि-लाभ परस्पर बराबर होना चाहिए। इस सम्बन्धको नीचे दिये समीकरण द्वारा दिखाया गया है:

'ख' की प्राप्त इकाइया × 'ख' की सीमान्त उपयोगिता =
'क' की दीहुई इकाइया × 'क' की सीमान्त उपयोगिता

$$\text{अथवा} \quad \frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'ख' की प्राप्त इकाइया}}{\text{'क' की दीगयी इकाइया}}$$

तटस्थ रेखा की स्पर्शरेखा और उसका ढलान

इसप्रकार सीमान्त उपयोगिताओंके पारस्परिक अनुपातको ठीक प्रकारसे मापने का एक ढग हमें प्राप्त होजाता है। इस अनुपातको तटस्थरेखा द्वारा दिखानेका भी एक ढग है। मान लीजिए 'ल' 'व' एक तटस्थ रेखा है। इस रेखापर 'प' कोई बिन्दु ले लीजिए। इस बिन्दुसे मुख्य रेखाओंपर 'प, च' और 'प, घ' दो लम्ब खीचिये। 'प, ल' रेखा इस प्रकार खीचिए कि वह तटस्थ रेखा को 'प' बिन्दु पर केवल स्पर्शही करे, जैसाकि पृष्ठपर के चित्रमें दिखाया गया है:
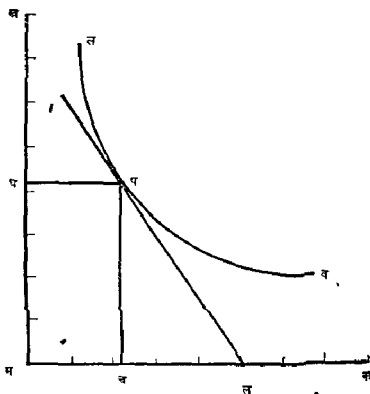
तब जिससमय किसी व्यक्तिके पास 'क' की 'प, घ' अथवा 'म, च' मात्रा और 'ख' की 'प, च' मात्रा हो तो,

$$\frac{\text{'क' की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{'ख' की सीमान्त उपयोगिता}} = \frac{\text{'प, च'}}{\text{'म, च'}}$$

इस अनुपातको 'प ल' रेखाकी ढलान कहाजाता है और यह ढलान ज्यामिति के नियमोंके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है। इससे सिद्धहुआ कि पृथक सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर उन दोनोंके अनुपातको केवल अनुमानसे ही नहीं प्रत्युत् गणित शास्त्रके नियमोंके अनुसार भलीप्रकार मापा जासकता है।

इसप्रकार तटस्थ रेखा, किसी बिन्दुपर उसकी ढलान और सीमान्त स्थानापन्नता की दरकी सहायतासे उपयोगिता, सीमान्त उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता के ह्रास नियमके बिनाही मांगके सिद्धान्त को खडा किया जासकता है।

आय रेखा

मान लीजिए कोई उपभोक्ता अपनी कुल आय केवल दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर व्यय करता है और निम्नलिखित बातोंसे परिचित है :

(१) तटस्थ रेखाचित्र, जो नीचे दिखाया गया है।

(२) कुल आय।

(३) 'क' और 'ख' का बाजार-मूल्य।

इस आयसे वह उपभोक्ता 'क' और 'ख' को किस मात्रामें खरीदेगा हम 'क' और 'ख' की उपयोगिताको जाने बिनाही मालूम करसकते हैं।
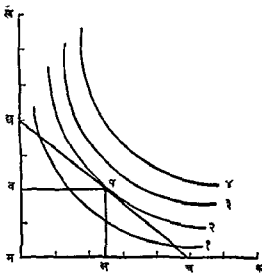
मान लीजिए उपभोक्ता अपनी कुल आयसे केवल 'क' को 'म, च' मात्रा खरीद सकता है और केवल 'ख' की 'म, छ' मात्रा। 'च', 'छ' को मिलानेसे जो रेखा प्राप्त होगी वह चित्रकी किसी एक तटस्थ रेखाको केवल स्पर्श ही करसकेगी। मान लीजिए 'च, छ' रेखा तटस्थ रेखा २ को 'प' पर स्पर्श करती है। 'प' से मुख्य रेखाओंपर 'प, ल' और 'प, व' लम्ब खीचिये। तब अधिकसे अधिक उपयोगिता प्राप्त करनेके लिए वह व्यक्ति 'क' की 'प, व' अथवा 'म, ल' मात्रा और 'ख' की 'प, ल' अथवा 'म, व' मात्रा खरीदेगा। 'च, छ' रेखाको आयरेखा कहा जाता है।

आय-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए, उस व्यक्तिकी आयमें क्रमश: वृद्धि होती जारही है। यदि बाजार भाव वैसेही रहें तो 'प' बिन्दु क्रमश: ऊची तटस्थ रेखाओंपर चला जायेगा। निम्न चित्रमें तटस्थ रेखा २ और ३ पर 'फ' और 'ब' इस प्रकारके बिन्दु है, जिनको मिलाने से 'प,फ,ब' जो रेखा प्राप्त होगी, उसे आय-उपभोग रेखा कहते हैं:
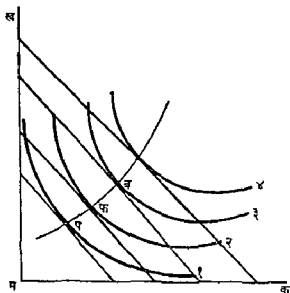
मूल्य-उपभोग रेखा

अब मान लीजिए कि उपभोक्ताकी आय और 'ख' वस्तुके बाजार भावमें कोई अन्तर नही हुआ हैं परन्तु 'क' वस्तुका बाजार भाव गिर गयाहै अब वह अपनी कुल आयमे 'ख' वस्तुकी तो पूर्ववत् मात्रा खरीद सकताहै पर 'क' वस्तुकी पहिले से अधिक। आय रेखाभी पहिलेसे अधिक ऊची तटस्थ रेखाको स्पर्श करेगी और जैसे जैसे 'क' का भाव गिरता जायेगा वैसे वैसे आयरेखा ऊची ऊची तटस्थ रेखाओंको स्पर्श करती चली जायेगी। यही बात सामनेके चित्रमें दिखायी गयी है:
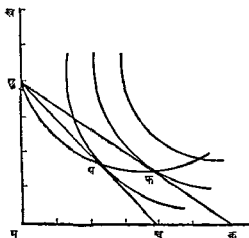
'छ,प,फ' इत्यादिको मिलानेसे प्राप्त होनेवाली रेखाको मूल्य-उपभोग रेखाके नामसे पुकारा जाता है। हमने अबतक केवल दो वस्तुओं 'क' और 'ख' पर विचार किया है। यदि 'क' के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओंके बाजारभाव निश्चित रहें तो 'ख' वस्तु अन्य वस्तुओंका प्रतिनिधित्व कर सकती है और 'ख' का स्थान सामान्य क्रय-शक्ति लेसकती है। तटस्थरेखा तब अन्य सब वस्तुओंके स्थानपर 'क' की स्थानापन्नता दरकी द्योतक होजाती है और मूल्य-उपभोग रेखा 'क' की माग रेखाका रूप धारण करलेती है।

स्थानापन्नता की लोच

तटस्थ रेखाके प्रत्येक बिन्दुपर 'क' और 'ख' वस्तुओंमें एक विशेष अनुपात होता है। जब हम 'क' की थोडी मात्राके स्थानपर 'ख' की थोडी मात्राको स्थानापन्न करते हैं तो इस अनुपातमें परिवर्तन आजाता है और स्थानापन्नताकी दरमें भी। वस्तुओंके पारस्परिक अनुपातमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्राको यदि हम सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें होनेवाले परिवर्तनकी मात्रासे भागदें तो हमें उस विशेष बिन्दुपर 'क' के स्थानपर 'ख' का प्रतिस्थापन करनेकी स्थानापन्नताकी लोच प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नीचे दीगयी तालिकाका पाचवा समूह देखिए। इसमें

४२ ग्राम और पाच केले हैं। केले और ग्रामोंका अनुपात ५:४२ हुआ और सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ३ हुई। अब एक केलेके स्थानपर एक ग्राम लीजिए। इस हिसाबसे नया अनुपात ४: ४३ होजाता है और नयी सीमान्त स्थानापन्नताकी दर १: ११ हुई।

इसप्रकार वस्तुग्रोंके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन

$$= \frac{५}{४२} - \frac{४}{४३} = \frac{४७}{१८०६}$$

सीमान्त स्थानापन्नताकी दरमें परिवर्तन

$$= \frac{१}{३} - \frac{१}{११} = \frac{८}{३३}$$

स्थानापन्नताकी लोच

$$= \frac{४७}{१८०६} - \frac{८}{३३}$$

$$= \frac{४७}{१८०६} \times \frac{३३}{८}$$

$$= \frac{५१७}{४८१६}$$

$$= १ (\text{लगभग})$$

५

बाज़ार

बाजारो के प्रकार

साधारण बोलचालमें बाजारसे हमारा अभिप्राय उस स्थानसे होताहै जिस स्थान पर किसी वस्तु अथवा वस्तुओंके खरीदने तथा बेचनेवाले एकत्रित होतेहैं जैसे फलबाज़ार' सब्जीमंडी इत्यादि। अर्थशास्त्रमें बाज़ार किसी विशेष स्थानको नही कहते बल्कि कूर्मा के अनुसार) पृथ्वीका कोईभी छोटा या बडा भाग जिसपर खरीदने और बेचनेवाले इस प्रकार परस्पर व्यवहार कर सकतेहैं कि एकही प्रकारकी वस्तुओंके मूल्य एकसे ही होते चले जायें, बाज़ार कहा जासकता है। बाज़ारोंका उनके विस्तारके अनुसार वर्गीकरण किया जासकता है, जैसे प्रान्तीय बाजार, राष्ट्रीय बाज़ार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार। बाजारोंमें जिन वस्तुओंका क्रय-विक्रय होता है, उनके अनुसारभी वर्गीकरण किया जासकता है। जैसे गहूका बाज़ार, श्रमका बाज़ार, विदेशी मुद्रा विनिमय बाज़ार, पूजीका बाज़ार, जायदाद का बाज़ार इत्यादि।

बाज़ार शुद्ध अथवा अशुद्धभी होसकते हैं। शुद्ध बाजारसे हमारा अभिप्राय उस बाजारसे है जिसमें:

(१) प्रत्येक ग्राहक और विक्रेता बाज़ार भावसे भलीभाति परिचित होता है।

(२) कोई भी ग्राहक किसीभी विक्रेतासे वस्तु खरीद सकता है।

(३) कोईभी विक्रेता किसीभी ग्राहकको वस्तु बेच सकता है। ऐसी स्थिति में बाज़ारके पूरे विस्तारपर उस वस्तुका एकही मूल्य होनेकी प्रवृति होगी। कारण यहहै कि यदि कोईभी विक्रेता इससे कम मूल्यपर बेचनेके लिए तैयार हो तो सबके सब ग्राहक उसीसे खरीदेंगे, जबतक कि उसका वस्तुसग्रह समाप्त नही होजाता अथवा वह फिर वस्तुका मूल्य नही बढा देता अथवा दूसरे विक्रताभी मूल्य घटाकर उसके तुल्य नही कर देते। इसी प्रकार यदि कोई विक्रेता अधिक

मूल्य लेनेकी चेष्टा करताहै तो उसके पास कोई ग्राहक न आयेगा, जबतक कि दूसरे विक्रेताओंसे वस्तु कम मूल्यपर मिल सकती हो।

बाजारको अशुद्ध उससमय कहा जाताहै जबकि कतिपय ग्राहक या कतिपय विक्रेता या कतिपय ग्राहक तथा कतिपय विक्रेता बाजार भावसे अनभिज्ञ हो।

शुद्ध बाजार के लक्षण

शुद्ध बाजारके लिए आवश्यकहै कि उसमें क्रय-विक्रय किये जानेवाली वस्तुका भलीभांति वर्गीकरण किया जासके ताकि ग्राहकों और विक्रेताओंको सुगमतासे पता चलसके कि वे क्या खरीद अथवा बेचरहे हैं। यदि एकही वस्तुके दो भिन्न भिन्न वर्ग पृथक पृथक मूल्योंपर बिकें तो बाजार अशुद्ध नहीं होजाता वे दो नमूनें वास्तवमें दो भिन्न वस्तुएं हैं। उदाहरणके लिए यदि कैंप्स्टन और गोल्डफ्लेक सिगरेटके मूल्य बाजारमें अलग अलग हो तो इससे परिणाम नही निकालना चाहिए कि सिगरेटका बाजार अशुद्धहै क्योंकि ये दो प्रकारकी सिगरेटें वास्तवमें दो भिन्न वस्तुएं हैं। वर्गीकरण ग्राहक और विक्रेता दोनाके लिए लाभदायक होता है और बाजारको विस्तृत करनेमें सहायता देता है। वर्गीकरण द्वारा भविष्य के देन लनके सौदे करनेमें भी सुगमता प्राप्त होती है। बाजारकी शुद्धताके लिए यातायात और पत्र-व्यवहार इत्यादिके समुचित साधन होनाभी अत्यन्त आवश्यक हैं। इनसे बाजारकी स्थितिका ग्राहका और विक्रेताओको पता चलता रहता है। टेलीफोन, तार, रेडियो आदि आविष्कारोके कारण इन साधनोमें बहुत उन्नति हुई है। और इसी प्रकार मोटर, रेल, जहाज इत्यादि यातायातके साधनोमें उन्नतिके कारण बाजार विस्तृत होगये हैं। विशेषकर कच्चे माल, अनाज इत्यादिके बाजारो का अन्तर्राष्ट्रीय विस्तार होचुका है।

शुद्ध बाजारके लिए यहभी आवश्यक है कि मूल्य प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित हो। अर्थात् वस्तुओंको एक स्थानसे दूसरे स्थानको ले जानेकी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। परन्तु यदि कर लगानेपर भी किसी वस्तुका कर लगानेवाले देश अथवा प्रान्तमें आयात होता रहे, तो वह देश अथवा प्रान्त उस वस्तुके बाजारका भाग बना रहता है। करके कारण ऐसे देश अथवा प्रान्तमें वस्तुका मूल्य अवश्य

अधिक होगा परन्तु यदि किसी कारणसे वस्तु भेजनेवाले देशमें उसका मूल्य गिर जाताहै तो कर लगानेवाले देशमें वह वस्तु अधिक मात्रामें आने लगेगी और इस कारण वहाभी उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा। परन्तु यदि उस वस्तुकी सख्या अथवा परिमाणपर नियन्त्रण लगादिये जायें तो नियन्त्रण लगानेवाला देश अथवा प्रान्त बाजारका भाग नही रहता। वह एक स्वतन्त्र बाजार बन जाताहै क्योकि उस देश अथवा प्रान्तमें वस्तुके मूल्यका शेष ससारमें उसी वस्तुके मूल्यसे कोई सम्बन्ध नही रहता।

शुद्ध बाजारके लिए यहभी आवश्यक समझा जाताहै कि वस्तुकी माग अथवा पूर्तिपर किसीभी प्रकारके नियन्त्रण नही होने चाहिए। परन्तु इसका यह अर्थ नहीहै कि मूल्यके कम या अधिक होनेके कारण विक्रेता अथवा ग्राहक वस्तुको बेचने अथवा खरीदनेके लिए विवश किये जायें। वस्तुका मूल्य घटानेकी इच्छा से मागको दबाये रखना अथवा उसका मूल्य बढानेकी इच्छासे वस्तु को बेचने से इन्कार करना कृत्रिम साधन मानेजाते हैं।

शुद्ध बाजारके प्रत्येक भागमें वस्तुका एकमूल्य होनेसे अभिप्राय केवल वस्तु के वास्तविक मूल्यके एक होनेसे है। बाजारके विस्तृत होनेसे उत्पादनके स्थानसे उपभोगके स्थान तक ले जानेके लिये भाडा देना पडता है। उपभोगके स्थानोंके समीप अथवा दूर होनेके कारण भाडेके न्यूनाधिक होनेसे मूल्यमें अन्तर होसकता है। वस्तुत: स्थान-भेद एव समय-भेदसे वस्तुही दूसरी होजाती है। स्थान-भेद होनेसे हमें उस वस्तुके मूल्यमें भाडा, बीमा, एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जानेवाले आढतियाका लाभ इत्यादि जोडना पडता है और समय-भेद होनेसे सग्रहकर्ताका लाभ, सग्रह करने का व्यय इत्यादि जोडना पडता है।

बाजार का विस्तार

बाजारके विस्तृत एव अन्तर्राष्ट्रीय होनेके लिए यह आवश्यकहै कि उसमें वे सब गुण उपस्थित हो जो एक शुद्ध बाजारमें होने चाहिए। परन्तु इसके अतिरिक्त एसे बाजारके लिए कुछ औरभी बातोकी आवश्यकता है। सबसे पहिले तो यह आवश्यकहै कि उस वस्तुका व्यापार बडे पैमानेपर होता हो। वस्तुकी बनावट और

गुणोमें भेद नही होना चाहिए। कारण यहहै कि ऐसा होनेपर वह वस्तु यद्यपि एकही आवश्यकताको सन्तुष्ट करती हो, परन्तु अपने विभिन्न स्वरूपोके कारण प्रत्येक देश एव प्रान्तमें उसका भिन्न भिन्न बाजार होगा। इसीलिए यदि एकही प्रकारकी वस्तुओमें उत्पादक किसीभी व्यापार-चिन्ह इत्यादि द्वारा उपभोक्ताओ के मनमें अन्तर उत्पन्न करनेमें सफल होजायें, तो आधुनिक अर्थशास्त्री उन्हें भिन्न वस्तुए मानेंगे। उनके अनुसार साबुन एक वस्तु नही है, जितनेभी प्रकारके साबुन बाजारमें मिलते है, वे भिन्न वस्तुए है। यही कारणहै कि कच्चे मालका विस्तार तो अतर्राष्ट्रीय होताहै परन्तु अर्धनिर्मित वस्तुओंके बाजारका विस्तार उनसे कम और पूर्ण निर्मित वस्तुओका उनसेभी कम होता है। इसका कारण यहहै कि विक्रेता कच्चे मालकी अपेक्षा पूर्णनिर्मित अथवा अर्धनिर्मित वस्तुओके सम्बन्धमें ग्राहकोके मनमें विज्ञापन, व्यापार-चातुर्य, व्यापार-चिन्हें इत्यादि प्रकारोसे पृथकत्वका भाव उत्पन्न करनेमें अधिक सफल होते हे।

यदि वस्तुको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर सुगमतासे लेजाया जासकता है तो भी उसका बाजार विस्तृत होता है। भारी बोझवाली और कम मूल्यवाली वस्तुओके बाजार प्राय सकुचित होते हैं। उदाहरणके लिए कोयले और कच्चे लोहेका मूल्य उसकी तोलके हिसाबसे बहुत कम होता है। अतएव उनको दूर ले जानेके भाडेसे बचनेके लिए इनसे सम्बद्ध उद्योग धधोको ही ऐसे स्थानोपर खोलते है, जहा इनकी खानें पायी जाती है। एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जानेकी सुगमता वस्तु विशेष, कितना स्थान घेरती हैं, इस बात पर निर्भर हैं। मेज-कुर्सियो आदिके बाजार प्राय: विस्तृत नही होते क्योकि ये वस्तुए रेलगाडी, जहाज आदि में बहुत जगह घेरती है। और इसकारण भाडा बहुत देना पडता है।

विस्तृत बाजारके लिए वस्तुका चिरस्थायी होनाभी आवश्यक है। फल, फूल, तरकारी इत्यादि वस्तुए बहुत शीघ्र सड-गल जाती हे। अतएव साधारणत: उत्पादनके स्थानके आस-पासही इनका बाजार सीमित रहता है। परन्तु वैज्ञानिक साधनो द्वारा इस प्रकारकी नाशवान वस्तुओको सुरक्षित रखनेके ढग निकाले जा रहे है। फल, मास, मछली, दूध तथा दूधसे प्राप्त होनेवाली अन्य चीजोको इन साधनो द्वारा सुरक्षित करके दूरदूर तक भेजाजाता है। परन्तु यहा इतना कहदेना उचित होगा कि ये साधन इस प्रकारकी अनेक वस्तुओको उपभोक्ताओकी दृष्टिमें

कोई दूसरीही वस्तु बना देते है। उदाहरणके लिए, जमा हुआ दूध या मास, ताज़े दूध या माससे सर्वथा भिन्न वस्तु है। बैंक तथा साखपत्रोंके विकाससे और तोल-मापके साधनोंके प्रमाणीकरणसे भी बाज़ारके विस्तृत होनेमें सहायता प्राप्त हुई है।

श्रम-बाजार

श्रमके बाजारभी नाशवान् वस्तुओंके बाजारके समान अत्यन्त सकुचित होते है। वस्तुत. भिन्न भिन्न प्रकारके श्रमके लिए भिन्न भिन्न बाजार होते है। विशेषकर कुशल श्रमके बाज़ार तो भिन्न होते ही है। अकुशल श्रमके लिए भलेही एक बाज़ार होता हो, परन्तु श्रमजीवी प्राय: एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेमें हिचकिचाते हैं। यद्यपि यातायातके साधनोमें उन्नति होनेके कारण श्रमजीवियोंके स्थान परिवर्तनके सम्बन्धमें गति शीलता बहुत बढचुकी है, फिरभी श्रमके बाजार बहुत विस्तृत नही होपाये है। श्रमके बाज़ारोके अशुद्ध होनेका कारण यहहै कि श्रम एक अत्यन्तही नाशवान् वस्तु है। यदि एक दिनभी श्रम नही कियाजाता तो वह सदैवके लिए नष्ट होजाता है। श्रमजीवीकी इस स्थितिके कारण एकही प्रकारके श्रमका एकही बाजारमें एकमूल्य नही होता और पहिले बताया जाचुका है कि शुद्ध बाज़ारके लिए एक वस्तुका एकही मूल्य होना अत्यन्त आवश्यक है।

बाजारो की व्यवस्था

बाज़ारोकी व्यवस्थाके विषयमें ध्यान देनेकी बातहै कि इस व्यवस्थामें दलालों और सट्टेवालोको बहुत महत्व प्राप्त है। वस्तुओंकी निर्माण-विधिको कई भागोमें बाटा जासकता है। कृषि द्वारा अथवा खानोंसे निकालकर कच्चामाल प्राप्त होता है। फिर उद्योग-धधो द्वारा इस कच्चे मालसे उपयोगके योग्य वस्तुए निर्माणकी जाती है। फिर इन निर्मित वस्तुओंको उपभोक्ताओं तक पहुचानेका प्रबन्ध किया जाता है। प्राचीन कालमें जब वस्तुए कम मात्रामें तैयार होती थी, तो एकही मनुष्य स्वय ही कृषक, उद्योगपति और उपभोक्ता होसकता था। ऐसी परिस्थिति में उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें जानेके लिए विशेष अड़चनें न थी। श्रम-विभाजन तथा वस्तु-निर्माण-विधिमें उन्नति होनेके कारण एसे लोगोकी

आवश्यकता हुई जो वस्तुको उत्पादकसे उपभोक्ता तक पहुचानेका प्रबन्ध करें। ये लोग व्यापारी, दलाल इत्यादि हैं। साधारणत: यह समझा जाताहै कि इस प्रकारके लोग अथवा सस्थाए आर्थिक दृष्टिसे आवश्यक नही है। इनका काम केवल इतनाहै कि उत्पादकको मिलनेवाले मूल्य और उपभोक्ता द्वारा दियेगये मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर डाल दें परन्तु इस प्रकारके विचारमें कोई सार नही है। ये व्यापारी और दलाल उत्पादन-पद्धतिके आवश्यक अग है। उत्पादनके एक विभागसे दूसरे विभागमें वस्तुओका पहुचाना इनका विशेष कार्य है। इस कार्यके विशेषज्ञ होनेसे ये लोग इसको अधिक कुशलतासे कर पाते हैं। इनके न होनेपर बड़े परिमाणमें उत्पत्तिका होना असम्भव होजाता है। सम्भव है बहुतसे व्यापारी और दलाल निरर्थक हो, उनके न होनेसे उत्पत्तिमें तनिकभी बाधा न पडतीहो और *उनके होनेसे उपभोक्ताओको अकारणही उपभोगकी वस्तुओका अधिक मूल्य देना* पडता हो, पर इस दोषका आरोपण उनके अस्तित्व पर नही, बाहुल्य पर किया जासकता है। आजकल बडी बडी सस्थाए कच्चे मालकी खरीद और निर्मित वस्तुओंकी बेचका कार्य इन लोगो द्वारा करानेके स्थानपर स्वयही करलेती है। परन्तु ऐसी सस्थाओंकी सख्या ससार भरमें बहुत थोडी है।

सट्टा

इसीप्रकार सट्टा करनेवालेभी इतने घृणाके पात्र नही जितना कि हम उन्हें समझते है। सच बाततो यह है कि आधुनिक उत्पादन-विधिकी नीवही सट्टा है। वस्तुओकी मागके अनुमानके आधारपर उत्पादन-क्रिया प्रारम्भ होती है। उद्योगपति जनताकी आवश्यकताओ का अनुमान करके ही ऐसी वस्तुए निर्माण करता है, जो उसके विचारमें जनता द्वारा उपभोगकी जायेंगी। ऐसी वस्तुओंकी सख्या अथवा मात्राका भी पहिलेसे ही वह अनुमान करलेता है। कभी कभी तो वह नितान्त नयी वस्तुए इस आशासे निर्माण कर बैठताहै कि उनके बाजारमें आनेपर उनके *लिए माग पैदा* होजायेगी। यह सब सट्टा नही तो और क्या है। परन्तु इस सट्टेकी जोखिम आज-*कल केवल उत्पादकको ही नही उठानी पडती बल्कि व्यापारी* और सट्टेबाज लोग उसकी सहायता करते हैं।

सट्टेके कार्यका सर्वोत्तम लाभ यहहै कि इस क्रिया द्वारा वस्तुओंके मूल्यमें

स्थिरता बनी रहती है; अधिक अस्थिरता नहीं होने पाती। ये लोग जब किसी वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता और उसके कारण उसके मूल्य बढनेका अनुमान लगाते है तो उस वस्तुके पहिलेही भविष्यमें खरीदनेके सौदे करना आरम्भ कर देते है। इसप्रकार मागमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही बढना आरम्भ होजाता है और उसमें आकस्मिक वृद्धि नही होपाती। इसी प्रकार जब ये लोग किसी वस्तुके मूल्यके गिरनेका अनुमान लगातेहै तो उस वस्तुके भविष्यमें बेचनेके सौदे करलेते है। उनके इस कार्य द्वारा, पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण उस वस्तुका मूल्य वर्तमानमें ही गिरना आरम्भ होजाता है। उदाहरणके लिए मान लीजिये कि गेहूका वर्तमान भाव १५ रुपये प्रतिमन है और सट्टा करनेवालो ने अपने अनुभव और निपुणताके आधारपर यह अनुमान किया कि ससारके प्रसिद्ध गेहू उत्पन्न करनेवाले प्रदेशोमें किसी प्राकृतिक सकटके कारण गेहूकी उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आनेकी और फलस्वरूप उसका मूल्य १७ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना है। ऐसी परिस्थितिमें वे सट्टेवाले लोग जो चढते बाज़ारसे लाभ कमानेकी चेष्टा करतेहै, गेहूके वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहू खरीदनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते है। इनकी इस प्रकारकी मागमें वृद्धिके कारण गेहूके मूल्यमें वर्तमान कालसे ही वृद्धि होने लगती है। यदि इन लोगोका अनुमान ठीक निकला और गेहूका मूल्य समनुबन्ध अवधिकी समाप्ति पर १७ रुपये प्रतिमन हो गया तो सट्टेवाले पूर्व निर्धारित मूल्य १५ रुपयेके भावसे गेहू मोल लेकर १७ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे बेचकर २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते है। इस प्रकरणमें हम यहभी बता देना चाहतेहै कि यह आवश्यक नही कि वस्तुत गेहूका हस्तान्तरण हो। ऐसा होसकता है और प्राय होता भी है कि गेहूके बिना बाज़ारमें आयेही २ रुपये प्रतिमनके हिसाबसे इन सट्टेवालोको रुपये मिल जायें।

इसीप्रकार यदि गेहूका भाव भविष्यमें १५ रुपयेसे गिरकर १३ रुपये प्रतिमन होनेकी सम्भावना हो तो इस प्रकारके सट्टेवाले जो गिरते भावसे लाभ कमानेकी चेष्टा करते है, वर्तमान मूल्यपर भविष्यमें गेहू बेचनेके लिए अपनेको समनुबद्ध करलेते है। अवधि समाप्तिपर यदि भाव १३ रुपये प्रतिमन होगया तो वे इस भावपर गेहू मोल लेकर पूर्व-निर्धारित १५ रुपयेके हिसाबसे बेचलेते है और २ रुपये प्रतिमन लाभ कमा लेते है।

इस भावी क्रय-विक्रयसे उनका अभिप्राय तो होताहै मूल्यकी घट-बढ़से लाभ उठाना। परन्तु उनके इस स्वार्थ-सिद्धि के कार्यमें मूल्योंमें स्थिरता आजाती है और सारे समाजका कल्याण होजाता है। उत्पादककी तो विशेष रूपसे इन लोगों द्वारा सेवा होती है। मूल्योंकी स्थिरता तो उत्पत्तिके लिए परमावश्यक है ही, पर ये लोग उसकी बहुत कुछ जोखिम अपने ऊपर ले लेते हैं। थोक विक्रेता फुटकर विक्रेताओं द्वारा उपभोक्ताओंकी मांगका अनुमान लगाताहै और उस अनुमानके आधारपर उत्पादकोंसे माल खरीदनेका सौदा करता है। इसीप्रकार उत्पादक इन लोगोंसे भविष्यमें कच्चा माल खरीदनेका सौदा करलेते हैं, जिसके कारण उन्हें वस्तु-निर्माणकी सामग्रीके मूल्यमें आकस्मिक अस्थिरताका भय नहीं रहता।

सट्टेका कार्य सदा अच्छा नहीं होता, विशेषकर अनभिज्ञ सट्टे वालोंका। सट्टे वालोंमें मूल्योंके घटने-बढ़नेका ठीक अनुमान करनेकी योग्यता होनी चाहिये। अन्यथा यदि उनके अनुमान सर्वथा उल्टे निकलेंगे तो मूल्योंमें स्थिरताके स्थानपर और अधिक अस्थिरता आनेकी आशंका होजायगी। सट्टे वालोंके पास पर्याप्त पूंजीका होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऋणशोधनकी क्षमता न रहनेसे अन्य लोगोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है। सट्टेका कार्य जब केवल लाभ उठानेके उद्देश्यसे ही किया जाये, तो होसकता है वह समाजके लिए हानिकारक हो। कभी कभी ये लोग किसी वस्तुकी पूर्ति पर एकाधिकार जमानेके लिए उस वस्तुको खरीदते ही चले जाते हैं। इनकी इस कृत्रिम मांगके कारण उस वस्तुके मूल्यमें कृत्रिम वृद्धि होती चली जाती है। यदि वह वस्तु जीवनके लिए आवश्यक वस्तुओंमें से हो, तो इस कृत्रिम मूल्य वृद्धि के कारण समाजको कष्ट सहन करना पड़ता है।

६

प्रतिस्पर्धा

प्रतिस्पर्धा का अर्थ

प्रतिस्पर्धाका वर्तमान आर्थिक जीवनमें अत्यधिक महत्व है। प्रतिस्पर्धा बाजार मूलक अर्थ-व्यवस्थासे सम्बन्ध रखती है। ऐसी अर्थ-व्यवस्थामें जिसमें उत्पादन केवल आवश्यकता-पूर्तिके लिए होता हो, प्रतिस्पर्धा का विकास असम्भव है। प्रतिस्पर्धाका अर्थ यहहै कि वस्तुओंके क्रय-विक्रयमें प्रत्येक व्यक्तिको पूरा अधिकार और सुविधाहो कि वह चाहे जिससे सौदा निश्चित करे। पर प्रतिस्पर्धाकी यह व्याख्या केवल आर्थिक दृष्टिकोणसे कीगयी है। यह उस अवस्थाकी ओर संकेत करतीहै जिसमें प्रत्येक आर्थिक क्रियामें बहुतसे व्यक्ति हों और प्रत्येकको अपने उद्देश्यो को इच्छित रीतिसे पूर्ण करनेका उतनाही अधिकारहो जितना दूसरेको। इस प्रकार एक उत्पादक न होकर कई उत्पादक हों और प्रत्येकको अपनी इच्छानुसार मितव्ययी रीतिसे अपनी उत्पादन-योजनाको पूरी करनेका अधिकार और सुभीता हो। इसी प्रकार बाजारमें बहुतसे विक्रेता और बहुतसे ग्राहक हों और वे जहांभी अपना सार्वजनिक लाभ देखें, वहीं क्रय-विक्रय करसकें। यही बात प्रतिस्पर्धा पद्धतिमें आय तथा उत्पादन सम्बन्धी सेवाओंके उपयोगके विषयमें भी ठीक है। श्रमिक इच्छानुसार जहांभी चाहे, नौकरी कर सकताहै और उत्पादक अनेक श्रमिकोंमें से जिसको चाहे उत्पादनमें लगा सकता है। व्यक्तियोंकी आयभी इसी पद्धतिपर निर्धारित होगी। कई प्रकारके उद्यमोंमें से जो जहांपर जितना उपार्जन करले, वही उसकी आय होगी अर्थात् आय व्यक्तियोंकी श्रम-शक्ति तथा अन्य गुणोंपर निर्भर होगी। लेकिन इस श्रम-शक्ति और गुणोंका मूल्य बाजारमें सापेक्षिक मांग और पूर्ति द्वारा निश्चित होगा।

अर्थशास्त्रमें पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारकी प्रतिस्पर्धा मानी जाती है। दो बातों के होनेसे प्रतिस्पर्धा पूर्ण मानी जाती है। पहिली यहहै कि प्रतिस्पर्धाका सिद्धान्त

बाजारपर आश्रितहै, इसलिए पूर्ण और स्वतन्त्र बाजार तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाका अनिवार्य आधार है। उत्पादनके साधनो तथा अन्य आर्थिक उपकरणोकी गतिपर किसी प्रकारका कोई प्रतिबन्ध न हो। दूसरी यह कि उद्योग सस्थाओमें अथवा उपभोक्ता वर्गमें कोई इतना बडा या प्रभावशाली न हो कि क्रय-विक्रय सम्बन्धी केवल उसके निश्चयका कोई प्रभाव प्रचलित मूल्योपर पडे।

पहिली शर्तका अभिप्राय यहहै कि गति स्वतन्त्र होनेके कारण प्रत्येक अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार अधिकसे अधिक आयवाला साधन प्राप्त कर सकता है। इसका यहभी अर्थहै कि प्रत्येक साधन निरन्तर विभाज्य हो नही तो उसका उपयोग अनेक प्रकारसे नही हो सकेगा। इसीलिए एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें उसका स्थानान्तरभी अत्यन्त कठिन होगा। गतिशीलता प्रतिबन्ध-रहित हो। यह पूर्ण प्रतिस्पर्धामें आवश्यक इसलिए है कि बिना इसके सबको समान रूपसे साधन प्राप्तिके लिए प्रयत्न करनेका अवसर नही मिलेगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके लिए यहभी आवश्यकहै कि आर्थिक लाभके अवसरोके सम्बन्धमें सभी प्रतिस्पर्धियोंकी जानकारी बराबर हो और उस जानकारीको व्यवहारमें लानेके लिए आवश्यक है आर्थिक शक्तिका समान रूपसे वितरित होना।

दूसरी शर्तका अभिप्राय यहहै कि किसीभी प्रतिस्पर्धीके पास इतने अधिक साधन और अधिकार न हो कि या तो औरोको अपनी प्रतिस्पर्धामें आनेही न दे या उनके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाए बदल दे। इसका यह अर्थ नहीहै कि माग और पूर्तिका सिद्धान्त काम न करे। मूल्य माग और पूर्ति परही आश्रित होगा और उपभोक्ताओंकी मागमें परिवर्तनो तथा उद्योगपतियोकी प्रतिस्पर्धाके अनुरूप उसमें परिवर्तन भी होगे पर पूर्ण प्रतिस्पर्धामें किसी एक व्यक्तिकी माग या पूर्तिकी योग्यताके द्वारा उसपर कोई प्रभाव नही पडेगा क्योंकि सबको समानरूपसे प्रयत्न करनेका अवसर मिल सकता है अन्यथा अन्य लोगोके लिए प्रतिस्पर्धाकी दशाए और उनकी योग्यताए बदल जायेंगी। इसका फल यह होगा कि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें छोटे आकार की सस्थाए ही उचित होगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका यहभी अर्थ हुआ कि प्रत्येक आयवाला व्यक्ति और उद्योगपति अपनी आय तथा उत्पादनके साधनोका चाहे जिसप्रकार उपयोग करे अथवा न करें किन्तु इन निश्चयोपर यदि किसी प्रकारके प्रतिबन्ध है तो प्रतिस्पर्धा अपूर्ण है।

यदि उत्पादन पूर्ण प्रतिस्पर्धाके आधारपर होरहा है, तो उसका लक्षण यह होगा कि औसत व्यय और सीमान्त व्यय दोनो बराबर होगे। इसका कारण यह है कि यदि किसी सस्थाका सीमान्त व्यय औसत व्ययसे अधिकहै तो कुछ अन्य व्यापारी कम मूल्यपर बेचना आरम्भ करेंगे और फिर सबको वही मूल्य मानना पडेगा। अन्ततोगत्वा ऐसी उद्योग-सस्था या तो सीमान्त व्यय कम करेगी या नष्ट हो जायेगी। परन्तु यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे कमहै तो उद्योग सस्थाका प्रसार होगा और प्रतिस्पर्धाका नियम है कि कोई सस्था बडी नही होसकती। यह नियम पूरा इसप्रकार होता है कि उत्पादन कार्य कम होनेके कारण उस उद्योगमें साधनो की माग बहुत अधिक होजाती है और इसप्रकार व्यय बढने लगता है। अन्तमें औसत व्यय सीमान्त व्ययके समान हानेपर ही पूर्ण आर्थिक व्यवस्था साम्यावस्था में होगी।

यहभी कहा जाताहै कि पूर्ण प्रतिस्पर्धा मूलक अर्थ-व्यवस्थामें उपभोक्ताका प्रभुत्व होता है। ऐसा कहनेका तात्पर्य यहहै कि प्रतिस्पर्धा मूलक व्यवस्थामें उत्पादन बाजारके लिए होता है। इसलिए उद्योगपतियोके सारे निश्चय उपभोक्ताओकी मागपर निर्भर रहते है। इसप्रकार अन्ततोगत्वा किस वस्तुका और किस परिमाणमें उत्पादन होगा, यह उपभोक्ताही निश्चित करताहै और इस विषयमें उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा के फल

यदि औसत और सीमान्त आय बराबर हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल यह होगा कि सभी उद्योग-सस्थाए सर्वोत्तम आकारकी होगी। उत्पादक साधनाकी विभिन्न उपयोगोमें वितरणकी प्रवृत्तिभी सर्वोत्तमताकी ओर होगी। इसप्रकार पूर्ण प्रतिस्पर्धा में उत्पादन अधिक से अधिक होसकता है। इसीप्रकार व्यय और मूल्यकी कमसे कम होनेकी प्रवृत्ति होगी।

सर्वाधिक उत्पादन होनेका कारण यहहै कि उपभोक्ता पूर्ण प्रतिस्पर्धामें अपनी आयका वितरण समसीमान्त उपयोगिताके नियमानुसार करताहै, इसलिए उपभोग के आधारपर साधन वितरण होनेके कारण प्रत्येक साधनका उसी उद्योगमें उप-

योग किया जाताहै, जहा वह सबसे अधिक उत्पादक हो।

आधुनिक अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतिस्पर्धाको कल्पनामात्र ही मानते है। व्यवहारमें पूर्ण प्रतिस्पर्धाका अभावहै, क्योकि इसकी शर्ते ऐसीहै जो एकतो पूरीभी नही हो सकती और दूसरे वे परस्पर विरोधी है। सबकी जानकारी एकही हो, गतिशीलता पर कोई प्रतिबन्ध न हो, साधन निरन्तर विभाज्य हो तो उत्पादन विस्तृत क्षेत्रपर करनेके लिए प्रतिस्पर्धा हो ही नही सकती। साधनभी निरन्तर विभाज्य हो ही नही सकते।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार

जब एकही व्यक्ति अथवा उद्योग-सस्था उत्पादन और पूर्ति सम्बन्धी अपने निश्चयो द्वारा मूल्यमें परिवर्तन कर सकतीहै अथवा मूल्य निर्धारित कर सकतीहै तो उसे एकाधिकारकी अवस्था कहते है। यदि इस प्रकारकी कई उद्योग सस्थाए हो और प्रतिस्पर्धा उनके बीचमें हो तो उसे एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा कहेंगे। जब बाजार अशुद्ध हो पूर्ण प्रतिस्पर्धा की शर्ते पूरी न होरही हो तब हम उसे अपूर्ण प्रतिस्पर्धा कहेंगे। एकाधिकारात्मक और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा बहुत कुछ पर्यायवाची शब्दहै और विद्वानोने कुछ दिनोतक इन दो शब्दोको एकही अर्थमें प्रयुक्त किया है। यद्यपि मतभेदोके प्रवर्तक अब इनमें भेद करने लगे है।

एकाधिकार इस अर्थमें कि केवल एकही विक्रेता अथवा उत्पादक हो और वह मनमाना मूल्य निश्चित कर, बहुत कम पाया जाता है। पूर्ण एकाधिकार उस अवस्थामें हो सकता है जब किसी वस्तु विशेषके स्थानापन्नोका पूर्णतया अभावहो तथा वह लोगोके लिये अत्यन्त आवश्यक हो, ऐसा सयोग अलभ्य-सा है। सभी वस्तुओकी प्राप्ति ससारके अनेक भागोमें है और यातायातके साधन सुलभ होनेके कारण एक भागकी वस्तुका मूल्य दूसरे भागके मूल्यसे स्वतन्त्र नही रखा जासकता। फिर प्रत्येक वस्तुका कोई न कोई स्थानापन्न मिलही जाता है। इसकारण प्राकृतिक एकाधिकार कठिन है। कुछ वस्तुए अवश्य ऐसीहै जो एकही स्थानपर या कुछ थोडे से स्थानो पर मिलती है पर उनकी स्थानापन्न वस्तुए है।

एकाधिकारके मार्गमें यही दो कठिनाइया है। एकतो वस्तुकी पूर्ण पूर्तिपर

अधिकार और दूसरी उसकी मागपर पूर्ण अधिकार। यहापर हम फिर स्मरण करायेंगेकि अर्थशास्त्रमें एकाधिकार अथवा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धाका महत्व मुख्यतया पूर्तिपर अधिक अधिकारकी दृष्टिसे नही है वरन् व्यापारीकी मूल्य पर शक्तिकी दृष्टिसे है। चूकि मूल्य निश्चित होनेमें पूर्तिका भी भाग होताहै, इस लिए पूर्तिके एक बडे भागपर अधिकारभी आवश्यक होजाता है। पर मूल्य केवल पूर्तिही नही निश्चित करती इसलिए माग परभी कुछ अधिकार होना आवश्यक है।

उत्पत्ति विभेदीकरण

पूर्ति पर एकाधिकार पानेके लिए जिस उपायका अधिकतर आश्रय लियाजाता है, उसे उत्पत्ति विभेदीकरण कहते है। इसके अतिरिक्त विक्रय सेवाए भी एक अच्छा उपाय है। कभीतो यह उपाय उत्पत्ति विभेदीकरणका एक अगमात्र होताहै पर उससे स्वतन्त्र भी इस उपायका प्रयोग होता है।

उत्पत्ति विभेदीकरणका तात्पर्य यहहै कि किसी वस्तुका नाम बदलकर उसे एक भिन्न वस्तु बनाकर बेचा जाय। उदाहरणके लिए सिगरेट अथवा चाय लीजिए। सिगरेट कई प्रकारकी मिलती है—कैप्सटन, कैंची, गोल्टफलेक इत्यादि। इसी प्रकार लिप्टन, ब्रुकबौन्ड, नीलगिरी आदि अनेको प्रकारकी चाय बिकती है और इनमेंभी बहुतसे उपभेद होने है। अब खाद्य या पेय वस्तुकी दृष्टिसे इन अनेक प्रकारकी चायो अथवा सिगरेटोंमें कोई विशेष अन्तर नहीहै पर नाम भिन्नहोनेके कारण ये भिन्न भिन्न वस्तुए मानी जाती है और इनके मूल्य पृथक पृथक होते है। अब यदि इनको अलग वस्तु मान लिया जाये तो पेटेंट और व्यापार चिह्न सम्बन्धी नियमोके अनुसार इन्हें बनानेवाली कम्पनिया एकाधिकारी हुई और इसप्रकार इन कम्पनियामें परस्पर प्रतिस्पर्धा एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धा होगी। यहा स्मरण रखना चाहिए कि उत्पत्ति वहीहै अथवा भिन्न। इसकी कसौटी स्थानापन्नताकी लोच है। यदि दो विभेदीकृत वस्तुओंके मूल्योमें परिवर्तनके फलस्वरूप एक वस्तु दूसरे के स्थानपर ग्रहण करली जाय तो अर्थशास्त्रकी दृष्टिसे वे एक दूसरीसे भिन्न नही है। इनके गुण, नाम इत्यादिमें अन्तर हो अथवा न हो। पर यदि इस प्रति-स्थापनमें कठिनाईहै तो जितनी अधिक कठिनाई होगी, उसीके अनुसार वे वस्तुए

एक दूसरे से उतनी भिन्न मानी जायेंगी। उत्पत्ति विभेदीकरण अधिकतर विज्ञापन द्वारा कियाजाता है। उपभोक्ताओंकी मनोवृत्ति, इच्छाओं और रुचियोंका अध्ययन अथवा अनुमान करके उनके मनमें यह बैठा दियाजाता है कि विभिन्न नामोंसे बिकनेवाली वस्तुएं वास्तवमें एक दूसरसे भिन्न हैं और उनके मूल्योंका अन्तर उन के गुणों अथवा उपयोगिताके अन्तरका परिचायक है। विज्ञापनके अतिरिक्त कुछ थोडबहुत बहिरंग अन्तरभी पैदा कियेजाते है। पर उद्देश्य यह होताहै कि ग्राहक यह विश्वास करले कि लिप्टन और ब्रुकबौंड चाय परस्पर इतनी भिन्न है कि एक के स्थानपर दूसरीका उपयोग हो ही नहीं सकता। यह काम अधिकतर कुशल और निरंतर विज्ञापन द्वारा होताहै और जहा तक व्यापारीका इसमें सफलता मिलती है अर्थात् जहा तक वह स्थानापन्नताकी लोच घटा सकताहै, वहीं तक उत्पत्ति विभेदीकरण भी होपाता है।

वस्तुके साथ कुछ सेवाए जोडकरके भी उन्हें दूसरी वस्तुओंसे भिन्न बनाया जाता है। बिना मूल्यके वस्तुको घरतक पहुचा देना अथवा मरम्मत करदेना इत्यादि इन सेवाओंके उदाहरण है। ग्राहकोंकी इच्छानुसार विक्रय-समय निश्चित करना तथा दूकानमें अनेक प्रकारकी सुविधाओंका उपलब्ध करना भी इस उद्देश्यको पूरा करसकते है। इस सम्बन्धमें सबसे सामान्य सिद्धान्त न्यूनतम विभेदीकरणका है। उद्योगी और व्यापारी अपनी वस्तुओंको इतनी अधिक भिन्न नहीं बनाते कि उन्हें उसके लिए नई माग उत्पन्न करनी पड़े अथवा पूर्तिके लिए नये साधन सग्रह करने पड़ें। उनका उद्देश्य मागको अपनी ओर मोड लेना होता है। एकाधिकारका आधार सदैव उत्पादन सकुचन द्वारा मूल्यपर प्रभाव डालना होताहै और यह माग की दोहुई दशाओंमें ही सार्थक होसकता है। इसकारण प्रत्येक उत्पादकका यह उद्देश्य होगा कि उसकी वस्तु और उसके प्रतिस्पर्धियोंकी वस्तुमें कमसे कम अन्तर हो पर वह अन्तर एसा हो कि उपभोक्ता उसकी वस्तुको अधिक अच्छी समझे और उसी प्रकारकी अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा उसे खरीदनेके लिए अधिक उत्सुक हो।

मूल्य-भेद

प्रतिस्पर्धामें एकाधिकार प्राप्त करनेका दूसरा उपाय मूल्य भेद है। विभिन्न वर्गों,

आय और स्थानोके व्यक्तियोमें माग की लोच विभिन्न होती है। कुछ लोग सस्ती वस्तु खरीदतेहैं तो कुछ महगी। सबसे अधिक परिमाणमें बेचनेका उपाय यहहै कि वस्तुका मूल्य सदैव बाजारमें प्रचलित मागके अनुसार हो। एकही वस्तुको कई मूल्योंपर बेचनेका उद्देश्य विभिन्न मागोकी लोचका लाभ उठाना होता है। धनिक वर्गके लिए प्राय दूसरे दाम बताये जाते हैं। चूकि धनी लोग सस्ते बाजारोमें अधिकतर नही जाते इसलिए ऐसा कर सकना सम्भव होता है। रलवे कम्पनिया प्राय भिन्न भिन्न वस्तुओंके लिए अलग अलग भाडकी दर नियत करती है। कभी कभी भिन्न भिन्न वर्गोके लिए अलग अलग मूल्य नियत कर दिये जातेहैं, क्योकि इनमें वर्गगत अभिमानके कारण परस्पर प्रतिस्पर्धा नहीं होती। इसका लाभ उठाकर उत्पादक प्रत्येककी आर्थिक शक्तिके अनुसार मूल्य नियत करतेहै न कि सीमान्त ग्राहककी मागके आधार पर। उपयोग-भेदसे भी मूल्य-भेद स्थापित करके लाभ उठाया जासकता हैं। गृहकार्यके लिए कम विद्युत शक्तिकी आवश्यकता होती हैं। इसीलिए गृहस्थोंसे उस शक्तिके लिए अधिक दर नियतकी जासकती है। औद्योगिक कार्योमें अधिक मात्रामें विद्युत् शक्ति व्यय होती है, इस कारण उद्योगी लोग अधिक दर माननेके लिए तैयार न होंगे। इसलिए उनके लिए नीची दर नियतकी जाती है। इस प्रकार ऊचे नीचे दोनो दामोंपर अधिकसे अधिक विक्रय-होसकता है। स्थान भेदसे भी मूल्यमें भेद होता है। ग्राम। और नगरोंमें पृथक् पृथक् मूल्य उसी वस्तुके लिए बडी बडी उद्योग-सस्थाए रख सकती है। डम्पिगकी प्रथा स्थान-गत मूल्य-भेदका बहुतही प्रसिद्ध और चरम उदाहरण है। अपने देशमें तो किसी उद्योगपतिका उस उद्योगमें सर्वाधिक अधिकार हो पर अन्य देशोमें उसे कोई अधिकार न प्राप्त हो। इस स्थितिमें वह अपनी बिक्री अन्य देशोमें कमसे कम, उत्पादन-व्ययसे भी कम मूल्यपर बेचकर बढा सकता है। इस प्रकार उसे जो हानि होगी उसे अपने देशमें अत्यधिक मूल्य नियत करके पूरा करसकता है। इस मूल्यपर उसकी वस्तु कुछ कम बिकेगी पर बिक्रीकी यह कमी वह अन्य देशोमें बहुत अधिक बेचकर पूरी कर लेता है।

काल-गति मूल्य-भेदका सबसे उत्तम और प्रसिद्ध उदाहरण पुस्तकोके भिन्न सस्करणोके लिए पृथक पृथक मूल्य नियत करना है। जिस समय पुस्तक प्रकाशित होतीहै, उस समय नवीनताके कारण पहिले लेनेकी इच्छाके कारण बहुतसे व्यक्ति

अधिक मूल्यपर भी खरीद लेंगे। कुछ समय पश्चात् उसी पुस्तकका सस्ता संस्करण निकालकर बिक्री पर्याप्त मात्रामें की जासकती है क्योंकि बहुतसे लोग जो अधिक मूल्य होनके कारण पहिले न लेसके थे, अब लेसकते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय पुस्तककी सम्भावित माग और उसके प्रति जनता की रुचिका भली प्रकार अनुमान लगाया जासकता है। और इस आधारपर अधिक बिक्रीकी आशापर मूल्य कम किया जासकता है। यह आवश्यक नही कि पहिले संस्करणका ही मूल्य अधिक हो। दूसरे संस्करण अधिक मूल्यपर निकाले जासकते हैं। मूल्य-भेद पर आश्रित एकाधिकारके लिए आवश्यक है कि विभिन्न बाजारोकी मागकी लोचमें पर्याप्त अन्तर हो और वस्तु एक बाजारसे दूसरे बाजारमें फिर बेची न जासकती हो।

एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका फल उत्पादन व्ययका बढाना होता है। यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धामें कमसे कम उत्पादन व्यय वाली कुशल उद्योग संस्थाएं मिलती हैं तो एकाधिकारात्मक प्रतिस्पर्धामें उत्पादन कम कुशल और अधिक व्ययशील होजाता है। विज्ञापन और विक्रय व्यय अधिकतर व्यर्थही होते हैं। उपभोक्ताकी तो हर रूपमें हानिही होती है। उपभोक्ताकी बचतका नितान्त लोप करनेकी चेष्टा कीजाती है। मूल्य ऊंचा रखनके लिए वस्तुओको प्राय नष्टभी कर दिया जाता है।

एकाधिकार के आधार

एकाधिकारका एक आधार कुछ प्राकृतिक सुविधाएहै जैसे संयुक्तराष्ट्रीय स्टील कॉर्पोरेशनके पास निकेलकी लगभग सभी खानें है। इसी प्रकार हीरो की संसारमें बहुत कम खानें हैं और वे सब दो-तीन कम्पनियोंके पास हैं।

कभी कभी एकाधिकार कुछ विशेष गुणो तथा परिस्थितियोपर आश्रित होता है। फिल्म अभिनता और अभिनेत्रिया, स्वास्थ्य तथा प्राकृतिक सौन्दर्यके स्थानोपर होटल आदिका स्वामित्व इस प्रकारके एकाधिकारके उदाहरण हैं।

अधिकतर एकाधिकार कानूनी अधिकारोपर आश्रित होसकता है। कोई विशेष उत्पादन विधि अथवा आविष्कार किसी विशेष कम्पनीके पास सुरक्षित होसकता है। उत्पत्ति विभेदीकरण भी इसी नियमपर आश्रित है। राजाज्ञासे कभी

कभी इस कम्पनीको किसी क्षेत्र विशेषमें व्यापार करनेका एकाधिकार दिया जाता है। सुप्रसिद्ध ईस्ट-इंडिया कम्पनीका एकाधिकार इसी प्रकारका था। औद्योगिक क्रान्तिसे पूर्व इस प्रकारकी राजाज्ञासे सुरक्षित एकाधिकारके आश्रित बहुतसी संस्थाएं थी। कभी कभी यह राजाज्ञा इस कारणभी दीजाती है कि कोई कोई उद्योग प्रतिस्पर्धा द्वारा कुशलतापूर्वक नही चलसकते अथवा प्रतिस्पर्धा होनेसे उपभोक्ताओंको कष्ट और हानि पहुचनेकी सम्भावना रहती है। स्वास्थ्य सम्बन्धी, यातायातकी तथा समाजके लिए अन्य अत्यन्त आवश्यक सेवाएं प्राय राजाज्ञा द्वारा प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित रखी जाती हैं। किसी वस्तुकी अत्यन्त कमी होनेपर अथवा अत्यन्त आवश्यकता होनेपर भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार दिया जाता है। कुछ ऐसे उद्योग होतेहैं, जिनमें पूंजीकी बहुत आवश्यकता होतीहै परन्तु लाभकी सम्भावना अनिश्चित होती है। ऐसे उद्योग जनताके लिए आवश्यक होनेपर राजाज्ञा द्वारा सुरक्षित करदिये जाते हैं। रेलमें प्रतिस्पर्धासे सामाजिक हानि होसकती है अतएव रेलवे कम्पनियोंको भी राजाज्ञा द्वारा एकाधिकार प्राप्त होता है।

एकाधिकार बनानेका चौथा ढग यहहै कि कई उद्योग-संस्थाएं मिलकर एक सघ बना लेती हैं। अमेरिका और जर्मनी मे इस प्रकारकी बहुतसी एकाधिकारी संस्थाओंकी नींव पडी थी। यह सघ एकही उद्योगकी कई संस्थाओंका होसकता है अथवा एक उद्योगके कई विभागोंका भी होसकता है। पहिलेको समतल सघ और दूसरेको लम्बरूप सघ कहते हैं। उदाहरणार्थ उत्तरप्रदेश तथा बिहार चीनी सघ कुछ चीनी बनानेवाली मिलोंका एक सघ होनेके कारण समतल सघ है। परन्तु यदि ईख उगाने, चीनी बनाने और चीनी बेचनेसे सम्बन्धित सभी उद्योगोंका एक सघ बनाया जावे तो वह लम्ब रूप सघ होगा। इगलैंडमें छोटे छोटे फुटकर बेचने वाले व्यापारियोंने सघ बनाकर बाजारमें एकाधिकारकी स्थिति पैदा करली है।

इस प्रकारके सघ बनानेके विरुद्ध सरकार प्राय नियम बना देती है। पर उनसे बचनेका कोई न कोई ढग व्यापारी लोग निकाल ही लेते हैं।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार की सीमा

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और एकाधिकारकी एक सीमा है। सम्भावित प्रतिस्पर्धा का

भय एकाधिकारीके लिए बहुत बड़ा अंकुश है। नयी वस्तुओं और स्थानापन्नोंका आविष्कार सदैव सम्भव है। अधिक मूल्य रखनेसे अथवा जन हितका मनमाना निरादर करनेसे सदिच्छा खो देनेका भय रहता है। एकाधिकारीको राज्य-हस्तक्षेपका भी डर रहता है। एकाधिकारीके अत्यधिक लाभ प्राप्ति करनेकी नीतिका अनुसरण करनेपर सामाजिक शान्ति बनाये रखनेके लिए सरकारको हस्तक्षेप करना पडता है और एकाधिकारी पर कठिन प्रतिबन्ध लगाये जाते है। वर्तमान समयमें आर्थिक व्यवस्था इतनी अस्थिर और सकटमयी है कि अनेक प्रकारके सरकारी नियन्त्रण आवश्यक होगये है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारीको मागपर बहुत कम अधिकार प्राप्त रहता है। इस कारण उसकी मूल्यको निर्धारित करनेकी शक्ति सदैव सीमित होती है और मागके क्षेत्रमें उपभोक्ता सहकारी समितिया तथा राज्य-क्रय द्वारा प्राप्त एकाधिकार इस शक्तिको और भी सीमित करते है।

उत्पादक साधनो की गतिशीलता

पूर्ण प्रतिस्पर्धाका विवेचन करते समय कहा गयाथा कि इसके लिए उत्पादक साधनो का गतिशील होना अत्यन्त आवश्यक है। साधारणतया गतिशीलताका अर्थ स्थान परिवर्तनसे लिया जाता है परन्तु अर्थशास्त्रमें गतिशीलताका मुख्य तात्पर्य उपयोग परिवर्तनसे है। इस उपयोग परिवर्तनकी आवश्यकता साधनोंके सीमित होनेके कारण पडती है। यदि प्रत्येक साधन इच्छित परिमाणमें मिलसकता तो इस परिवर्तनकी आवश्यकताही न पडती। ऐसा नहोने के कारण उत्पादक साधन सदैव एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें स्थान, कार्य और समयके अन्तर द्वारा परिवर्तित होते रहते है। कुछ साधनोकी गतिशीलता इसलिए कम होती है अथवा बिल्कुल नही होती क्योंकि वे किसी और उपयोगमें आ ही नही सकते अथवा केवल कुछही उपयोगोंमें आ सकते है जैसे भूमि। बीजरने ऐसे साधनोंको विशिष्ट साधन कहा है। उन साधनोकी गतिशीलता अधिक होती है जिनका कई उपयोगोमें वितरण किया जासकता है। बीजरने ऐसे साधनोको अविशिष्ट साधन कहा है, जैसे श्रम।

गतिशीलता तीन प्रकारकी होती है। देशगत, कार्यगत और कालगत। देशगत गतिशीलतासे हमारा अभिप्राय उस गतिशीलतासे है, जिसके होनेमे साधनको एक

स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाया जासकता है। कार्यगत गतिशीलता दो प्रकारकी होसकती है। एकतो वह, जिसके होनेसे साधनको उसी उद्योगमें एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें लगाया जासकता है और दूसरी वह जिसके होनेसे साधन एक उद्योगसे हटाकर किसी अन्य उद्योगमें लगाया जासकता है। कालगत गतिशीलता का तात्पर्य यहहै कि साधनका प्रयोग वर्तमान समयमें न करके भविष्यके लिए स्थगित करदिया जाय।

भूमि की गतिशीलता

भूमिका एक स्थानसे दूसरे स्थानपर लेजाना तो सम्भव नही है परन्तु किसी विशेष भूमि-भागका एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें परिवर्तन करना सम्भव है। यद्यपि इस परिवर्तनके लिए पूजीकी न्यूनाधिक मात्रामें आवश्यकता पडती है। इस के अतिरिक्त गतिशीलता का सम्बन्ध भूमिके क्षेत्रफलसे नही परन्तु उसकी उत्पादन शीलतासे है। यहतो स्पष्टही है कि पूजीकी सहायतासे कम उपजाऊ भूमियो को अधिक उपजाऊ बनाया जासकता है। फिरभी किसीभी भूमि-भागके उसके प्राकृतिक गुणो तथा उस स्थानकी जलवायुके अनुसार थोडेही उपयोग हो सकते है, बहुत नही। इसीलिए भूमिका विशिष्ट साधन मानागया है। बहुतसे भूमि-भाग तो पूर्णतया विशिष्ट होते है। उदाहरणार्थ भारतवर्षकी उत्तरवर्ती पर्वतीय भूमियो पर वनोके अतिरिक्त और कुछ नही होसकता है।

श्रम की गतिशीलता

श्रमजीवीको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानके लिए दो बातोकी आवश्यकता होती है। एक तो यातायातके साधनोकी और दूसरे परिवार अथवा ग्रामके लिए मोह न होने की। यातायातके साधनोकी कमी तथा घर परिवारसे सम्बन्ध बनाये रखनेमें बडा व्यय होताहै और इसकारण श्रमजीवियोकी देशगत गतिशीलता कम होती है। श्रमकी कार्यगत गतिशीलता विभिन्न व्यवसायो अथवा उद्योगो द्वारा प्राप्त होनेवाली आय तथा अन्य लाभोपर निर्भर करती है। अन्य लाभ

अधिक पारिश्रमिक द्वाराही नही मापे जाते है। उस उद्योगमें प्राप्त होनेवाली सभी सुविधाओंकी गणना कर लीजाती है। काम कितनाहै, छुट्टी कितनी मिलती है, उद्यम निश्चितहै अथवा नही, नौकरी सुरक्षाका कहातक प्रबन्ध है, मान-मर्यादा कैसीहै, इन सब बातोंपर विचार किया जाता है। कुछ कार्योंमें सीखनेकी सुविधाए, आवश्यक अभ्यास, शिक्षा और व्यय अधिक होताहै और कुछमें कम। कार्यगत गतिशीलता पर इसकाभी बहुत प्रभाव पडता है। उद्योग विशेषकी शिक्षामें जो व्यय होता है वह एक प्रकार से पूजी लगाना है। कभी कभी इसका प्रबन्ध उस उद्योग अथवा सरकारकी ओरसे होता है। पर अधिकतर यह व्यय श्रमिकको ही करना पडता है। कार्यगत गतिशीलता, श्रमजीवियोंके इस व्ययको करनके सामर्थ्य तथा उससे प्राप्त होनेवाले लाभपर निर्भर रहती है। कुछ व्यवसाय ऐसे है, जिनके लिए विशिष्ट गुणो तथा दीर्घकालीन अभ्यासकी आवश्यकता होती है। इनमें गतिशीलता बहुतकम होती है। इसप्रकार समाजमें श्रम समुदाय होतेहै जिनमें प्रतिस्पर्धा नही होती।

समाजके व्यक्तियोकी जातीय और व्यक्तिगत विशेषताए तथा सामाजिक विशेषताए और परम्पराएभी गतिशीलतापर बहुत प्रभाव डालती है। उदाहरणार्थ भारतवर्षमें वर्ण और जाति तथा संयुक्त परिवार प्रथायें गतिशीलताका बहुत निरोध करती है। जातिके अनुसार आर्थिक और सामाजिक उन्नतिका न तो किसी व्यक्तिको अवसर मिलता है और न इस प्रकारकी वृत्तिको अच्छा समझा जाता है। घर और जन्मस्थानका मोह स्थानगत गतिशीलताके मार्गमें और पारिवारिक सम्बन्ध कार्यगत गतिशीलताके मार्गमें बाधक होते है।

पूजी की गतिशीलता

स्थायी पूजी अल्पकालमें तो अगतिशीलही होगी। कुछ स्थायी पूजी तो केवल एकही व्यवहारमें आसक्तीहै और इसकारण वह सदैवही अगतिशील होगी। जिन यन्त्राके तैयार करनेमें अधिक व्यय होता है अथवा जो कठिनतासे और दीर्घ कालमें तैयार होतहै उनकी गतिशीलता तो कम होगी। स्थायी पूजीकी दीर्घ कालीन गतिशीलतापर सबसे अधिक प्रभाव नवीनताओंका पडता है। यदि

नवीनताओंको उद्यममें अपनाने पर किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न हो तो उनके द्वारा पूजी बहुत गतिशील होसकती है। स्थायी पूजीका निरन्तर उपयोगसे नाश होता रहताहै और यह आवश्यक नही कि उद्योगी उसका पुरानेही रूपमें पुनर्निर्माण करें। इसके अतिरिक्त बहुतसी पूजी कच्चेमाल और अर्ध-निर्मित वस्तुओंके रूपमें होती है और उनका उपयोग विभिन्न उद्देश्योंके लिए होसकता है। इसकारण एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें इनका परिवर्तन सुलभ है। इसप्रकार की पूजीकी गतिशीलता अधिक होती है।

पूर्ण उद्यम और गतिशीलता

पूर्ण उद्यमका अर्थ यह होताहै कि उत्पादनके सभी साधन सर्वोत्तम रूपमे उपयोग में लाये जारहे हो और उनकी आय उनकी उत्पादन शीलता के बराबर हो। ऐसी स्थितिमें गतिशीलता व्यर्थ होगी परन्तु जबतक साधन गतिशील न होंगे पूर्ण उद्यमकी नीतिका सफल होना सम्भव नही। गतिशीलता प्रगतिशील अर्थ-व्यवस्था का सिद्धान्त है और पूर्ण उद्यम स्थिर अर्थ-व्यवस्था का। दोनोंमें बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

७

मूल्य निर्धारण की विधि

मूल्य के प्रकार

किसी वस्तुका मूल्य तीन प्रकारका होता है। एक उस वस्तुका वास्तविक मूल्य; दूसरे उसका विनिमय साध्य मूल्य और तीसरे उसका मौद्रिक मूल्य।

वास्तविक मूल्य वस्तुके आन्तरिक गुणों पर निर्भर होताहै और स्वयं सिद्ध है। किसी वस्तुके उपयोगी होनेका मूल आधार यही वास्तविक मूल्य है।

विनिमय साध्य मूल्यकी परिभाषा मार्शल ने इस प्रकारकी है 'किसी समय और स्थान पर किसी वस्तुका विनिमय साध्य मूल्य किसी दूसरी वस्तुकी उतनी मात्रा है जो पहिली वस्तुके विनिमयसे प्राप्तकी जासकती है'।

समाजमें अनेक वस्तुओंके होनेके कारण किसी एक वस्तुके अनेक विनिमय साध्य मूल्य होजाते हैं। जिसके कारण आर्थिक गणित क्लिष्ट होजाती है। इस बाधाको मिटानेका एक साधन यहहै कि किसीभी वस्तु विशेषको अन्य वस्तुओंके विनिमय साध्य मूल्यका मापदंड मानलिया जाय। आधुनिक संसारके अधिकतर समाजोंमें द्रव्य द्वारा वस्तुओंके मूल्य निर्धारित करनेकी प्रणाली प्रचलित है। जब किसी वस्तुका मूल्य मुद्राओंके रूपमें आंका जाताहै तो उसे उस वस्तुका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहा जासकता है। 'द्रव्य' के अध्यायमें इस विषयका विशेष रूपसे विवेचन किया गया है।

मूल्य का महत्व

आधुनिक विनिमय प्रधान संसारमें उत्पत्ति और वितरणके सभी कार्य विनिमय द्वारा होते हैं। यह विनिमय वस्तुओं अथवा मानुषी सेवाओंके मूल्यके आधारपर होता है। कृषकके पास अन्न है और उसे कपड़ेकी आवश्यकता है। जुलाहेके पास

कपडा है और उसे अन्नकी आवश्यकता है। कृषक अपने अन्नके मूल्यका अनुमान, उसे उत्पन्न करनेमें जो श्रम करना पडा था, उसके मूल्यके आधारपर करता है और कपडेके मूल्यका अनुमान उससे मिलनेवाली उपयोगिता के मूल्यके आधार पर। उसीप्रकार जुलाहा अपने कपडे और किसानके अन्नके मूल्योका अनुमान लगाता है। बहुतसे कृषको और जुलाहोके अनुमानोका बाजारमें एक दूसरेसे सम्पर्क होने पर अन्नका कपडेके रूपमें और कपडेका अन्नके रूपमें सर्वप्रिय मूल्य निर्धारित हो जाता है। वस्तुओका परस्पर वस्तुओसे ही विनिमय कष्टसाध्य है क्योकि विनिमय कार्यके पूरा होनेके लिए यह आवश्यक है कि देनेवाले और लेनेवाले दोनोके पास ऐसी वस्तुए हो, जो एक दूसरेको चाहिए। केवल यही नही वे वस्तुए दोनोके पास इच्छित माना में होनी चाहिए। इसकारण प्रत्येक वस्तुका मूल्य द्रव्यके रूप में प्रकट करलिया जाताहै और उसके आधारपर उनका पारस्परिक विनिमय होता रहता है।

माग, पूर्ति और मूल्य

मूल्य स्वय माग और पूर्तिका एक अग है। वास्तवमें माग और पूर्तिकी मात्रायें किसी मूल्य विशेषसे सम्बन्धित करके प्रकट कीजाती हैं अर्थात् माग और पूर्ति दोनो मूल्यपर निर्भर है। मूल्यमें वृद्धि होनेपर माग कम होगी और पूर्ति अधिक। इसीप्रकार मूल्य कम होनेपर माग अधिक होगी और पूर्ति कम। दूसरी ओर मूल्य स्वयं माग और पूर्तिपर निर्भर है। पूर्ति कम होनेपर मूल्य अधिक होगा और अधिक होनेपर कम। इसके विपरीत माग कम होनेपर मूल्य कम होगा और अधिक होनेपर अधिक। माग, पूर्ति और मूल्य परस्पर एक दूसरेपर निर्भर है। इनमेंसे प्रत्येक शेष दो को निर्धारित करनेमें सहायता देताहै और बाज़ारमें उनके पारस्परिक सम्पर्क से एक प्रकारका सन्तुलन सा स्थापित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। पूर्ण सन्तुलनतो कभी स्थापित नही होपाता क्योकि यहतो उस समय स्थापित होगा जबकि किसी मूल्य विशेष पर सम्पूर्ण पूर्ति, सम्पूर्ण मागको पूरा करनेके लिए केवल पर्याप्त मात्रही हो। परन्तु ऐसा कभी नही होता। केवल इस सन्तुलनकी स्थितिसे इन तीनोमें से एकभी बहुत आगे पीछे नही रहने पाता। यदि

पूर्ति मागसे अधिक होनो विक्रेताओंकी प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होने लगेगा। इसके फलस्वरूप पूर्ति कम और माग अधिक होने लगेगी। इसीप्रकार जब माग पूर्तिसे अधिक होगी तो ग्राहकोकी प्रतिस्पर्धाके फलस्वरूप मूल्यका बढना आरम्भ हो जायगा। इसके फलस्वरूप मागमें कमी और पूर्तिमें वृद्धि होने लगेगी। इस प्रकार हरसमय सन्तुलनके भग होनेपर स्वयही ऐसी शक्तियोका प्रादुर्भाव होता रहताहै जो फिर सन्तुलन स्थापित करनेकी चेष्टा करती रहती है। ये शक्तिया बाजारकी भिन्न भिन्न स्थितियोमें एकसा वल नही रखती। यदि विक्रेताओमें और ग्राहकोमें परस्पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो ये शक्तियाभी पूरे बलसे कार्य करती है। यदि विक्रेताओंका एकाधिकार हो तो वे पूर्ति अथवा मूल्यमें से एकपर इन शक्तियो का पूरा प्रभाव नही पडने देते अर्थात् पूर्तिकी मात्रा अथवा मूल्यमें से एकको अपनी इच्छानुसार घटा बढा सकते हैं। यदि ग्राहकोका एकाधिकार हो तो वे माग और मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकते है। आधुनिक अर्थशास्त्रियोका विचारहै कि व्यवहार में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा और न एकाधिकार ही होता है। जोन राविन्सन के कथनानुसार अपूर्ण प्रतिस्पर्धाका ही प्रभुत्व है। चेम्बरलेनने तो एकाधिकार, पूर्ण प्रतिस्पर्धा इत्यादिका भी वर्गीकरण किया है।

काल-भेद और मूल्य

इसके अतिरिक्त कालकी गतिसे भी इस सन्तुलनपर प्रभाव पडताहै क्योकि पूर्ति, माग तथा मूल्यकी स्थितियोमें अन्तर पडजाता है। समय व्यतीत होनेसे उत्पत्तिकी मात्रा तथा जनताके स्वभाव, रुचि इत्यादिमें परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। फलस्वरूप पूर्ति और मागकी स्थिति वैसी नही रहती जैसीकि पहिले थी। इन शक्तियोके बदलनेसे सन्तुलनभी अपना पुराना स्थान बदललेता है।

अर्थशास्त्री कालके तीन भेद करते है। पहिला वहहै जिसमें केवल उन्ही वस्तुओ का लेनदेन होताहै जो उत्पन्नकी जाचुकी है और पहिलेसे ही बाजारमें उपस्थित है। दूसरा वह जिसमें पहिलेसे ही प्रस्तुत उत्पादक सामग्री द्वारा पैदाकी जा सकनेवाली वस्तुए बाजारमें लायी जा सकती है। तीसरा काल वहहै जिसमें नयी उत्पादक सामग्री द्वारा अथवा पुरानी सामग्रीकी उत्पादन शक्तिमें वृद्धि करके उत्पन्नकी जाने

वाली वस्तुएभी विनिमयके लिए उपलब्ध होजाती है। पहिलेको हम क्षणिक काल, दूसरेको अल्पकाल और तीसरेको दीर्घकाल कहेगे। स्पष्टहै कि क्षणिक कालमें मूल्य निर्धारण करनेमें प्रभुत्व मागका होगा, दीर्घकालमें पूर्तिका और अल्पकालमें कभी माग और कभी पूर्तिका अथवा दोनो का।

क्षणिक काल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

क्षणिककाल में पूर्तिकी मात्रातो बाजारमें घटायी और बढायी नही जासकती। अत: मूल्य-निर्धारण करनेमें सीमान्त ग्राहकका विशेष महत्व रहता है, उसकी मूल्य-निर्धारण करनेकी शक्तिपर विक्रेताका केवल इतना नियन्त्रणहै कि वह ग्राहकके लगायेहुए मूल्यपर वस्तुको न बेचे परन्तु उनका सग्रह करले। इस सम्बन्धमें यह कहदेना है कि प्रत्येक विक्रेता अपने मनमें किसी वस्तुका एक न्यूनतम मूल्य निश्चित करलेता है, जिसके नीचे वह उस वस्तुको नही बेचता। वस्तु यदि नश्वरहो तो यह न्यूनतम मूल्य बहुत ही कम होता है परन्तु यदि वस्तु सग्रहशील हो तो अधिक। यदि विक्रेताके विचारानुसार उसे भविष्यमें मिलनेवाला मूल्य वर्तमानमें मिलनेवाले मूल्य और सग्रहके व्ययसे अधिकहै तो वह वस्तु बेचने के स्थानपर वस्तुका सग्रह करना ही उचित समझेगा। भविष्यमें मिलनेवाले मूल्यका अनुमान भविष्यके लिए सौदा करनेवाले बाजारसे किया जासकता है। कृषि द्वारा उत्पन्न बहुतसी वस्तुओका मूल्य इसीप्रकार निर्धारित होता है।

अल्पकाल, पूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

अल्पकालमें माग बढनेसे मूल्य बढना आरम्भ होजाय तो पूर्तिभी बढायी जासकती है। सन्तुलन उस स्थानपर स्थापित होताहै जिस स्थानपर कि किसी विशेष मूल्य पर माग और पूर्त्ति दोनो सम होजायें। मान लीजिए कि खाडकी माग और पूर्त्ति की तालिकाए हमें मालूमहै अर्थात हम जानतेहै कि दिये गये मूल्यपर खाडकी अमुक मात्रामें माग होगी और अमुक मात्रामें पूर्ति। इन तालिकाओ द्वारा सिद्ध किया जासकता है कि सन्तुलन उसीसमय स्थापित होसकता है जबकि किसी विशेष

मूल्य पर माग और पूर्तिकी मात्रा सम होगी। माग और पूर्तिके नियमोंकी सहायतासे तालिकाए इसप्रकार बनायी जासकती है कि मूल्यके कम होनेपर माग बढनी चाहिए और पूर्ति घटनी चाहिए। मूल्यके अधिक होनेपर माग घटनी चाहिए और पूर्त्ति बढनी चाहिए।

खाटकी माग और पूर्तिकी एकत्रित तालिका

मागकी मात्राए (मन)	मूल्य (रुपये)	पूर्तिकी मात्राए (मन)
२००	५०	४,०००
३००	४६	३,८००
५००	४८	३,५००
१,०००	४७	३,०००
१,६००	४६	२,५००
२,०००	४५	२,०००
२,५००	४४	१,६००
३,०००	४३	१,०००

मान लीजिए कि मूल्य ४७ रुपये मन है। इस मूल्यपर माग १,००० मनकी होगी और पूर्ति ३,००० मनकी। इस मूल्यपर मागके परिमाणसे पूर्तिका परिमाण अधिक होनेके कारण विक्रेताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा होगी। अतएव वे मूल्य कम करके ग्राहकोको अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टा करेंगे। इस परिस्थितिमें ग्राहकलोग मूल्यके और भी गिरनेकी आशामें वस्तु खरीदना स्थगित करदेंगे परन्तु मूल्यकी हर कमीके साथ कुछ लोग खरीदनेके लिए उद्यतहो जायेंगे। दूसरीओर मूल्यके घटनेसे पूर्तिकी मात्रामें कमी होती जायेगी क्योकि मूल्य घटते घटते कुछ विक्रेताओंके पूर्वनिर्धारित न्यूनतम मूल्यसे कम हो जायेगा। यह क्रिया तब तक होती रहेगी जबतक मूल्य ४५ रुपये प्रतिमन नही होजाता। विक्रेता इसमर्म सेल्य क न करेंगे क्योकि इस मूल्यपर जितना वे बेचना चाहते है, उसके लिए उन्हें ग्राहक मिल जायेंगे। इसीप्रकार यहभी प्रदर्शित किया जासकता है कि मूल्य ४५ रुपये प्रतिमनसे कम नही होसकता। मानलीजिए मूल्य ४३ रुपये मन है। इस मूल्य पर विक्रेता १,००० मन बेचना चाहते हैं और ग्राहक ३,००० मन लेना चाहते हैं।

इस मूल्य पर मागसे पूर्ति कम होनेके कारण ग्राहकोंकी प्रतिस्पर्धाके फलस्वरूप मूल्यमें ४३ रुपये मनसे अधिक होनेकी प्रवृत्ति हो जायेगी। मूल्य बढनेसे माग कम होती चली जायेगी और पूर्ति बढती चली जायेगी। यह क्रिया तबतक बन्द न होगी जबतक कि मूल्य ४५ रुपये मन नही होजाता। ग्राहकोमें प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढने और विक्रेताओंमें प्रतिस्पर्धाके कारण मूल्य घटनेकी प्रवृत्ति होजाती है। सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि सीमान्त विक्रेता बेचनेके लिए उद्यत होजाते हैं। सीमान्त विक्रेता वह विक्रेता है जो किसी विशेष मूल्य पर केवल बेचने मात्रके लिए तैयार हो पाता है और सीमान्त ग्राहक वह ग्राहक है जो किसी विशेष मूल्य पर खरीदने मात्रके लिए तैयार हो पाता है। इस प्रकार हर मूल्यके लिए सीमान्त विक्रेता और सीमान्त ग्राहक होंगे। सन्तुलन उस मूल्य पर स्थापित होगा जो उस मूल्यके सीमान्त विक्रेताओं और सीमान्त ग्राहकोंको अभीष्ट होगा। कारण यह है कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एक बाजारमें एकही वस्तुका एकही मूल्य होना आवश्यक है।

ज्यामितिकी सहायतासे सन्तुलन क्रियाको निम्नलिखित ढगसे दर्शाया जा सकता है:
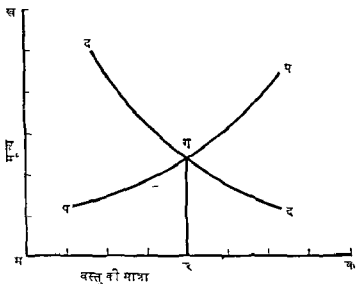
'म ख' रेखापर मूल्य दिखाया गयाहै और 'म क' रेखापर माग तथा पूर्ति। माग रेखाका आकार 'द, द' रेखाके समान होगा और पूर्ति रेखाका 'प, प' रेखाके समान क्योंकि मूल्यके घटनेसे माग बढती जाती है और पूर्ति घटती है। सन्तुलन, 'ग' स्थान पर स्थापित होगा, जिस स्थानपर ये दोनो रेखाए परस्पर एक दूसरेको काटती है। इस चित्रमें माग रेखा नीचेकी ओर गिर रही है और पूर्ति रेखा ऊपर की ओर चढ रही है। परन्तु ऐसीभी स्थिति होसकती है कि पूर्ति रेखाभी नीचेकी ओर गिर रही हो। ऐसा तब होताहै जब किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत ह्रासनियम लागू होरहा हो। उससमय इन रेखाओंका आकार इसप्रकार होगा:
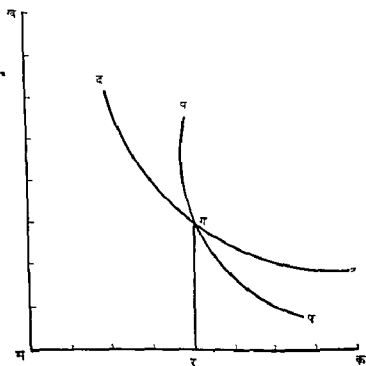
परन्तु अबभी सन्तुलन उसी स्थानपर स्थापित होगा जिसपर ये दोनो रेखाएं आपसमें एक दूसरेको काटती हो।

अल्पकाल, एकाधिकार और मूल्य

एकाधिकारसे हमारा अभिप्राय विक्रेताओंके एकाधिकारसे है अर्थात् वस्तु-विशेष का बाजारमें केवल एकही विक्रेता हो। जब एकही वस्तुके दो विक्रेता हो तो उसे द्वयाधिकार कहते है और जब दो से अधिक थोडेसे विक्रेता हो तो उसे बहुधाधिकार कहाजाता है।

एकाधिकारमें विक्रेता पूर्ति अथवा मूल्यमें से एकका नियन्त्रण करसकता है। यदि वह कृत्रिम नियन्त्रणो द्वारा पूर्तिमें कमी करता है तो वस्तुका मूल्य उस स्थितिसे अधिकही होगा जबकि वह पूर्ण पूर्तिको बाजारमें उपस्थित होने देता है। एकाधिकारी विक्रेताका उद्देश्य अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त करना होता है। वह मागकी लोच इत्यादिका अध्ययन करके मूल्य इसप्रकार निश्चित करताहै कि उसे अधिकतम शुद्ध लाभ मिलसके। मूल्य बढ़ाने से मागमें कमीतो अवश्य होतीहै परन्तु जब तक मागकी इस कमीसे होनेवाली हानि अधिक मूल्यके कारण मिलनेवाले लाभसे कम रहती है तबतक मूल्य बढनेमें उसका क्षेम निहित है। यदि मूल्य वृद्धिके कारण मागमें कमी आजानेसे होनेवाली हानि मूल्य-वृद्धिसे मिलनेवाले लाभके परिमाणसे अधिकहो तो ऐसी परिस्थितियो में एकाधिकारीके कुल शुद्ध लाभमें कमी आजायेगी। अतएव उसको अधिकतम शुद्ध लाभ उस मूल्यपर प्राप्त होगा जहापर मागकी कमी से होनेवाली हानि मूल्य वृद्धिसे होनेवाल लाभके सम हो। मानलीजिए किसी वस्तु की प्रत्येक इकाई पर एकाधिकारी की लागत ३ रुपए है और विविध मूल्योपर बिकनेवाली मात्राए इसप्रकार है:

मूल्य प्रत्येक इकाई	लागत प्रत्येक इकाई	लाभ प्रत्येक इकाई	बिक्री की मात्रा	कुल शुद्ध लाभ
१८)	३)	१५)	३००	४५००)
१६)	३)	१३।	५००	६,५००)
१४)	३।	११)	७००	७,७००)
१२)	३)	६)	६००	८,१००)
१०)	३)	७)	१,१००	७,७००।

८)	३।	५)	१,३००	६,५००)
६)	३)	३)	१,५००	४,५००)

जब मागकी तालिका उपरिलिखित प्रकारसे हो तो अधिकतम लाभकारी मूल्य १२ रुपये है क्योंकि इस मूल्यपर उसे अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त होता है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मूल्य

हम लिखचुके है कि प्रतिस्पर्धा उससमय अपूर्ण समझी जातीहै जब ग्राहक वस्तु विशेषको न्यूनतम मूल्यपर बेचनेवाले विक्रेतासे नही लेते है। कई ग्राहक किसी विशेष विक्रेतासे वस्तु अधिक मूल्य देकरभी लेनेको इसलिए उद्यत रहते है क्योकि वह विक्रेता वस्तुके साथ साथ कुछ ऐसी सेवाएभी ग्राहकों को उपलब्ध करता है। जो उनको अभीष्ट है। इसके उदाहरण हम प्रतिस्पर्धाके अध्यायमें देचुके है। उसी अध्यायमें यहभी बताया जाचुका है कि बहुधा विक्रेता लोग विज्ञापन तथा व्यापार चिह्नो द्वारा ग्राहकोंके मनमें वास्तविक या काल्पनिक गुणोंके कारण अपनी वस्तुके लिए विशेष श्रद्धा उत्पन्न करनेमें समर्थ होजाते है। इस कारण भिन्न भिन्न चिह्नो वाली एकही वस्तुका न्यूनाधिक मूल्य लिया जासकता है। ऐसी विशेष चिह्नवाली वस्तुका विक्रेता एकाधिकारीके समान अपनी वस्तुका मूल्य निश्चित तो करसकता है परन्तु उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओंका अस्तित्व उसके द्वारा निश्चित मूल्यपर बिकनेवाली वस्तुकी मात्राको नियन्त्रित किये रहता है। यदि इस वस्तुको बेचनेवाले थोडेसे ही विक्रेता हो और उनमें से एक विक्रेता अधिक मात्रामें बेचने के लिए अपनी वस्तुका मूल्य कम करदे तो उसके प्रतिस्पर्धी भी अपने ग्राहक खोदेने के भय से अपना मूल्य कम करदेनेकी सोचेंगे। ऐसा होनेपर वह मूल्यको कम करके भी अपनी वस्तुकी मागमें अधिक मात्रामें वृद्धि करनेमें समर्थ न हो पायेगा। इसके अतिरिक्त अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मागकी लोच पूर्ण पतिस्पर्धा की दशा की अपेक्षा बहुत कम होती है। अतएव वस्तुको पहिलेसे अधिक मात्रामें बेचनेके लिए मूल्यमें अधिक कमी करनी पड़ती है। इन कारणोंसे ऐसी वस्तुका एक बार ऐसा मूल्य स्थापित होजानेसे जिसपर कि वह पर्याप्त मात्रामें बिक रहीहो विक्रेता लोग मूल्य परिवर्तनसे बहुत घबराते है अन्यथा विक्रेताओ में मूल्य घटानेकी प्रति-

स्पर्धा यहातक बढ़ सकती है कि अन्ततोगत्वा सभीको हानि उठानेके कारण पश्चात्ताप करना पड़। इसलिए ऐसी वस्तुओंके मूल्य प्राय: दीर्घकालके लिए स्थापित होजाते हैं।

बाजार-मूल्य और सामान्य-मूल्य

बाज़ार-मूल्य माग और पूर्तिके सन्तुलनसे स्थापित होता है। ऊपरकी पक्तियों में यह दिखलाया जाचका है। परन्तु इस प्रकरणमें यह मानलिया गयाथा कि किसी निश्चित उपभोग कालके लिए पर्याप्त मात्रामें उपभोग वस्तुए उपलब्ध हैं। दीर्घ काल में स्थापित होनेवाले मूल्यको सामान्य मूल्य या प्राकृतिक मूल्य कहते हैं। यह केवल बाज़ारमें उपस्थित माग और पूर्तिके सन्तुलनसे नहीं परन्तु उत्पादन और उपभोगके सन्तुलनसे स्थापित होता हैं। उत्पादनका सम्बन्ध उत्पादन-व्यय से होनेके कारण इस सन्तुलनके अध्ययनके लिए हमें उत्पादन-व्ययको ध्यानमें रखना होगा। इसके अतिरिक्त उत्पादक उत्पादन कार्यमें लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से सलग्न होता है। इसलिए हमें उत्पत्तिसे प्राप्त होनेवाली उत्पादककी आयपर औरभी ध्यान देना होगा। इस सम्बन्धमें सीमान्त उत्पादन-व्यय तथा सीमान्त-आयकी परिभाषाओंसे परिचय प्राप्त करना होगा। किसी वस्तुकी एक और इकाईके उत्पादनसे कुल व्ययमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त व्यय और किसी वस्तुकी एक और इकाई बेचनेसे कुल आयमें जो वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त आय कहते हैं। ये परिभाषाए नीचे दीहुई तालिकाओंसे भलीप्रकार समझमें आजायेंगी :

उत्पत्ति की मात्रा इकाइया	उत्पादन-व्यय प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल उत्पादन व्यय (रुपये)	सीमान्त उत्पादन-व्यय (रुपये)
१	१०)	१०)	...
२	८)	१६)	६)
३	७।	२१)	५)

४	७)	२८)	७)
५	८)	४०)	१२)
६	९)	५४)	१४)
७	१०)	७०)	१६)
८	११)	८८)	१८)

एक इकाईके उत्पन्न करनेके अनन्तर दूसरी इकाई उत्पन्न करनेके लिए ६ रुपये अधिक व्यय करना पडते हैं। इसलिए ६ रुपया दूसरी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ। इसीप्रकार अगली इकाइया उत्पन्न करनेके अनन्तर छठी इकाई उत्पन्न करनेके लिए हमें १४ रुपये अधिक व्यय करने पडते हैं। इसलिए १४ रुपया छठी इकाईका सीमान्त उत्पादन व्यय हुआ।

अब आयको ले लीजिए :

वस्तु की मात्रा इकाइया	मूल्य प्रत्येक इकाई (रुपये)	कुल आय (रुपये)	सीमान्त आय (रुपये)
१	१८)	१८)	...
२	१६)	३२)	१४)
३	१४)	४२)	१०)
४	१२)	४८)	६)
५	१०)	५०)	२)
६	९)	५४)	४)
७	८)	५६)	२)
८	७॥)	५८)	२)

तीन वस्तुओंके अनन्तर चौथी वस्तु बेचनेसे उत्पादकको ६ रुपये अधिक प्राप्त होतेहैं इसलिए ६ रुपये चौथी वस्तुकी सीमान्त आय हुई। इसीप्रकार ६ वस्तुओंके बेचनेके उपरान्त सातवीं वस्तु बेचनेसे २ रुपये अधिक आय हुई। इसलिए २ रुपये सातवीं वस्तुकी सीमान्त आय हुई।

स्मरण रहे कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय वस्तुकी प्रत्येक इकाईके लिए निर्धारित किये जासकते हैं।

औसत उत्पादन-व्यय और औसत आय

औसत उत्पादन-व्यय निकालनेके लिए कुल व्ययको कुल उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रासे और औसत आयको निकालने के लिए कुल आयको कुल वस्तुओंकी मात्रासे भाग देदिया जाता है। स्पष्ट है कि औसत आय और मूल्य एकही समान होंगे।

यदि किसी वस्तुके उत्पादनमें व्ययका क्रमागत-ह्रास-नियम लागू होरहा हो तो उस वस्तुकी अधिक मात्रामें उत्पत्ति किए जानेपर सीमान्त उत्पादन व्यय कम होता जायेगा और उस वस्तुके व्ययका क्रमागत-वृद्धि-नियम अनुपालन करनेपर अधिक मात्रामें उत्पत्ति होने पर सीमान्त उत्पादन व्ययभी अधिक होता जायेगा।

यदि अल्पकाल में निर्धारित मूल्य द्वारा उत्पादकको हानि होरही हो या यथेष्ट लाभ प्राप्त न होरहा हो, तो वह भविष्यमें होनेवाली पूर्तिकी मात्राको भविष्यकी मांगके अनुसार न्यूनाधिक करनेका प्रयत्न करके अधिकसे अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेगा।

दीर्घ कालमें मूल्यका सन्तुलन उससमय होगा जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त उपयोगिता सम होजाये अथवा जब सीमान्त उत्पादन व्यय और मांग द्वारा निर्धारित मूल्य सम होजाये। प्रत्येक उत्पादकका चरम उद्देश्य अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करना अथवा अपनी हानिको न्यूनतम करना होता है। यह उसी समय होसकता है जबकि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें क्योंकि जबतक सीमान्त आय सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक रहेगी, उत्पादक अधिक मात्रामें उत्पन्न करके कुल लाभको बढानेमें अथवा कुल हानिको घटाने में समर्थ होसकेगा। ज्यामितिकी परिभाषामें कहा जासकता है कि उत्पादक उस बिन्दु तक उत्पन्न करता रहेगा जिसपर कि सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरेको काटती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा, अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और पूर्ण एकाधिकार तीनो स्थितियोंमें दीर्घकालीन पूर्ति इस नियम द्वारा नियमित रहेगी।

यदि पूर्ण प्रतिस्पर्धा होगी तो उत्पादक बहुतसे होंगे और सबके सब एकही

मूल्यपर बेचेंगे। यह मूल्य सब उत्पादकोंकी कुल पूर्ति और सब ग्राहकोंकी कुल मांगसे निर्धारित होगा। यदि इस प्रकारसे निर्धारित मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय से अधिक होगा तो नये उत्पादक लाभ उठानेकी इच्छासे इस वस्तुको उत्पन्न करना आरम्भ करदेंगे अथवा पुराने उत्पादक अधिक मात्रामें वस्तु उत्पन्न करके अधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करेंगे। इसप्रकार वस्तुकी अधिक मात्रामें पूर्ति होनेसे मूल्य कम होने लगेगा और सन्तुलन उससमय स्थापित होगा जब प्रत्येक उत्पादकका सीमान्त उत्पादन व्यय और वस्तुका मूल्य समान हो जायेगा। सीमान्त उत्पादन व्यय का सीमान्त आयके सम होना अनिवार्य है अतएव पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मूल्यभी इन दोनोंके बराबर होगा। इस सम्बन्धको नीचे दिये गये रेखाचित्र द्वारा दिखाया गया है.
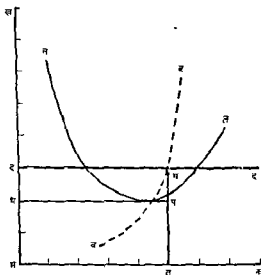
म क रेखा वस्तुका परिमाण बताती है और म ख रेखा पर उसका मूल्य, आय और व्यय सूचित किये गये हैं। द द रेखा मांगकी रेखा है। जैसाकि पहिले बताया जाचुका है पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें औसत आय वस्तुके मूल्यके बराबरही रहती है। प्रत्येक विक्रेताकी सीमान्त आयभी मूल्यके ही समान होगी क्योंकि वह अपनी

उत्पत्तिकी प्रत्येक इकाईसे मूल्यके समानही आय प्राप्त करता है। अतएव द द रेखा माग, सीमान्त आय और औसत आयकी द्योतक है। ल ल रेखा औसत व्ययकी रेखा है और ब ब रेखा तत्सम्बन्धी सीमान्त व्ययकी रेखा है। सीमान्त व्ययकी रेखा ब ब सीमान्त आयकी रेखा द द को ग बिन्दु पर काटती है। अतएव म त उत्पादनकी मात्रा होगी। इस परिस्थितिमें कुल उत्पादन व्यय म त प थ और कुल आय म त ग द होगी और प ग द थ अतिरिक्त लाभ होगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी परिस्थितिमें यह अवस्था स्थायी नही रहसकती क्योकि इसमें नये उत्पादको के आनेकी और पुराने उत्पादको के उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। इसके फलस्वरूप उस वस्तुका मूल्य गिरने लगेगा और तबतक गिरता जायेगा जबतककि अतिरिक्त लाभ लुप्त न होजाये। यह उसी दशामें होगा जहापर औसत आय रेखा द द औसत व्यय रेखा ल ल पर स्पर्श रेखा बन जाती है। स्पष्ट है कि यह बिन्दु ल ल रेखा पर सबसे नीचा बिन्दु होगा और यहीपर सीमान्त व्यय रेखा भी औसत व्यय रेखाको काटेगी। इस परिस्थितिमें रेखाचित्र इस प्रकार का होगा:
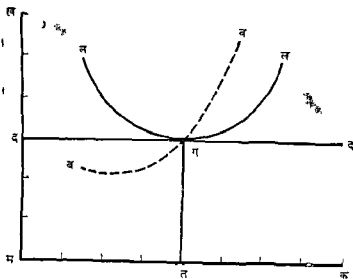
एकाधिकारी को यह सुविधा प्राप्त है कि वह अधिकसे अधिक लाभ उठानेके लिए न केवल उत्पत्तिकी मात्राको न्यूनाधिक करके उत्पादन व्ययको न्यूनाधिक

करसकता है परन्तु मात्राको न्यूनाधिक करके वस्तुके मूल्य तथा अपनी औसत आयको भी न्यूनाधिक कर सकता है। वह उत्पादन तो उतनी मात्रा में करेगा कि सीमान्त उत्पादन व्यय और सीमान्त आय सम होजायें। परन्तु वह उस मूल्य पर बेच सकेगा जहांपर उसकी बिक्रीके लिए लायी गयी वस्तुका परिमाण मांगके परिमाणके सम हो। यदि वह अधिक मात्रामें बेचना चाहताहो तो उसको कम मूल्य प्राप्त होसकेगा और कम मात्रामें बेचनेपर वह अधिक मूल्य प्राप्तकर सकेगा। यह मूल्य सदैव सीमान्त उत्पादन व्ययसे और फलत: सीमान्त आयसे अधिक होगा। एकाधिकारीकी औसत आय सीमान्त आयसे सदैव अधिक होगी। ज्यामितिकी परिभाषामें एकाधिकारकी दशामें सीमान्त आयरेखा औसत आय रेखा से सदैव नीचे रहेगी क्योंकि एकाधिकारीको अधिक बेचनेके लिए अपने मूल्यको कम करना पड़ता है। स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी अवस्थामें एक उत्पादक अधिक मात्रा को भी पूर्वनिर्धारित मूल्यपर बेच सकता है। इसीलिए उसकी औसत आय रेखा और सीमान्त आय रेखा एकही होती है। नीचे दिये गये रेखाचित्रमें एका-धिकार की अवस्थामें मूल्य निर्धारण क्रियाको दिखाया गया है ‧
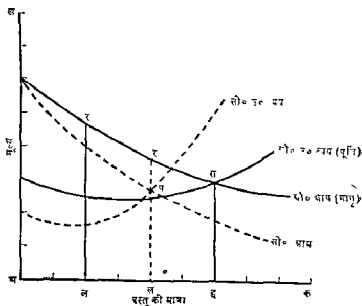
विविध रेखाए और उनके नाम ऊपर दियेगये हैं 'प' बिन्दुपर सीमान्त उत्पादन व्यय रेखा और सीमान्त आय रेखा परस्पर एक दूसरे को काटती है। एकाधिकारीको लाभ इस वस्तुकी म ल मात्रा उत्पन्न करनेमें है और इस मात्रा पर उसका मूल्य ल र होगा जो माग द्वारा निर्धारित होगा। चित्रसे विदितहै कि एकाधिकारीका अधिकतम लाभ वस्तुको अधिकसे अधिक मूल्यपर बेचनेमें नही होता जैसा कि साधारणतया लोग समझते है। रेखाचित्र में मूल्यको ल र से ल' र' करने पर उसकी बिक्री म ल' रह जायेगी। यहा पर उसकी सीमान्त आय उसके सीमान्त व्यय से अधिक है। अतएव अपने कुल लाभको अधिकतम करनके लिए एकाधिकारीकी प्रवृति अपनी उत्पत्तिकी मात्रा म ल' से बढानेकी होगी और यह वृद्धि करने की प्रवृत्ति उस परिमाण तक बनी रहेगी जहा पर सीमान्त आय और सीमान्त व्यय सम होजायें। रेखा-चित्रमें यह 'प' बिन्दु है।

स्पष्ट है कि मूल्य बढनसे यद्यपि प्रत्येक इकाई पर लाभ अधिक होता है परन्तु कुल लाभ कम होजाता है। इसीप्रकार म ल' से अधिक मात्रा उत्पन्न करनेपर एकाधिकारीको तबतक लाभ मिलता रहेगा जबतक कि औसत आय या मूल्य औसत व्ययसे अधिक रहेगा। परन्तु उसे अधिक से अधिक कुल लाभ म ल मात्रा उत्पन्न करने पर ही मिलेगा। रेखाचित्रके अनुसार म ह परिमाण तक एकाधिकारी को लाभ होताहै परन्तु अधिकतम लाभ म ल परिमाण परही होगा। अतएव यदि एकाधिकारीने म ल से अधिक मात्रामें उत्पत्ति करली हो तो उसका क्षेम उसको कम करके म ल तक लानेमें होगा क्योंकि इस परिमाणके बाद सीमान्त व्यय सीमान्त आयसे अधिक रहता है।

यदि यह मानलिया जाये कि एकाधिकारीकी पूर्ति रेखा प्रतिस्पर्धी उत्पादकोंके औसत उत्पादन व्यय की सहायतासे बनायी हुई पूर्ति रेखाके समानहोगी तो प्रतिस्पर्धाकी दशामें उत्पत्तिकी मात्रा म ह और मूल्य स ह होगा। विदित है कि प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें एकाधिकार की स्थितिसे उत्पत्तिकी मात्रा अधिक होगी और मूल्य कम।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता अपनी विशेष व्यापार चिह्नवाली वस्तुका अथवा बाजारके अपने भागमें एकाधिकारी सा होता है। इसलिए उसकी वस्तुके लिए माग रेखाके पूर्ववत् रहने पर सन्तुलन उसी प्रकार

स्थापन होनाहै जैसेकि एकाधिकारकी स्थिति में। अन्तर केवल इतना है कि इस स्थिति में नये उत्पादक उस वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुके निर्माणमें सलग्न होकर वस्तुकी पूर्ति पर प्रभाव डाल सकते है। एकाधिकारकी स्थितिमें ऐसा सम्भव नही है क्योंकि उस स्थितिमें स्थानापन्न वस्तुओंका अभाव मान लिया जाता है।

द्वयाधिकार तथा बहुवाधिकारकी परिस्थितिमें वस्तुका मूल्य साधारणत: तबतक निर्धारित नही किया जासकता जब तक कि उत्पादक बाजारको मागोंमें विभाजित करके अपने विशेष भागमें वस्तु बेचनेका अथवा वस्तुकी कुल उत्पत्तिमें से पहिलेसे ही निश्चित विशेष भागके उत्पन्न करनेका परस्पर समनुबन्ध न करले। इस स्थिति में प्राय: घातक प्रतिस्पर्धाके अनन्तर ऐसे उत्पादको को हानिसे बचनेके लिए ऐसा समनुबन्ध करनाही पडता है।

सम्मिलित उत्पत्ति और मूल्य

कई एक वस्तुए सम्मिलित रूपमें ही उत्पन्न की जासकती है; पृथक पृथक नही। जैसे गेहू और भूसा एकही साथ उत्पन्न होते है। ऐसी सम्मिलित उत्पतिकी दशामें प्रत्येक वस्तुका सीमान्त या औसत उत्पादन व्यय निकालना कठिन होजाता है। इस प्रकार सम्मिलित दशामें उत्पन्न होनेवाली वस्तुओका सन्तुलन उस समय स्थापित होगा जबकि उन वस्तुओकी उत्पत्ति उस मात्रामें होगी कि उन वस्तुओंसे मिलनेवाली सीमान्त आय मिलकर उनके सम्मिलित सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाय। यदि उनमें किसीभी वस्तुकी मागमें परिवर्तन होना है तो उन सबकी उत्पत्तिकी मात्रामें परिवर्तन द्वारा नया सन्तुलन स्थापित होगा।

सम्मिलित माग

कभी कभी दो या दो से अधिक वस्तुओंकी माग साथ साथ घटती बढती है। ऐसी स्थितिमें उनके मूल्यभी साथ ही साथ घटते बढते है। परन्तु यदि उनमेंसे एक वस्तुका मूल्य उस वस्तुकी पूर्तिमें न्यूनता या आधिक्यके कारण बढे या घटे तो

दूसरीके मूल्यमें पहिलीसे विपरीत दिशामें परिवर्तन होगा। चाय की पूर्ति अधिक होने से चायका मूल्य कम होगा। परन्तु खाडकी पूर्ति पूर्ववत् रहने पर उसकी माग बढनेसे उसका मूल्य अधिक होजायेगा। इसके अतिरिक्त यदि सम्मिलित माग वाली दो वस्तुओं में से पहिलीका केवल एकही प्रयोग हो और दूसरीके बहुतसे प्रयोग हो तो मागके परिवर्तनसे पहिली वस्तुके मूल्यपर दूसरी वस्तु के मूल्यसे अधिक प्रभाव पडेगा। ऐसी स्थिति प्राय: उस समय देखनेमें आतीहै जब उपभोग्य वस्तुकी माग बढनेसे उसके उत्पादन में काम आने वाले साधनोकी माग भी बढती है। पावरोटी की माग बढने से गेहू और पावरोटी बनानेवालोकी माग बढेगी। परन्तु गेहू के पावरोटी बनानेके अतिरिक्त औरभी बहुतसे प्रयोग होनेके कारण उसके मूल्यमें विशेष परिवर्तन न होगा। परन्तु रोटी बनानेवालो का श्रम विशिष्ट और कुशल होनेके कारण उसका मूल्य बहुत बढ जायेगा। अर्थात् उनकी मजूरी अधिक होजायेगी।

एक वस्तु के भिन्न भिन्न मूल्य

कभी कभी उत्पादक विशेषकर एकाधिकारी भिन्न भिन्न प्रकारके ग्राहकोसे या भिन्न भिन्न बाजारो में एकही वस्तुके भिन्न भिन्न प्रयोगोंके लिए भिन्न भिन्न मूल्य लेते है। जैसे कई उत्पादक अपने देशमें वस्तु महगी और विदेशमें सस्ती बेचते है। बिजली का किराया रोशनीके लिए पृथक और औद्योगिक प्रयोगोंके लिए पृथक दरसे लिया जाता है। उत्पादक का प्रयत्न यह रहता है कि जिस बाजारमे मागकी लोच कम हो और सीमान्त आय बडी शीघ्रतासे गिरती चली जातीहो उस बाजारमें वस्तु कम मात्रामें बेचे। इसके विपरीत जिस बाजारमें माग तथा उसकी लोच अधिकहो उसमें सीमान्त आयभी अधिक होती है। उस बाजारमें वह वस्तुको अधिक मात्रामें बेचता है। दोनो बाजारो में वह अपनी बिक्रीको इसप्रकार विभाजित करेगा कि उसकी दोनो बाजारोमें सीमान्त आय उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये।

८

प्रतिस्थापना

प्रतिस्थापना का महत्व

आधुनिक अर्थशास्त्रमें प्रतिस्थापनाको विशेष महत्व प्राप्त है। तटस्थ रेखाओं द्वारा अर्थशास्त्रीय समस्याओं का विश्लेषण प्रचलित होनेके कारण पुराने सीमान्त उपयोगिता विश्लेषण का लोपसा होता जारहा है। तटस्थ रेखाओंके अध्यायमें हम देखचुके हैं कि हिक्स इत्यादि अर्थशास्त्री सीमान्त उपयोगिताके स्थानपर सीमान्त स्थानापन्नताको दरका प्रयोग करते हैं।

वास्तवमें प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थितिके नियम भिन्न भिन्न नहीं है; परन्तु एकही नियमके दो भिन्न भिन्न नाम है। तटस्थ-स्थितिका नियम सन्तुलनकी अवस्थामें लागू होताहै और प्रतिस्थापना का नियम सन्तुलनसे भिन्न अवस्थामें।

प्रतिस्थापना और तटस्थ-स्थिति

मनुष्यकी आवश्यकतायें बहुत है। परन्तु हर आवश्यकता को तृप्त करनेके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके साधन भी है। इस प्रकारके साधन जो एकही आवश्यकताको तृप्त करनेमें एक दूसरेका प्रतिस्थापन कर सकतेहों, स्थानापन्न साधन कहे जासकते हैं। जब किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिए इस प्रकारके स्थानापन्न साधन उपलब्ध हों और उनमें से प्रत्येक साधन प्रचलित मूल्योंपर एकही जैसी तृप्ति देनेवाला हो तब उनमेंसे किसी एकका भी प्रयोग करनेके लिए मनुष्य तटस्थसा रहता है। इनमें से किसी साधनका प्रयोग करनेकी ओर उसकी विशेष प्रवृति नहीं होती। यह तटस्थ स्थितिका नियम है। परन्तु संसारकी आर्थिक स्थिति सदैव एकसी नहीं रहती। समय समयपर उसमें परिवर्तन होते रहते है और उपलब्ध साधनोंमें से कोईएक उसके सापेक्ष मूल्यमें कमीके कारण अन्य सबसे उत्तम होजाता है और

इस कारण वह अन्य सब साधनो का प्रतिस्थापन करने लगता है। यह प्रतिस्थापना का नियम है।

दो प्रकार की स्थानापन्न वस्तुए

प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुए या साधन दो प्रकारके होते है। मूल्यो को ध्यानमें रखते हुए कुछतो प्रयोग की जानेवाली वस्तुके समान अथवा उससे अधिक तृप्ति-दायक होती है। जैसे विद्युत-शक्ति और मिट्टीका तेल दोनो प्रकाशका गुण रखनेके कारण एक दूसरेका प्रतिस्थापन करसकते है परन्तु विद्युत-शक्ति, उसके मूल्यको ध्यानमें रखते हुए अधिक तृप्ति प्रदान करती है। कभी कभी एक वस्तु किसी विशेष उद्देश्यके लिए उत्तम होती है और उसका प्रतिस्थापन करनेवाली दूसरी वस्तु किसी दूसरे उद्देश्यके लिए, जैसे मनुष्य के लिए गेहू उत्तम है परन्तु घोडो के लिए चने।

मूल्योका ध्यान रखतेहुए कुछ वस्तुए प्रयोग कीजाने वाली वस्तुसे कम तृप्ति देती है। जैसे शुद्ध घी और बनस्पति घी। ऐसी वस्तुओ का प्रयोग मनुष्य विवश होकरही करता है स्वतन्त्रतासे नही। शुद्ध घी का मूल्य बहुत बढजाने के कारण लोग भलेही बनस्पति घी का प्रयोग प्रारम्भ करदें परन्तु जिनकी आय पर्याप्त है वह शुद्ध घी का ही प्रयोग करेंग। अथवा उत्तम वस्तुकी पूर्तिमें कमीके कारण भी हीन वस्तुओ का प्रयोग आवश्यकसा होजाता है। जैसे हमारे देशमें अन्नकी न्यूनता के कारण बहुतसे लोग गेहू के स्थान पर जौ, चने इत्यादि को प्रयोगमें लान लग गये है। एसी घटिया वस्तुओकी एक उपयोगिता यहभी है कि बहुत से लोग जो उत्तम वस्तुके बहुमूल्य होनके कारण उसका प्रयोग करनेमें असमर्थ थे, मूल्य कम होजाने से घटिया वस्तुका प्रयोग करसक्ते है। बहुतसे लोग जो घी का प्रयोग न कर सकते थे, बनस्पति घी का प्रयोग करने लग गये है।

प्रतिस्थापना और मूल्य

स्पष्ट है कि किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करनेवाली वस्तुओ का अस्तित्व उस वस्तुके

मूल्य पर अपना प्रभाव अवश्य डालेगा। बाजार-मूल्य किसी वस्तुकी पूर्ति और मांगके पारस्परिक सन्तुलनसे निर्धारित होता है। पूर्तिसे हमारा अभिप्राय केवल उस वस्तुकी पूर्तिसे ही नही वरन् उन सभी वस्तुओंकी पूर्तिसे है जो उसी आवश्यकता को तृप्त करनेकी सामर्थ्य रखती हो जिसे वह वस्तु तृप्त कर रही हो अर्थात् उस वस्तुका प्रतिस्थापन कर सकती हो। इसप्रकार किसी वस्तुका प्रतिस्थापन करने वाली वस्तुओंका अस्तित्व उस वस्तुकी पूर्ति बढाकर पूर्तिके नियमानुसार उस वस्तुका मूल्य कम कर देता है। किन्तु यह अनिवार्य नही है कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी समस्त पूर्ति वस्तुविशेषकी पूर्तिपर प्रभाव डाले ही। हो सकताहै कि ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंका प्रयोग अन्य आवश्यकताओं की तृप्तिके लिएभी होताहो अथवा पहिली वस्तुका प्रयोग करनेवाले उस वस्तुका अन्य वस्तुओ द्वारा प्रतिस्थाप हितकर न समझते हो और ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंके होतेहुए भी पहिली ही वस्तुका प्रयोग करते रहें। अतएव ऐसी स्थानापन्न वस्तुओंकी पूर्तिका उस वस्तुकी पूर्तिपर केवल आंशिक प्रभावही पडगा और उसी अंशके अनुपातमें उस वस्तुका मूल्यभी कम होगा।

सीमान्त स्थानापन्नता

जब हम आर्थिक उद्देश्योंके बाहुल्य और उन्हें सिद्ध करनेके साधनोंकी न्यूनताके सिद्धान्तको स्वीकार कर लते है तो प्रतिस्थापना का महत्व औरभी अधिक होजाता है क्योंकि इसकी सहायतासे हम साधनोकी न्यूनताको सापेक्ष रूपसे कम करसकते है। मनुष्य का उद्देश्य उपलब्ध साधनों द्वारा अधिकसे अधिक तृप्ति प्राप्त करना है और साधनोंके पारस्परिक प्रतिस्थापनसे हम ऐसी अवस्थाको प्राप्त करसकते है कि विविध साधनोंको इस अनुपातमें प्रयोग करें, जिससे हमें अधिकतम तृप्ति मिले। इस अनुपात में किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेपर हमें प्राप्त तृप्तिमें ह्रास ही होगा। यह सत्यहै कि किसी एकवस्तु अथवा साधनका उससे सर्वथा भिन्न वस्तु अथवा साधन द्वारा प्रतिस्थापन कियाजाना सम्भवसा प्रतीत नहीं होता विशेषकर उस अवस्थामें जबकि प्रतिस्थापन के अनन्तर भी हमें पहिलेके समानही तृप्ति पाने की इच्छा हो। परन्तु किसी वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धिका किसी सर्वथा

भिन्न वस्तु अथवा साधनकी सीमान्त वृद्धि द्वारा, सम तृप्ति की उपलब्धि या नियन्त्रण होतेहुए भी, प्रतिस्थापन कियाजाना असम्भव नही। ऐसातो सदैव होता ही रहता है।

प्रतिस्थापना और उपभोग

घरेलू आय-व्ययके सम्बन्धमें हम समसीमान्त उपयोगिता नियमका उल्लेख करही चुके है। मनुष्य अपनी सीमित आयको अपने उद्देश्योकी पूर्त्तिके लिए विविध प्रकार के साधनो अथवा वस्तुओपर व्यय करता रहता हैं। और इस व्ययसे उसे कुछ तृप्ति प्राप्त होती रहती है। परन्तु उसका लक्ष्य अपनी सीमित आयसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करना है। इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए वह एकवस्तु या साधनका दूसरी वस्तु या साधनके स्थानपर प्रतिस्थापन करता रहता है। एक समय आता है जबकि प्रत्येक वस्तु या साधनपर किये जानेवाले सीमान्त व्ययसे प्राप्त होनेवाली तृप्ति सम होजाती है। यह वह स्थितिहै जिसमें उसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य तटस्थ अवस्थापर पहुचनेके लिए प्रतिस्थापना द्वारा अपने विविध प्रकारके व्यय न्यूनाधिक करता रहता है।

प्रतिस्थापना और उत्पादन

प्रतिस्थापना का सिद्धान्त केवल घरेलू आय-व्ययसे अधिकतम तृप्ति प्राप्त करने तक ही सीमित नही है वरन् हर प्रकारकी आर्थिक घटनाओका प्रतिस्थापना से घनिष्ट सम्बन्ध है। वस्तुओका पारस्परिक विनिमय प्रतिस्थापना का ही रूपान्तर है। उत्पादन और वितरणमें तो प्रतिस्थापनासे बहुतही काम पड़ताहै। इस स्थानपर इतना कहदेना आवश्यक है कि प्रतिस्थापनासे हमारा अभिप्राय प्रायः सीमान्त प्रतिस्थापना सेही होता है। उत्पादन को ले लीजिए। किसीभी उत्पादन के साधन का किसीभी उत्पादन की योजनासे पूर्णतया लोप करना सम्भव नही परन्तु उनमें से किसी एकके विशेष अशका किसी दूसरेके विशेष अशसे प्रतिस्थापन किया जा सकता है। जब किसी साधनकी पूर्ति न्यून होने लगतीहै तो उसका मूल्य बढ जाने

के कारण उसका प्रतिस्थापन करनेवाले साधन का प्रयोग आरम्भ होने लगता है। पहिले साधनोंकी माग कम होनेसे उसका मूल्य गिरने लगताहै और स्थानापन्न साधनकी माग बढनेसे उसका मूल्य बढने लगता है और प्रतिस्थापन तबतक होता रहताहै जबतक कि उक्त साधनो द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राओ और उनके मूल्योमें एकसा अनुपात नही होजाता है।

वैसेभी उत्पादक अधिकतम उत्पत्ति करनेके लिए प्रयुक्त साधनोके पारस्परिक अनुपातमें परिवर्तन करतेही रहते है और इन परिवर्तनों के कारण उत्पादन विधिमें परिवर्तन होते रहते है। इन परिवर्तनोका आधार किसी साधन विशेषकी सीमान्त-वृद्धि द्वारा प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा है। जबतक किसी साधन विशेषसे सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्तिकी मात्रा अन्य साधनो से सम्बन्धित सीमान्त उत्पत्ति की मात्रासे अधिक रहती है, उस साधन विशेषका अधिकाधिक मात्रामें प्रयोग किया जाताहै और अन्य साधनोका कम या उतना हो। यह क्रिया तबतक समाप्त नही होती जबतक हर साधनोके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्रा सम नही होजाती।

प्रतिस्थापना और वितरण

यदि प्रतिस्थापना उत्पादनमें काम आनेवाले विविध साधनोकी मात्रापर प्रभाव डालती है तो इसप्रकार कीगयी उत्पत्तिके वितरण पर अवश्यही प्रभाव डालेगी। जिन साधनोका प्रयोग कम होता जारहा है, उनके भागमें कमी आती जायेगी। यदि श्रमके स्थानपर पूजीका प्रयोग अधिक होने लगेगा तो श्रमजीवियो को वेतन के रूपमें मिलनेवाला उत्पत्तिका भाग पहिलेसे कम होजायगा और पूजीपतियो को ब्याजके रूपमें मिलनेवाला भाग अधिक।

प्रतिस्थापना को एक अन्य दृष्टिसे इसप्रकार भी देखा जासकता है। किसीभी वस्तु अथवा साधनको भिन्न भिन्न प्रकारके प्रयोगो में लगाया जासकता है। इस वस्तु अथवा साधनकी मात्राका इन भिन्न भिन्न प्रयोगो में इसप्रकार वितरण किया जाताहै कि प्रत्येक प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति या उत्पत्ति एकही जैसी होजाय। उदाहरणके लिए भूमिको अनेक कार्योमें लगाया जासकताहै। उसपर

खेतीकी जासकती है, मकान बनवाया जासकता है अथवा सड़क बनवाई जासकती है। इन भिन्न भिन्न प्रयोगोंमें भूमि का वितरण इसप्रकार होगा कि हर प्रयोगसे प्राप्त होनेवाली सीमान्त तृप्ति एकसी होजाये।

प्रतिस्थापना की विरोधी शक्तियां

इसप्रकार तटस्थ स्थिति और प्रतिस्थापना द्वारा मनुष्यका आर्थिक जीवन संगठित होता रहता है। कभी कभी यह नियम स्वयंही हमारे अनजाने में अपना कार्य करते रहते हैं। ऐसा प्रायः वस्तुओंके उपयोगके सम्बन्धमें होताहै। कभी कभी हमें सोच समझकर इनका आश्रय लेना पडता है। ऐसा प्रायः वस्तुओंके उत्पादनके सम्बन्धमें करना पडता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह नियम सदैवही अपना कार्यकर पाते है। इनका विरोध करनेवाली शक्तियोंका भी अभाव नहीं। मनुष्यके स्वभावको ही ले लीजिए। यह सुगमतासे परिवर्तित होनेवाला वस्तु नहीं। मनुष्य जब किसी वस्तुका प्रयोग दीर्घकाल तक करता रहताहै तो उसके स्थानपर किसी दूसरी वस्तुका प्रयोग करना उसकेलिए बहुत कठिन होजाता है; चाहे दूसरी वस्तु के प्रयोगमें उसका लाभही क्यों न हो और ऐसाभी असम्भव नहीं कि समय समय पर उसके स्वभावमें जो स्वयं परिवर्तन होते रहते हैं, वे प्रतिस्थापना के कार्यका विरोध करने लगें। इसके अतिरिक्त सब मनुष्योंके स्वभावभी एकही जैसे नहीं होते। ऐसे मनुष्योंकी भी कमी नहीं जो एक दूसरेका प्रतिस्थापन करनेवाली दो वस्तुओंमें से किसी एकके प्रति विशेष श्रद्धा रखते हों और जबतक उनके मूल्योंमें बडाभारी अन्तर न पडजाय, उसका प्रयोग बन्द न करें। कभी कभी प्रतिस्थापना द्वारा थोडासा ही लाभ प्राप्त होनेके कारण लोग इस क्रियाको आलस्यवश टाल जाते हैं। इसीप्रकार उत्पादनमें भी प्रतिस्थापना पूर्णरूप से कार्य नहीं करपाती। बहुतसे उत्पादक साहससे वंचित होते हैं और अधिक कुशल उत्पादन विधियोंको प्रयोगमें लानेसे हिचकिचाते हैं। अथवा यदि मूल्यमें वृद्धि होनेके कारण उत्पादक पर्याप्त लाभ उठा रहाहो तो प्रतिस्थापना से मिलनेवाले छोटे मोटे लाभोंकी ओर ध्यानही नहीं जाता।

६

आर्थिक सन्तुलन

मूल्यो का पारस्परिक सम्बन्ध

समस्त आर्थिक पद्धतिका भलीभाति विश्लेषण करनेसे यह स्पष्ट रूपसे विदित होजाता है कि हर वस्तु या सेवाका मूल्य अन्य वस्तुओ या सेवाओंके मूल्योंसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपमें सम्बन्धित रहता है अर्थात् हमारी आर्थिक पद्धति परस्पर सम्बन्धित मूल्योकी पद्धति है और इन मूल्योंका पारस्परिक सन्तुलन उपभोक्ताओ द्वारा स्थापित होता है। यह आवश्यक नही है कि क्रय-विक्रय की वस्तुए उपभोग्य पदार्थ ही हो। केवल इतना आवश्यक है कि जन-समुदाय को उनके लेनेकी चाहओ और विभिन्न वस्तुओ अथवा वस्तुसमूहो के लिए चाहके न्यूनाधिक होनेका निश्चय किया जासके। स्मरण रहे कि चाहकी न्यूनाधिकता वस्तुओके मूल्यपर निर्भर नही रहती अर्थात् किसी वस्तुके लिए चाहका उसके मूल्यसे कोईभी सम्बन्ध नही होता।

वस्तुओ के मूल्य उपभोक्ताओ की आयपर निर्भर रहते है और उपभोक्ताओ की आय उत्पादनके साधनोके मूल्य तथा उनके उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त मात्रापर निर्भर रहती है। इसप्रकार न केवल उपभोग्य पदार्थोंके मूल्योमें ही पारस्परिक सम्बन्ध होता है वरन् उत्पादनके साधनो द्वारा प्राप्त सेवाओंके मूल्यभी इन मूल्योसे सम्बन्धित रहते है। वास्तवमें उत्पादनके साधनो द्वारा प्राप्त सेवाओंके मूल्योका निर्धारणभी उसी प्रकार माग और पूर्तिके सन्तुलनसे होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओ का। परन्तु उत्पादको द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले उत्पादनके साधनोकी माग और पूर्तिमें कुछ विशेषताए होती है। उत्पादककी उत्पादनके साधनोंके लिए माग उसकी अपनी आवश्यकताओ की तृप्तिके लिए नही होती बल्कि इसलिए होती है कि वह इनके प्रयोग द्वारा कोई ऐसी वस्तु उत्पन्न करना चाहता है जो कि अन्य लोगोकी किसी

आवश्यकताकी तृप्ति करेगी। वह उत्पन्न वस्तुको बेचकर प्राप्त आयसे अपनी आवश्यकताओ को तृप्त करेगा। यदि उत्पन्न वस्तुके लिए माग बढ जातीहै तो उसकी उत्पादनके साधनोंकी मागमें वृद्धि होना आवश्यक होजाता है। उत्पादक को उत्पादनके साधनोका मूल्य निर्धारित करते समय उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुके मूल्यका ही सहारा लेना पडता है। उत्पन्न वस्तुके मूल्य जाने बिना उत्पादकको उत्पादनके साधनोंका क्या मूल्य देना चाहिए, यह निश्चय करना सम्भव नही। इसप्रकार यहा अन्य वस्तुओकी माग उनके लिए उपभोक्ताओंकी न्यूनाधिक चाहपर निर्भर है और इस चाहकी न्यूनाधिकता ही उन वस्तुओके सापेक्ष मूल्यों तथा मागकी मात्राको निर्धारित करती है। उत्पादनके साधनोके मूल्य तथा उनकी मागकी मात्राके निर्धारण करनेमें उनके द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुके मूल्यको विशेष महत्व प्राप्त है। इसके अतिरिक्त विविध साधनोंके मूल्योंका परस्पर एक दूसरे पर निर्भर रहनाभी विशेष रूपसे ध्यानमें रखना चाहिए क्योंकि किसीभी एक साधन विशेषका मूल्य अन्य साधनोंके मूल्योंसे इतने घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित है कि उसका पृथक निर्धारण करना सम्भव नहीं।

मूल्यो का सन्तुलन

इसकारण सन्तुलनके विश्लेषण कार्यको तीन भागोमें विभाजित करनेकी प्रथा अर्थशास्त्रियो में चली आरही है.

(१) पहिले भागमें केवल वस्तुओंके विनिमयके साधारण सन्तुलनका ही विश्लेषण किया जाता है।

(२) दूसरे भागमें किसी विशेष उत्पादन की सस्थाओंका और:

(३) तीसरेमें उत्पादनके साधारण सन्तुलन का।

विनिमयके साधारण सन्तुलनके सिद्धान्तके प्रथम निर्माता प्रसिद्ध अर्थशास्त्री वालरस थे। मान लीजिए कि विनिमय करनेके लिए हमारे पास केवल दो वस्तुए क और ख है और प्रत्येक व्यक्ति द्वारा या तो क की पूर्ति और ख की माग या ख की पूर्ति और क की मागका होना ही सम्भव हो सकता है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होगा जबकि क की पूर्ति क की मागके

सम और फलस्वरूप ख की पूर्ति ख की मागके सम होजायेगी। स्मरण रहे कि इन दो वस्तुओं में से एक (यहा ख ले लीजिए) को मूल्यके मापकके रूपमें माना जारहा है। इस प्रकार यदि दो वस्तुओंमें विनिमय कार्य सम्पन्न होरहा हो तो हमें केवल एकही वस्तुका मूल्य, और यदि तीन में यह कार्य होरहा हो तो दो वस्तुओंका मूल्य, निकालना होगा। साधारणतया कहा जासकता है कि जितनी वस्तुओंमें विनिमय-कार्य सम्पन्न होरहा हो उनसे एक कम मूल्योंका मालूम करना आवश्यक है क्योंकि मूल्य उन वस्तुओंमें से एकको मापक मानकर ही निर्धारित किये जाते है। यदि विभिन्न वस्तुओंके मूल्य हमें मालूमहो तो किसी व्यक्ति विशेषकी उनके लिए न्यूनाधिक चाहका आश्रय लेकर हम यह मालूम करसकते है कि जिन वस्तुओंसे वह व्यक्ति बचित है, उनकी वह अमुक मात्रामें पूर्ति करनेके लिए तैयार है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी प्रत्येक वस्तुके लिए माग और पूर्ति निकालकर हम प्रत्येक वस्तुकी कुल माग और पूर्ति साधारण जोड द्वारा निकाल सकते है। यदि विभिन्न वस्तुओंके मूल्य इसप्रकार स्थापित होजायें कि प्रत्येक वस्तुकी माग उसकी पूर्तिके सम होजाये तो ऐसी स्थितिको सन्तुलनकी स्थितिके नामसे पुकारा जाता है और जबतक हम इस स्थितिको प्राप्त नही करपाते, तब तक कुछ वस्तुओंके मूल्य घटते और कुछके बढते रहते है। सन्तुलनकी स्थितिमें हमें प्रत्येक वस्तुकी माग और पूर्तिमें समता होनेके कारण इतनी सामग्री उपलब्ध होजाती है कि गणितशास्त्रकी सहायतासे हम प्रत्येक वस्तुके अज्ञात मूल्यको मालूम करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करलेते है। यह सन्तुलन स्थायीभी हो सकता है और अस्थायी भी। इसके स्थायी होनेके लिए परमावश्यक है कि इसके भग होतेही इसप्रकार की स्वयभू शक्तियो का प्रादुर्भाव हो जो इसके पुन: स्थापन की भरसक चेष्टा करें अर्थात् यदि मूल्य सन्तुलनाभीष्ट मूल्योंसे अधिक होने लगें तो ये शक्तिया उन्हें कम करनेमें सलग्न होजायें। और यह कार्य तभी सम्पन्न हो सकताहै, जबकि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें मूल्योंके बढतेही पूर्तिकी मात्रा मागसे अधिक होजाये। इसी प्रकार मूल्योंके कम होनेसे मागका पूर्ति की मात्रासे अधिक होना आवश्यक है। अर्थशास्त्री हिक्सने मूल्योंमें परिवर्तन होनेवाले कारणो में माग अथवा पूर्तिपर पडनेवाले प्रभावोंको आय-प्रभाव तथा स्थानापन्न-प्रभावमें विभाजित किया है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेके कारण लोग उसका अधिक प्रयोग करना आरम्भ कर देतेहैं और दूसरी वस्तुओंका कम।

यह हुआ मूल्यके कम होनेका स्थानापन्न प्रभाव। इस प्रभावसे उस वस्तुकी माग अधिक और पूर्ति कम होती है। किसी वस्तुका मूल्य कम होनेका यह अर्थभी हो सकता है कि खरीदनेवालो की आयमें वृद्धि हुई और बेचनेवालो की आयमें न्यूनता। मान लीजिए कोई व्यक्ति उस वस्तुपर मूल्य कम होनेसे पहिले १० रुपये खर्च करसकता था। मूल्य कम होनेसे वह उस वस्तुकी उतनीही मात्रा अब १० रुपये से कम खर्च करके प्राप्तकर सकता है। मूल्य कम होनेसे पहिले और बादके व्ययके अन्तरको उसकी आय-वृद्धि मान लीजिए। यदि इस वृद्धिको वह उसी वस्तुकी अधिक मात्रा खरीदनेमें प्रयुक्त करना चाहता है तो उस वस्तुकी मागमें आय-प्रभाव द्वाराभी वृद्धिही होगी और बेचनेवाले भी अपनी आयकी कमीको पूरा करनेके लिए उसकी अधिक मात्रामें पूर्ति करेंगे। और यदि इस प्रभाव द्वारा माग और पूर्तिमें एकही जैसी वृद्धिहो तो अन्ततोगत्वा केवल स्थानापन्न प्रभावही मागको बढानेका कारण होगा, आय-प्रभाव नही। किन्तु यदि वह वस्तु घटियाहै और उसका अधिक मात्रामें प्रयोग इस व्यक्तिको अभीष्ट नही; तो होसकता है कि वह आय-प्रभाव द्वारा प्राप्त आयकी वृद्धिको किसी दूसरी वस्तुके खरीदनेमें प्रयोग करे और इसप्रकार उस वस्तुकी मागमें आय-प्रभाव द्वारा तनिकभी वृद्धि न हो। हम देखते है कि आय-प्रभावसे पूर्तिमें तो वृद्धि होगी ही। इसकारण उस वस्तुका मूल्य और भी कम होजाने की सम्भावना है।

संस्था का सन्तुलन

मनुष्य केवल विनिमय द्वाराही उन वस्तुओंको जो उसके पासहै, देकर अन्य वस्तुएं जो उसके पास नही है और जिन्हें प्राप्त करनेकी उसकी इच्छाहै, प्राप्त नही कर सकता। इस क्रियाको पूरा करनेके लिए दूसरा साधन उसके पास अपनी वस्तुओं को उत्पादन द्वारा नयी वस्तुओ में परिवर्तन करलेना है। स्पष्टहै कि ऐसा वह तभी करेगा जबकि उत्पादन द्वारा उसे साधारण विनिमयसे अधिक लाभ मिलने की आशाहो अर्थात् जब उत्पादन द्वारा परिवर्तित वस्तुओका विनिमय-साध्य मूल्य परिवर्तनके पश्चात् अधिक होजाये। उत्पादनका कार्य आधुनिक ससारमें विशेष सस्थाओ द्वारा हुआ करता है। उनके चलानेवाले उद्योगपति होते है। वे उत्पादन के साधनोंके प्रयोग द्वारा उत्पादन कार्यमें सलग्न होतेहै और इन साधनोंसे प्राप्त

सेवाओंको नयी वस्तुओंमें परिवर्तित करते हैं। इसलिए ऐसी उत्पादन-संस्था का मुख्य उद्देश्य उत्पादनके साधनोंको एकत्रित करके उनके द्वारा प्राप्त वस्तुओं को बेच कर साधनों तथा उत्पन्न वस्तुओंके कुल मूल्यमें अधिकसे अधिक अन्तर पैदा करना है। ऐसी संस्थाके सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करनेका विवेचन हिक्स इसप्रकार करता है। मान लीजिए कि एक उत्पादनके साधन 'क' को एक वस्तु 'ख' में परिवर्तित करनेके कार्यमें एक संस्था संलग्न है। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थिति है और क साधन और 'ख' वस्तु दोनोंके मूल्य निश्चित रूपसे ज्ञात हैं, उत्पादन कार्य संस्थाके लिए उससमय तक लाभदायक है जबतक कि 'ख' वस्तु द्वारा प्राप्त कुलमूल्य उसके उत्पादन में प्रयुक्त 'क' साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यसे अधिक है। संस्थाका श्रेय 'ख' वस्तुकी उतनी मात्रा उत्पन्न करने में है जितनी वस्तुसे प्राप्त कुल मूल्य और साधनपर व्यय कियेगये कुल मूल्यमें अधिकतम अन्तर हो। रेखाशास्त्र की सहायतासे सन्तुलनकी स्थितिको इसप्रकार दिखाया जासकता है। मान लीजिए हम 'म,क' मूल्य रेखापर साधनकी प्रयुक्त मात्रा दिखाते हैं और 'म,ख' मूल्य रेखा पर इस मात्राके प्रयोगसे प्राप्त वस्तु की मात्रा दिखाते हैं। मान लीजिए प्रयुक्त साधनकी मात्रा 'म,स' है और उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पन्न वस्तुकी मात्रा 'स,व' है। 'म,ल' को 'स,व' के सम बनाकर उसमेंसे 'ल,र' इतना काट लीजिए जिससे कि ल,र' द्वारा वस्तुकी उतनी मात्रा दिखायी जारही हो, जिसका कि मूल्य प्रयुक्त साधन 'म, स' के मूल्यके सम हो। तब 'म,र' वस्तुकी उस मात्राका द्योतक है जो
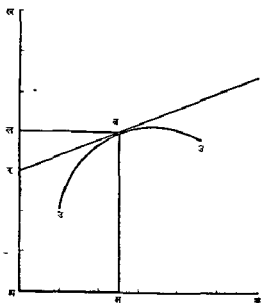
संस्था को अधिक प्राप्त होती है और इसका कुल मूल्य उत्पादन व्यय और कुल प्राप्त आयके अन्तर का द्योतक है।
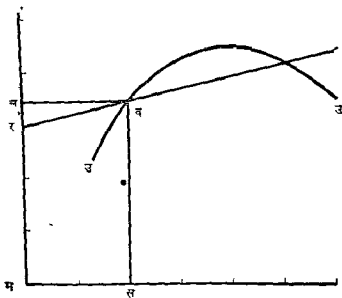
सस्थाके सन्तुलनके लिए आवश्यक है कि 'म,र' अधिकतम हो और सदा लाभ (न कि हानि) का द्योतक हो। यह अवस्था तभी प्राप्त होसकती है जब कि 'र,व' रेखा उत्पादन रेखाको दो या अधिक स्थानोम काटनेके स्थानपर केवल एकही स्थान 'व' पर स्पर्श ही करे। गणितशास्त्र की सहायतासे यह सिद्ध किया जासकता है कि यह अवस्था केवल उस समय प्राप्त होसकती है जब कि उत्पादनके साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके सम होजाये अथवा उत्पन्न वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजाये। इसके अतिरिक्त 'म,र' के अधिकतम होनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि जिस स्थानपर 'र,व' रेखाका उत्पादन रेखामे सम्पर्क हो उस स्थानपर उत्पादन-रेखा 'म,ख' मूल्य रेखाकी ओर उभरी हुईसी हो -साधारण शब्दोंमें इसका अर्थ यह होगा कि सन्तुलनकी स्थिति उससमय प्राप्त होतीहै जबकि सीमान्त उत्पत्तिका क्रमश: कमहोना आरम्भ होजाये अथवा सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमश: वृद्धिहै। इसके अतिरिक्त सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होने

पर यहभी आवश्यक है कि औसत उत्पत्तिका ह्रास होरहा हो अथवा औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि।

सस्थाके सन्तुलन प्राप्त करनेकी स्थितिको हिक्सके अनुसार दो प्रकारसे दर्शाया जासकता है। एक तो:

१ जिससमय साधनका मूल्य उसके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्य के सम होजाये।

२ सीमान्त उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।

३ औसत उत्पत्तिका ह्रास होना आरम्भ होजाये।

और दूसरे:

१ जब वस्तुका मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होजायें।

२ सीमान्त उत्पादन-व्ययकी क्रमश: वृद्धि होना आरम्भ होजाये।

३ औसत उत्पादन-व्ययकी वृद्धि होना आरम्भ होजाये।

प्राय: उत्पादनके साधनो अथवा उत्पादन-विधियोके छोटे छोटे अशोमें अविभाज्य होनेके कारण और अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन-व्ययमें वाह्य अथवा अभ्यान्तरिक बचतोके कारण उत्पत्ति की क्रमश: वृद्धि (अथवा उत्पादन-व्यय का क्रमश: ह्रास) होजाता है और जबतक उत्पत्तिकी वृद्धिसे उत्पादन-व्यय का ह्रास होता रहेगा, सस्थाका व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्राको बढानेकी ही चेष्टा करता रहेगा। परन्तु ससारमें उत्पादनके साधनोका बाहुल्य नही; न्यूनता है और यदि हम वस्तु उत्पन्न करनेवाले साधनोमें से एक साधनका प्रयोग तो अधिकाधिक मात्रा में करते चले जायें परन्तु अन्य साधनोंकी मात्रा में तनिकभी परिवर्तन न करें अथवा कम मात्रामें परिवर्तन करें तो उत्पादन का क्रमश: ह्रास अथवा उत्पादन-व्ययकी क्रमश: वृद्धि होना शुरू होजाती है। यदि यहभी मानलिया जाये कि किसी विशेष सस्थाको उत्पादनके सब साधन अधिकाधिक मात्रामें प्राप्त करनेमें कोईभी आपत्ति नही तो भी उत्पत्तिकी मात्रा बढ जानेपर सस्थाके प्रबन्ध-कार्यकी कठिनाइयोंके कारण सीमान्त उत्पादन-व्ययमें वृद्धिका होना समय आनेपर अनिवार्यसा होजाता है। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति आनेपर व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करना बन्द करदेगा। परन्तु यदि सीमान्त उत्पादन-व्यय अपनी न्यूनतम अवस्थासे थोड़ाही अधिकहो तो हो सकताहै कि उस अवस्थामें सीमान्त-उत्पादन-व्यय औसत

उत्पादन-व्ययसे कमहो और यदि सस्था वस्तुको सीमान्त-उत्पादन-व्ययके सम मूल्य पर बेचेतो उसे हानि होगी। इसी कारण सस्थाके सन्तुलनके लिए न केवल सीमान्त-उत्पादन-व्ययका बढना आरम्भ होजाना ही आवश्यकहै बल्कि औसत उत्पादन-व्ययका भी।

उद्योग और उसका सन्तुलन

एकही प्रकारकी वस्तु उत्पन्न करनेवाली एसी बहुतसी सस्थाओंके समूहको उद्योग कहते है। यदि किसी उद्योगमें सलग्न सस्थाओंको उसके समानही उत्पत्तिकारक अन्य उद्योगमें सलग्न सस्थाओसे अधिक लाभ प्राप्त होरहा हो तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी दशामें उस उद्योगमें नयी सस्थाए स्थापित होनकी सम्भावनाहै और इसके विपरीत यदि उसमें कम लाभ प्राप्त होरहा हो तो उसमें सलग्न कुछ सस्थाओके बन्द होजाने की सम्भावना है। इसकारण पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशामें किसी उद्योग को सन्तुलन की अवस्था उससमय प्राप्तहोगी जबकि उस उद्योगमें सलग्न सस्थाओकी सख्यामें और प्रत्येक सस्थाकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि अथवा ह्रासकी कोई भी सम्भावना न हो। स्मरण रहे कि एकाधिकारकी स्थितिमें औसत तथा सीमान्त उत्पादन व्यय का ह्रास होता रहनेपर भी सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त होना सम्भव है। परन्तु इस स्थितिमें भी सस्था एकदम बढती ही नही चलीजाती। कही न कही तो उसे अपनी उत्पादनकी मात्रा बढानेसे रुकनाही पडगा। यदि इस सम्बन्धमें कि उसे अधिकसे अधिक कितनी मात्रामें उत्पादन करना चाहिए, बढतेहुए सीमान्त उत्पादन व्ययसे सहायता नही मिलपाती तो उत्पन्न वस्तुके बाजारके सीमित प्रसारसे तो मिल सकती है। वास्तवमें बाजारकी सीमा और सीमान्त उत्पादन व्यय दोनो साथ साथ कार्य-शील रहते है।

उत्पादन और उसका सन्तुलन

वास्तविक आर्थिक ससारमें साधारण मनुष्य और सस्थाओंके व्यवस्थापक दोनो प्रकारके व्यक्ति मिलते है। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुओ अथवा उत्पादनके

साधनो दोनोका लेन-देन करतेहैं और इसीप्रकार व्यवस्थापक भी। साधारण मनुष्य उपभोग्य वस्तुएं खरीदताहैं सो निजी उत्पादनके साधनोको बेचता है। संस्थाका व्यवस्थापक उत्पादनके साधन खरीदताहैं तो उपभोग्य वस्तुओको बेचता हैं। सेवाओ का लेन-देन केवल साधारण मनुष्यो द्वारा होता हैं और अर्धनिर्मित वस्तुओका केवल संस्थाओ द्वारा। इन विभिन्न वस्तुओके विभिन्न बाजार होतेहैं और सन्तुलन उस मूल्यपर स्थापित होताहै जिसपर कि प्रत्येक वस्तुकी माग और पूर्ति सम हो जाये। केवल उत्पादनके साधनोके मूल्योमें सन्तुलनके सम्बन्धमें कुछ कहना शेष है। संस्थाके सन्तुलन की विवेचना करते हुए हम देखही चुकेहैं कि किसी साधनके मूल्य का उस साधनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उत्पत्तिके मूल्यके सम होना आवश्यक हैं, क्योकि यदि सीमान्त उत्पत्तिका मूल्य साधनके मूल्यसे अधिक होगा तो उस साधनका अधिक प्रयोग करनेसे व्यवस्थापककी आयमें उत्पादन-व्ययसे अधिक वृद्धि होगी और इससे व्यवस्थापकको उसका प्रयोग बढानेकी प्रेरणा प्राप्त होगी। दूसरे सन्तुलन-प्राप्तिके लिए यहभी आवश्यकहैं कि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक इकाईका एकही जैसा मूल्यहो, अन्यथा व्यवस्थापक अधिक मूल्यवाली इकाइयोके स्थानपर कम मूल्यवाली इकाइयोका प्रयोग करना आरम्भ करदेगा और इसकारण उस साधनके बाजारका सन्तुलन भग होजायेगा। हम देखचुके है कि साधारण वस्तुओके बाजारमें भी सन्तुलन प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यकहैं कि वस्तुकी प्रत्येक इकाई का एकही मूल्य हो।

इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यकहै कि विभिन्न साधनोके मूल्य और उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पादन शीलतामें एकही जैसा अनुपात होना चाहिए। अर्थात् यदि किसीभी साधनकी सीमान्त उत्पादन शीलता को उसके मूल्यसे भाग दियाजाये, तो फल हरबार एकही होना चाहिए चाहे साधन कोईभी हो। गणितशास्त्रकी भाषामें कहाजा सकताहैं कि .

$$\frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'क' का मूल्य}} = \frac{\text{साधन 'ख' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ख' का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन 'क' की सीमान्त उत्पादनशीलता}}{\text{साधन 'ग' का मूल्य}}$$

= ....

इसीप्रकार जितनेभी साधनोंका प्रयोग किया जारहा हो। कारण यहहै कि एक साधनसे सम्बन्धित यह अनुपात अन्य साधनोंसे सम्बन्धित इसी प्रकारके अनुपातोंसे अधिक होजाता है तो व्यवस्थापकको उस साधनका और अधिक प्रयोग करनेसे लाभ प्राप्त होता है।

अन्तमें सन्तुलनके लिए यहभी आवश्यकहै कि किसीभी साधनकी उन समस्त इकाइयोंका *जो बाजारभाव या उससे कम मूल्यपर प्राप्त होरही हों, उत्पादन कार्य* में प्रयोग कियाजाये। क्योंकि यदि ऐसी इकाइयोंका प्रयोग न कियाजायेगा तो उन के स्वामी उनका मूल्य कमकरके स्थापित सन्तुलनको भंग करदेंगे।

प्राप्त करनके लिए कुछ न कुछ उद्योग करना पडता है। स्वाभाविक था कि वस्तुओं के मूल्य तत्त्वकी खोजमें सवप्रथम इन्हीं प्रत्यक्ष गुणोंकी ओर दृष्टि जाती और आजतक मूल्यके जितनेभी सिद्धान्त निर्माण कियेगये हैं उन सबमें केवल गणितप्रधान अर्थशास्त्रको छोडकर इन्हीं दो में से किसी एकको मूल्यका मुख्य कारण निर्धारित करने की चेष्टा कीगयी है।

मूल्य का श्रम सिद्धान्त

पाश्चात्य अर्थशास्त्री विशेषकर अंग्रेजी विद्वान एडम स्मिथको अपने शास्त्रका जन्मदाता मानते हैं। परन्तु इस महापुरुषसे पहिलेभी आर्थिक समस्याएं हुआही करती थीं और लोग उनपर विचार कियाही करते थे। मूल्यके सम्बन्धमें भी ऐसा ही हुआ है। पश्चिममें जबतक धर्म और धार्मिक संस्थाओंका बोलबाला रहा तबतक मूल्यको न्याय और औचित्यसे सम्बन्धित किया जाताथा अर्थात् यदि किसीभी वस्तुका मूल्य न्याय-युक्त और उचित नहीं तो ऐसा मूल्य पानेवाला व्यक्ति अपराधी समझा जाताथा और उसे उचित दंड दिया जाताथा। परन्तु न्यायाधीशोंके मनमें प्रश्न उठा कि मूल्यके उचित और न्याय युक्त होनेकीभी तो कोई कसौटी होनी चाहिए। कुछ समयतक वे लोग परम्पराको कसौटी मानते रहे परन्तु जब अपराधियोंने अपने बचावके लिए यह कहना आरम्भ किया कि अमुक वस्तुका मूल्य मैंने इसलिए अधिक लियाहै कि मुझे उसे प्राप्त करनेके लिए अधिक श्रम करना पडा था तो मूल्यके उस सिद्धान्तकी नीव पडी जिसे हम श्रम-सिद्धान्तके नामसे पुकारते हैं। एडम स्मिथसे पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियोंमें इस सिद्धान्तके अनुयायी पेटी लाक कन्टीलो आदि थे। इसीतरह अंग्रेज बीच और निकोलस बारबन तुर्गो आदि शास्त्री किसी वस्तुकी उपयोगिताको ही उसके मूल्यका वास्तविक कारण मानते थे। एडम स्मिथने श्रम सिद्धान्तका परिष्कार होनेहुए भी उपरोक्त दोनों शास्त्रियोंके सिद्धान्तोंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया। यद्यपि इस प्रयत्नमें वह असफलसे रहे परन्तु उनके मूल्यसे सम्बन्ध रखनेवाले विचारोंमें कोई न कोई वाक्य ऐसा मिल जाताहै जिसके आधारपर उनके परवर्ती अर्थशास्त्रियोंने मूल्यके नये सिद्धान्त बनानेका प्रयत्न किया है।

राष्ट्र की सम्पत्ति नामक अपनी पुस्तकमें वह लिखते हैं किसी वस्तुके मूल्य से हमारा अभिप्राय दो प्रकारके मूल्यसे होता है। एकतो उस वस्तुका औपयोगिक मूल्य और दूसरा उसका विनिमय-साध्य मूल्य। वे वस्तुएं जिनका औपयोगिक मूल्य अधिकतम होता है उनका विनिमय-साध्य मूल्य प्राय कुछभी नहीं होता। पानीसे अधिक उपयोगी वस्तु कठिनतासे ही मिलेगी परन्तु इसके बदलमें किसी वस्तुको पाना असम्भवसा ही है। हीरे मनुष्य जीवनके लिए तनिक भी उपयोगी नहीं परन्तु उनकी विनिमय-साध्य शक्ति अपार है'।

इतना कहकर एडम स्मिथने औपयोगिक मूल्यको तो तिलाजलि दे दी और उसके उपरान्त विनिमय-साध्य मूल्यके तत्वानुसन्धान की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया। उनके मतानुसार किसी वस्तुके विनिमयसाध्य मूल्यका कारण श्रम तो है ही परन्तु कभीतो वह उस वस्तुके प्राप्त करनेमें जो श्रम करना पड़ता है उसे मूल्य का कारण और माप मानते हैं जैसे इस दृष्टान्तसे विदित है कि यदि एक पक्षीके शिकार करनेमें शिकारी लोगोंको एक मृगके शिकार करनेसे दुगना श्रम करना पड़े तो एक पक्षीके बदलमें दो मृग मिलने चाहिए तथा कभी वह वस्तुके बदलमें जितना श्रम प्राप्त किया जासके इस अर्थमें श्रमका प्रयोग करते हैं अर्थात वस्तु लेकर जितना श्रम कोई मनुष्य हमारे लिए करनेको उद्यत होजाता है उस उस वस्तुके मूल्यका कारण और माप मानते हैं। इस मापके अनुसार यदि एक मृग दस शिकारियोंका पेट भर सकता है और एक पक्षी केवल एक शिकारी का तो एक मृगके बदलमें पांच पक्षी तो अवश्य ही मिलने चाहिए। कोई सा भी श्रम लेलीजिए श्रम वस्तुओंके वास्तविक मूल्यका कारण तो है ही। द्रव्य केवल नाममात्रके मूल्यका द्योतक है। इसमें तनिकभी सन्देह नहीं।

रिकार्डोने एडम स्मिथके प्रथम मापको ठीक माना है और माल्थसने द्वितीय मापको। रिकार्डोका मत था कि उपयोगिता मूल्यके लिए आवश्यक भलेही हो पर वह मूल्यका माप नहीं है। विनिमय-साध्य मूल्यका केवल एक माप है और वह है वस्तुओंमें खपा हुआ श्रम।

समाजवादके प्रवर्तक कार्ल मार्क्सने स्मिथ और रिकार्डो दोनोसे प्रेरणा लेकर मूल्यके श्रम-सिद्धान्तको औरभी पुष्ट करनेका प्रयत्न किया। वस्तुओं के वास्तविक मूल्यका कारण श्रम तो है ही। परन्तु उसके मतानुसार पूंजीभी सञ्चित श्रमके

अतिरिक्त और कुछ नहीं। मार्क्सने एक नये सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जिसे 'अतिरिक्त-मूल्य'के नामसे पुकारा जाताहै। अतिरिक्त मूल्यका सृजन इसप्रकार होता है। किसी वस्तुका मूल्यतो उसके निर्माणमें जितना श्रम करना पडा हो, उससे निर्धारित होताहै पर श्रमजीवीको केवल उतनाही मूल्य मिलताहै जितना कि श्रमके सृजन अर्थात् श्रमिकके पालनपोषण और रहनसहन पर लगायेगये श्रमके बराबर हो। वस्तुके मूल्य और श्रमजीवीको दियेगये मूल्यमें जो अन्तर होताहै उसीका नाम अतिरिक्त मूल्य है। मूल्य उस श्रमसे निर्धारित कियाजाता है जो किसी समाजकी आर्थिक और औद्योगिक स्थितिके अनुसार आवश्यक हो।

उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

श्रम सिद्धान्तके प्रतिपक्षियोने यद्यपि श्रमको मूल्यका मुख्य कारण तथा माप ठहराया है परन्तु वे भी उत्पादनके अन्य साधनो भूमि, पूजी इत्यादिके अस्तित्वको स्वीकार करतेही रहे। एडम स्मिथने तो यहभी मानलिया कि उनका श्रम-सिद्धान्त केवल अत्यन्तही असभ्य समाजो पर लागू होता है। सभ्यताके प्रादुर्भावके अनन्तर हमें भूमि तथा पूजी द्वारा प्राप्त सेवाओंको भी मूल्यका ही अश माननेका आदेश होता है। रिकार्डो का मतभी एडम स्मिथसे भिन्न नही है। और तो और पूजीपतियोंके कट्टर विरोधी कार्लमार्कसने भी पूजी और भूमिके अस्तित्वको तो मानाही है परन्तु वह भूमिको प्रकृतिकी देन और पूजीको सचित श्रम मानकर उन्हें श्रमद्वारा उत्पन्न कियेगये मूल्यमेंसे किसीभी भागका अधिकारी नही मानता।

श्रम सिद्धान्तके सशोधनकी चेष्टा करतेहुए सीनियरने विचार प्रकट किया कि भूमि और श्रमके अतिरिक्त एक तीसरा उत्पादनका साधनहै जिसके द्वारा पूजीका सृजन होता है। इस साधनका नाम उसने उपभोग-व्याक्षेप रखा और उत्पादन-व्यय में न केवल श्रमके कष्ट बल्कि उपभोग-व्याक्षेपकी वेदनाको भी सम्मिलित किया। मिलने जोखिम एक और साधन जोडा और इसप्रकार श्रमका कष्ट, उपभोग-व्याक्षेप की वेदना और जोखिम तीनो उत्पादन-व्यय और मूल्यके कारण माने जानेलगे। मार्शलने व्यवस्था और क्लार्कने उद्योग-साहसको भी उत्पादनका साधन माना है। मार्शलने उत्पादन-व्ययकी व्याख्यामें एक और भी सशोधन किया। उनका कहना

है कि इन विविध साधनों को व्यवस्थापक या उद्योगपति एकत्रित करता है। इन्हें एकत्रित करनेके लिए उसे भूमिपतिको कर, श्रमजीवीको मजूरी, पूंजीपतिको ब्याज और अपने आप को लाभ देना पडता है और वह इन्हें देता है द्रव्यके रूपमें परिगणित करके। इसलिए उत्पादन-व्ययको आंकते समय हमें कष्ट, वेदना, जोखिम इत्यादिके स्थान पर उनके मौद्रिक स्वरूपको आगे स्थान देना चाहिए। अस्तु, रिकार्डो, मिल आदि अर्थशास्त्रियों और केयरने इस सिद्धान्त में यह संशोधन किया कि मूल्य उत्पादन-व्ययपर निर्भर नहीं बल्कि पुनरुत्पादन व्ययपर निर्भर होता है।

श्रम और उत्पादन व्यय सिद्धान्तों की त्रुटियां

१ विनिमय साध्य मूल्यके सिद्धान्तका मुख्य कार्य यह है कि वस्तुओंके विनिमय अनुपातमें पारस्परिक विनिमय और इस अनुपातमें समय समय पर होनेवाले परिवर्तनों को भलीप्रकार बुद्धिग्राह्य बना दे। स्पष्ट है श्रम सिद्धान्त इस कार्यमें सफल नहीं हो पाता।

२ भिन्न भिन्न प्रकारके श्रममें भेद होता है। कुशल, अर्धकुशल और अकुशल श्रम एकही प्रकारके नहीं होते। श्रम-सिद्धान्तके माननेमें यह भेद सर्वथा मिट जाता है।

३ ऐसी वस्तु जो मनुष्य जीवन के लिए तनिकभी उपयोगी नहीं चाहे कितनेही श्रमसे उत्पन्न की जाय कभीभी मूल्यवान नहीं हो पाती।

४ श्रम सिद्धान्त केवल वस्तुओंकी पूर्तिकी ओर ध्यान देता है। मांगकी ओर नहीं।

५ किसी वस्तुकी न्यूनताभी उसके मूल्यका एक कारण मानी जाती है। इस कारणके अनुसार तो श्रम उत्पत्ति द्वारा इस न्यूनताको कम करके मूल्य सृजनके स्थानपर मूल्य-नाशका कारण बनता है।

६ यहभी मानना ही पडता है कि श्रमके अतिरिक्तभी अन्य उत्पादनके साधन हैं। इसलिए केवल श्रमही मूल्यका कारण और माप तो नहीं बन सकता।

उत्पादन व्यय सिद्धान्त द्वारा इस त्रुटिको दूर करनेका प्रयत्न कियागया है। परन्तु यह सिद्धान्तभी श्रम-सिद्धान्तकी तरह उसकी अन्य त्रुटियोंसे दूषित है। इसके

अतिरिक्त श्रम उपयोग-व्यय जोखिम इत्यादि अभिन्न वस्तुओंका परस्पर जोड़ना असम्भव है। और यदि मार्शलका अनुसरण करते हुए हम इनका द्रव्यके रूपमें मूल्य निर्धारित करनेका प्रयत्न करते हैं तो मूल्य द्वाराही मूल्यके कारण और मापकी जिज्ञासा तक पहुंच नहीं आते व्यर्थ हैं। इसके अतिरिक्त कईएक वस्तुएं साथ साथ उत्पन्न होती हैं इसलिए उनमेंसे प्रत्येकका उत्पादन-व्यय निर्धारित करना कठिन होजाता है।

सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्त

इन त्रुटियोंको दूर करनेके लिए जीवन्स ने इंग्लैण्ड में, मैंगरन आस्ट्रिया में और वालरसने स्विटजरलैण्डमें मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तका प्रचलित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी कार्यके लिए उसकी सीमान्त उपयोगिताके तुल्य होता है। यह सिद्धान्त पूर्तिके स्थानपर मांग को अधिक महत्व प्रदान करता है। वीजर, बामबावर्क और विकस्टीड इस सिद्धान्तके बड़े बड़े अनुयायियोंमें से हैं।

एडम स्मिथ ने औपयोगिक मूल्य और विनिमयसाध्य मूल्यमें पारस्परिक विरोध की शंका की थी। जिनके मतानुसार विनिमयसाध्य मूल्य औपयोगिक मूल्यसे अधिक नहीं होसकता क्योंकि कोईभी मनुष्य अधिक उपयोगी वस्तु देकर कम उपयोगी वस्तु लेने के लिए उद्यत न होगा। इसी तरह औपयोगिक मूल्य विनिमयसाध्य मूल्यसे कम भी नहीं होसकता क्योंकि देनेवाला उपयोगिताकी हानि सहन नहीं करता तो लेनेवालाभी नहीं करेगा। इसलिए इन दोनों मूल्योंमें समानताका होना आवश्यक है, परन्तु व्यवहारमें तो ऐसा होता नहीं। कारण यहहै कि प्रत्येक वस्तुकी उपयोगिता न केवल भिन्न पुरुषोंके लिएही भिन्न होती है बल्कि एक ही पुरुषके लिए भिन्न भिन्न स्थितियों और भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न होसकती है। उपयोगिता घटती बढ़ती रहती है। विनिमयसाध्य मूल्य किसी एक समय पर घटता बढ़ता नहीं है और इस वस्तुकी कुल उपयोगिता के बराबर नहीं बल्कि उस वस्तुकी उस समयकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है। सीमान्त उपयोगिता हम देखते हैं किसी वस्तुके बाहुल्य और न्यूनतासे सम्बन्धित है। इसलिए इस सिद्धान्तके अनुसार यहभी आवश्यक नहीं कि मूल्य न केवल उपयोगिता बल्कि उसके साथ

न्यूनतापर भी निर्भर है क्योंकि जिन वस्तुओंकी न्यूनता होगी उनकी सीमान्त उप-योगिता और फलतः मूल्यभी अधिक होगा और जिन वस्तुओंका बाहुल्य होगा, उनकी सीमान्त उपयोगिता और फलतः मूल्यभी कम होगा। इसीकारण हीरे बहुमूल्य हैं और पानीका कुछभी मूल्य नहीं।

मार्शलने इन सिद्धान्तोंके पारस्परिक विरोधको मिटाने की कोशिशकी। उनके मतानुसार न तो केवल उपयोगिता और न केवल उत्पादन-व्ययही परन्तु दोनों मिलकर किसी वस्तुका मूल्य निर्धारित करते हैं। मूल्य, माग तथा पूर्ति दोनों पर निर्भर हैं। मागपर सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव पड़ता है और पूर्तिपर उत्पादन-व्यय का और इसलिए मूल्य निर्धारण कार्यमें हमें दोनोंको एकही जैसा महत्व प्रदान करना चाहिए। इसके अतिरिक्त मार्शलने अल्पकालीन और दीर्घ कालीन मूल्यमें भेद किया, उनके मतानुसार अल्पकालमें तो सीमान्त उपयोगिताका प्रभाव प्रबल रहता है और दीर्घकालमें उत्पादन-व्ययका।

आधुनिक अर्थशास्त्रीभी मूल्यके लगभग इसी सिद्धान्तको मानते हैं। केवल उत्पा-दन-व्यय और सीमान्त उपयोगिताकी परिभाषामें संशोधन किये गए हैं। प्राचीन कालमें हम देख चुकेहैं उत्पादन-व्ययको श्रम, उपभोग-व्याक्षेप, जोखिम आदि उत्पा-दनके साधनोंसे होनेवाले कष्ट वेदना इत्यादिसे सम्बन्धित करनेकी परिपाटी थी। आधुनिक अर्थशास्त्री इस परिपाटीमें विश्वास नहीं रखते। उनका कथन है कि आर्थिक साधनोंकी संसारमें न्यूनता है। उनके द्वारा सिद्ध किए जानेवाले मानुषी उद्देश्योंका बाहुल्य है। जब किसी एक साधनको हम किसी विशेष उद्देश्यको पूरा करनेके लिए प्रयोगमें लाते हैं तो उसके द्वारा सिद्ध होनेवाले दूसरे एक अथवा एकसे अधिक उद्देश्योंकी पूर्ति नहीं होपाती। यदि हमारा उद्देश्य उस साधन द्वारा अपनी आव-श्यकताओंको तृप्त करनेवाली वस्तुएं उत्पन्न करना था तो उन वस्तुओंका उत्पादन-व्यय उन वस्तुओं द्वारा निर्धारित कियाजाये जो हम उस साधन द्वारा उत्पन्न कर सकते थे परन्तु हमने नहीं की अर्थात किसीभी साधनके अन्य प्रयोगोंका त्याग उस [illegible] किसी विशेष प्रयोगसे होनेवाले उत्पादनका उत्पादन-व्यय है। इन्हें अवसर-व्यय, तुलनात्मक-व्यय या वैकल्पिक-व्ययके नामोंसे पुकारा जाता है। ये व्यय वस्तुओंकी पूर्तिपर उनकी न्यूनता या आधिक्यको घटा बढ़ाकर मूल्यपर प्रभाव डालते हैं। चूंकि किसी साधन विशेषका किसी वस्तु विशेषके उत्पादनमें प्रयोग उस

वस्तुकी माग देखकर ही किया जाताहै इसलिए पूर्ति और तुलनात्मक-व्ययभी परस्पर-विरोधी मागो द्वाराही निर्धारित होता है।

उपयोगिताको मागका मूल कारण तो मानाही जाता है परन्तु उपयोगिताका सम्बन्ध है मनोविज्ञानसे और मनोवैज्ञानिक इच्छाओ इत्यादिकी निर्बलता और प्रबलताको ठीक मापना सम्भव नही है। केवल इतनाही कहा जासकता है कि अमुक इच्छा किसी दूसरी इच्छासे न्यून या अधिक है। इससे लाभ उठाकर पैरेटो, हिक्स आदि अर्थशास्त्रियोने अपने शास्त्रमें इच्छाओकी निर्बलता और प्रबलताके तुलनात्मक परिमाण, वस्तुओ और साधनोके स्थानापन्नकी सज्ञाओका प्रयोग किया है। इसका विवेचन हम पीछे करचुके है।

११

उत्पादन के साधन—भूमि

उत्पादन का अर्थ

साधारणतया उत्पादनका अर्थ किसी वस्तुको उत्पन्न करना होता है। परन्तु किसी वस्तुकी सर्वथा नवीन सृष्टि नहीं होसकती, उसके निर्माणके लिए जिन मूल उपादानोंकी आवश्यकता पड़तीहै वह सबकेसब हमको प्रकृतिद्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्राकृतिक सामग्रीकी अनेक प्रकारसे समव्यवस्था करके उसको इच्छित रूप देना उत्पादन कहलाता है। हम कह सकतेहैं कि मनुष्य उत्पन्न नहीं करता, केवल वस्तुओं का व्यवस्थाक्रम इसप्रकार बदल देताहै कि वह उसकी तत्कालीन अथवा भविष्यगत इच्छाओंके समवेत अधिक अनुकूल होजाती है। अपने शारीरिक श्रम मस्तिष्क अथवा उपभोग-त्यागके द्वारा मनुष्य वस्तुएं उत्पन्न नहीं करता बल्कि उन वस्तुओंमें पूर्वनिहित उपयोगिताको उत्पन्न करता है। इस स्थानपर यह कहदेना भी अनुचित न होगा कि आर्थिक दृष्टिसे उत्पादन क्रिया उस समयतक समाप्त नहीं होती जबतक कि वस्तु उसका प्रयोग करनेवाले के पास नहीं पहुंच जाती। इस कारण उत्पादन क्रियाओंमें केवल कृषि, उद्योग-धंधे और खानों द्वारा वस्तुओंका उत्पन्न करनाही नहीं वरन् ऐसी वस्तुओंको उनके प्रयोग करनेवालोंतक पहुंचाने का प्रबन्ध करनाभी सम्मिलित है।

हम देखचुके हैं कि मनुष्य अपने श्रमद्वारा केवल वस्तुओं को अपनी इच्छाओंके अनुकूल बना सकता है अर्थात आर्थिक दृष्टिसे उनकी उपयोगितामें वृद्धि करसकता है। यह उपयोगिता अनेक प्रकारसे बढ़ायी जा सकती है। अर्थशास्त्रियोंने इस उपयोगिताकी वृद्धिको भिन्न भिन्न दृष्टियोंसे देखा है। कुछ लोगोंने उपयोगिताको रूप, स्थान तथा समय परिवर्तन द्वारा बढ़ाना सम्भव माना है। रूप-परिवर्तन द्वारा, प्राकृतिक सामग्री को इसप्रकार का रूप देदिया जाता है, जिससे वह मनुष्यकी,

इच्छाओंके अनुकूल होजाती है। जैसे कपासका रूप बदलकर सूत कातना, सूतका रूप बदलकर कपड़ा बनाना। स्थान-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस स्थानसे जहा पर उनकी उपयोगिता तनिक भी नही होती अथवा कम होतीहै, उस स्थानपर पहुचा दिया जाताहै, जहा उनकी उपयोगिता होती है, जैसे कोयला खानसे नगर तक अथवा उपभोक्ता तक पहुचा दियाजाता है। वास्तवमें यातायातका उद्देश्य स्थान-परिवर्तन द्वारा उपयोगितामें वृद्धि करना है। समय-परिवर्तन द्वारा वस्तुओंको उस समय उपलब्ध कियाजाता है जिस समय वास्तवमें उनकी आवश्यकता होती है। प्रत्येक पूजीपति जिसने उपभोग-व्याक्षेप द्वारा धनका सचय किया है, वर्तमान कालमें उसे ऋणमें देकर समय-परिवर्तन द्वारा धनकी उपयोगिता बढाता है, लेनवालेके लिए धनकी उपयोगिता वर्तमानमें है और देनेवालेके लिए भविष्य में। 'मिल ने उपयोगिताके उत्पादनको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है। एकतो ऐसी उपयोगिताका उत्पादन जो भौतिक वस्तुओंकी उपयोगितामें वृद्धि करता है, दूसरे जो मनुष्यकी शिक्षा द्वारा प्राणी मात्रके लिए उसकी उपयोगितामें स्थायी रूपसे वृद्धि और तीसरे व्यक्तिगत सजाएं जिनके कारण मनुष्यके कौशल इत्यादि में कोई स्थायी रूपसे वृद्धि तो नहीं होती किन्तु न्यूनाधिक कालके लिए सुख मिलता है या दुःख का निवारण होजाता है। क्रीडा विलास, मनोरजनकी बहुतसी क्रियाए इस कोटिमें शामिल की जासकती है। इस दृष्टिसे कृषक उद्योगपतिही उत्पादक नहीं किन्तु नाचने अथवा गानेवाले भी उत्पादक मानेजाते है।

अन्य अर्थशास्त्री भौतिक तथा अभौतिक उपयोगिता केवल दो ही कोटियामें उपयोगिताका विभाजन करते हैं। प्रथमकोटिमें वस्तुओं और द्वितीय श्रेणीमें सेवाओंकी गणना कीजाती है।

उत्पादन के साधन

उत्पादनके साधनोंके विषयमें विचारकोंका एकमत नहीं रहा है। प्राचीन अर्थशास्त्री उत्पादनके केवल दो मूल कारण मानतेथे—भूमि और श्रम। पैटीके मतानुसार श्रम धनका पिता और मूल तत्वहै जिसप्रकार कि भूमि उसकी माता है। एडम स्मिथ तथा रिकार्डो इत्यादिने पूजीका महत्वतो स्वीकार किया है परन्तु उसे उपा-

इनका साधन नहीं माना है। तुर्गो, सीनियर और मिलने पूंजीको उत्पादन करनेका साधनतो मानलिया परन्तु भूमि और श्रमके समान स्वतन्त्र साधन नहीं। 'मिल' का कहनाथा कि वास्तवमें उत्पादनके साधन दो ही हैं—भूमि तथा श्रम। पूंजी उत्पादनके लिए आवश्यकहै परन्तु वह भूमि और श्रमके समकक्ष नहीं। मार्शलने एक चौथा साधन व्यवस्था अथवा सचालन माना है। इस समय उत्पादनके पांच साधन बतलाये जाते हैं—भूमि श्रम पूंजी व्यवस्था और उद्योग साहस। व्यवस्था और उद्योग-साहसमें कुछ विद्वान भेद करते हैं और कुछ नहीं।

कुछ विद्वानोंने जिनमें बीजर नामक जर्मन विद्वानका नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है, विशिष्ट और अविशिष्ट केवल दो ही वर्गोंमें उत्पादनके साधनोंका विभाजन किया है। विशिष्ट साधन वे साधनहैं जिनका प्रयोग केवल किसी विशेष उद्देश्य के लिएही कियाजाता है। बीजरके मतानुसार भूमि विशिष्ट साधनहै परन्तु श्रम और पूंजी अविशिष्ट साधनहैं क्योंकि उनका प्रयोग अनेक उद्देश्यों के लिए किया जासकता है। इसकारण अविशिष्ट साधनों के सम्बन्धमें ही उद्देश्योंके बाहुल्य और उनको सिद्ध करनेके साधनोंकी न्यूनता और उसके फलस्वरूप वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठसकता है परन्तु विशिष्ट साधनोंके सम्बन्धमें उनके द्वारा सिद्ध होने वाले उद्देश्यकी एकताके कारण वैकल्पिक उत्पादन-व्ययका प्रश्न उठना सम्भव नहीं है। साधारणतया यन्त्र उपकरण तथा अर्धनिर्मित वस्तुए सापेक्ष रूपमें कच्ची सामग्रीसे अधिक अविशिष्ट हुआ करती है।

आधुनिक अर्थशास्त्री न पहिले वर्गीकरणमें विश्वास रखतेहैं और न दूसरे में। उनके मतानुसार उद्योगपति ही उत्पादनका सक्रिय अभिकर्ता है। भूमि श्रम, पूंजी इत्यादि केवल उत्पादन-सामग्रीके रूपमें उसके सामने आतेहैं और इनके प्रयोग द्वारा वह अपने कतिपय उद्देश्योंकी सिद्धिका इसप्रकार प्रयत्न करताहै कि उसे न्यूनतम उत्पादन-व्यय उठाना पड़े। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह एक साधनके स्थान पर दूसरेका प्रतिस्थापन करता रहता है। हम पहिले देखही चुकेहैं कि इन साधनों के विभिन्न जातीय होनेपर भी इनका सीमान्त प्रतिस्थापन किया जासकता है।

उत्पादनके साधनोंके उपर्युक्त वर्गीकरणोंके तर्क-सगत न होनेपर भी पाठ्य पुस्तकोंमें भूमि, श्रम, पूंजी, व्यवस्था इत्यादिको पृथक पृथक माननेकी ही परम्परा

चली आती है। इसी परम्पराका अनुसरण करतेहुए इस स्थानपर भी उनका अलग अलग विवेचन किया जारहा है।

भूमि

भूमिसे उत्पादनमें प्राकृतिक सहयोगियोंका अर्थ लिया जाता है। इसप्रकार पृथ्वी, वनस्पति खनिज समुद्र, पवन नदी झील जलवायु आदि सभीको भूमिमें सम्मिलित किया जाता है। प्राकृतिक साधनों अथवा भूमिको अन्य साधनोंसे भिन्न श्रेणीका माना जाताहै क्योंकि भूमिमें कुछ ऐसे विशिष्ट गुणोंकी कल्पना कीगयी है जो अन्य साधनोंमें नहीं मिलते। उनमें से मुख्य गुण निम्नलिखित है

(१) भूमिका क्षेत्रफल न्यूनाधिक नहीं किया जासकता अर्थात वह सीमित है।

(२) भूमि अविनाशी है।

(३) वह अचल है।

(४) वह अनायास प्राप्य है।

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिके इन विशिष्ट गुणोंमें विश्वास नहीं करते। भूमिको सीमित कहना उतनाही उचित अथवा अनुचितहै जितना कि अन्य भौतिक पदार्थों का। आर्थिक दृष्टि से भूमिको सीमित नहीं कहाजा सकता। बंजर भूमिको कृषिके योग्य बनाया जासकता है। कम उत्पादक भूमिको उन्नत किया जासकता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष भूमि-भाग का महत्व केवल उसकी उत्पादक शक्ति परही नहीं बल्कि उस भूमि भाग की स्थितिपर भी निर्भर है और यातायात के साधनोंमें उन्नति करके बुरीसे बुरी स्थितिको भी उत्तम बनाया जासकता है। इसकारण भूमिको सीमित मानना उचित नहीं। इसके अतिरिक्त भूमिके अन्तर्गत जिन उत्पादनोंकी गणना कीजाती है वेभी कईप्रकार से प्रयुक्त होसकते है और उन्हें एक प्रयोगसे हटाकर दूसरे प्रयोगमें लगाया जासकता है। इसकारण न तो वे सीमित ही है और न अचल। इसीप्रकार प्राकृतिक साधनोंसे हम लाभ तो अवश्य उठा सकतेहै किन्तु उस लाभको उठानेके लिए हमें स्वयं प्रयत्न करना पडता है। प्राकृतिक शक्तियां अपने स्वतन्त्र रूपमें मनुष्यकी आवश्यकताओं की पूर्तिके लिए अधिकतर अनुपयुक्त होती है, अपने उपयोगमें लानेके लिए मनुष्यको उन्हें एक

कर देनेसे उत्पत्तिका दुगना होना सम्भव नही। उत्पत्ति दुगनेसे कम ही रहेगी। इस प्रवृत्तिका ज्ञान वृद्धि द्वारा कुछ समयके लिए निरोध किया जासकता है, परन्तु अन्ततोगत्वा श्रम तथा पूजीके अधिकाधिक उपयोगसे प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें ह्रास अनिवार्य है। इसकारण प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर माल्थस जीवन-स्तर को सुरक्षित रखनेके लिए सन्तति निरोधके लिए विशेष आग्रह किया करते थे। माल्थसके जनसंख्या सिद्धान्तका विवेचन हम अगले अध्यायमें करेंगे।

वास्तविक जगतमें प्रत्येक व्यक्ति द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्रामें वृद्धिही होती चली आरही है और गत सौ डेढसौ वर्षमें तो इस मात्रामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। इस वृद्धिका कारण कृषि-सम्बन्धी अनुसन्धान तथा आविष्कार है जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन कृषिमें काम आनेवाले यन्त्रोंका निर्माण नयी नयी खादोंका आविष्कार तथा अधिक उत्पादक बीजोंकी उपलब्धि है। रिकार्डोके मतानुसार इसप्रकार की उन्नतियाँ दो वर्गोंमें विभाजित की जासकती है। एकतो वे जो पृथ्वीकी उत्पादन शक्तिको बढाती है, जिनमें फसलोंका चक्रानुवर्तन और उत्तम खादें सम्मिलित की जासकती है। दूसरे वे जो कृषिके यन्त्र इत्यादि को उन्नत करके श्रमके न्यून व्ययसे अधिक उत्पत्ति उपलब्ध करती है। इनमेंसे पहिले प्रकार की उन्नतियों द्वारा हम उत्पत्ति क्रमागत ह्रास नियम के प्रभावसे सुरक्षित रहसकते है और यदि ये उन्नतियां क्रियाशील तथा निरन्तर हो तो कृषिमें प्राप्त उत्पत्तिमें क्रमागत वृद्धि होसकती है और इतिहास साक्षी है कि आजतक ऐसा होता रहा है। परन्तु कम उत्पादक भूमियों पर कृषिका किया जाना अथवा अधिक उत्पादक भूमियोंपर कम उत्पत्ति प्राप्त होनेपर भी अधिकाधिक श्रम और पूजीका लगाया जाना उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास नियमके सूचक होनेकी गवाही है। इस सम्बन्धमें इतना कह देना आवश्यक है कि इस सिद्धान्तका संकेत प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राकी ओर है। उसके मौद्रिक मूल्यकी ओर नही।

दूसरे प्रकार की उन्नतियोंका परिणाम यह होताहै कि कृषि-कार्यमें संलग्न लोगोंकी संख्यामें कमी होती चली जाती है। जब एक मनुष्यके श्रमसे एक कुटुम्बके लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न होपाती थी तो अधिकतर लोगोंको गावोंमें रहना और किसान होना आवश्यक होता था। परन्तु जब यन्त्रोंकी सहायतासे एक मनुष्य तीन चार कुटुम्बोके लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न कर लेताहै तो कृषि करनेवाला

की संख्याके अनुपातमें कमी तथा नगरोंमें रहनेवालों की संख्यामें वृद्धिका होना स्वाभाविक है।

इस सिद्धान्तका विवेचन प्राय कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम्बन्धमें ही किया जाता है। परन्तु इसका कार्यक्षेत्र कृषितक ही सीमित नहीं। खानों जलाशयों, वनो इत्यादिसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें भी अधिकाधिक श्रम और पूंजीका व्यय करने पर क्रमागत ह्रासही होता चला जाता है। खानें भूमिकी तरह प्रकृति-प्रदत्त अवश्य है परन्तु दोनो समकक्ष नहीं। लगातार कृषिसे लुप्त होनेवाली भूमिकी उत्पादक शक्तिका प्राकृतिक कारणोंही से पुनरुत्थान होता रहता है। खानोंमें स्थित सम्पत्तिको एकबार पूर्णतया समाप्त करदेने पर उसकी पुन सृष्टि नहीं होती। खानोंके सम्बन्धमें उत्पत्तिका क्रमागत ह्रास इसप्रकार कार्य करता है कि अत्यन्त सुलभ सम्पत्तिके समाप्त होनेपर कष्टसे प्राप्त होनेवाली उत्पत्ति पर श्रम और पूंजीका अधिक व्यय करना ही पड़ता है।

जलाशयोंसे मछलियां प्राप्त कीजाती है। जलाशयों और भूमिमें यह अन्तर है कि मनुष्यने वर्षोंके अनुसन्धान और अनुभवके अनन्तर कृषिसे प्राप्त उत्पत्तिकी पूर्ति पर न्यूनाधिक नियन्त्रण प्राप्त करलिया है। परन्तु जलाशयोंसे प्राप्त मछलियोंके सम्बन्धमें वह अभी ऐसा नहीं करपाया है। नदी नालोंसे प्राप्त मछलियोंकी पूर्तिका तो थोड़ा बहुत नियन्त्रण कियाभी जासकता है परन्तु समुद्रोंसे प्राप्त मछलियोंकी पूर्तिपर मनुष्यका तनिकभी वश नहीं। जलाशयों और खानोंमें यह भेदहै कि खानों की सम्पत्ति एकबार निकाल लेनेपर वह सदैवके लिए समाप्त होजाती है परन्तु मछलियां पकड़नेवाले स्थानोंपर यदि कुछ समयके लिए मछलियां पकड़ना बन्द करदिया जाय तो वे स्थान फिर मछलियोंसे भरपूर होजाते है।

परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्तिके क्रमागत ह्रास सिद्धान्तको कुछ अन्य दृष्टिसे देखते है। किसीभी उत्पादक क्रिया को चलानेके लिए हमें एकसे अधिक उत्पादक साधनोंकी आवश्यकता होती है। कृषिसे उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए हमे केवल भूमि ही नही अपितु श्रमभी आवश्यक है। कपड़ा बुननेके लिए केवल श्रमही

बल्कि कपडा बुनने के यन्त्रादि भी जरूरी हैं। कभी कभीतो भिन्न भिन्न साधनोंको निश्चित अनुपातमें एकत्रित करना पड़ता है। परन्तु प्रायः इस अनुपातमें परिवर्तन किया जासकता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार है कि यदि हम अन्य साधनोंको स्थायी रखकर किसी साधन विशेषकी मात्राको बढ़ाने चलेजायें तो एक समय ऐसा आताहै कि उस साधन द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा क्रमागत ह्रास होने लगता है। उदाहरणके लिए हम पूंजीकी मात्रामें तो परिवर्तन करने चलेजायें परन्तु श्रम और भूमिको स्थायी रखें तो हमें उत्पत्तिमें क्रमिक ह्रास प्राप्त होगा। परन्तु कभी कभी साधन विशेषके अधिकाधिक प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिमें ह्रास होनेसे पूर्व कुछ कालतक वृद्धिभी होती रहतीहै और फिर कुछ काल-तक न वृद्धि न ह्रास। आधुनिक अर्थशास्त्री इन तीनों नियमोंको केवल एकही सिद्धान्त का अंग मानतेहैं जिसे वे उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके सिद्धान्तका नाम देते हैं।

जबकि उत्पादन कई साधनोंके परस्पर सहयोगसे सम्भव होता है तब उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं। यदि उत्पादनके साधनोंमें किसी विशेष परिमाण को स्थायी मानलिया जाये, तो इस परिमाणके उपयोगसे प्राप्त उत्पत्तिको कुल उत्पत्ति कहाजाता है। इस उत्पत्तिका उन साधनोंकी संख्यासे भाग देनेपर औसत उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पादन-साधनोंमें एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप जो कुल उत्पत्तिमें वृद्धि होतीहै उसे सीमान्त उत्पत्ति कहाजाता है। इसीप्रकार साधनोंके उस परिमाण का व्यय कुल व्यय होगा। उस कुल व्ययको साधनोंकी संख्यासे भाग देनेपर औसत व्यय प्राप्त होताहै और एक इकाईकी वृद्धि करनेके फलस्वरूप कुल व्ययमें होनेवाली वृद्धिसे सीमान्त-व्यय प्राप्त होता है। हम पहिले लिख चुकेहैं कि सीमान्त वस्तु वह वस्तु है जिसका उपयोग किसी उद्योगमें विचाराधीन हो। सीमान्तकी कल्पना उसी अवस्थामें हो सकती है जबकि किसी वस्तुके उपयोगमें परिवर्तन निरन्तर होरहे हों और जब वे परिवर्तन बहुत बड़े और अविभाज्य न हों। उदाहरणके लिए यदि कोई व्यवस्थापक पांच श्रमिक बढ़ाना निश्चित करताहै तो उनका श्रम सीमान्त श्रम, उनके द्वारा सम्भव उत्पत्ति सीमान्त उत्पत्ति और उनके उपयोगके लिए कियागया व्यय सीमान्त व्यय होगा।

यह आवश्यक नहीहै कि कुल, औसत और सीमान्त उत्पत्ति साथ साथ घटे बढ़े। वह पृथक पृथक घट बढ़ सकती है। उत्पत्ति-ह्रास नियमके आरम्भिक रूपमें यह

बात स्पष्ट नहीं थी कि ह्रास औसत उत्पत्तिमें होता है या सीमान्त उत्पत्तिमें। आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त उत्पत्तिके ह्रास नियमको ही दृष्टिगत रखना अधिक समीचीन समझते हैं क्योंकि सीमान्त उत्पत्तिमें यह पाया जाता है कि औसत विग- [illegible] परिवर्तित होता है।

उत्पादनकी वृद्धिकी अवस्थाओंमें हम उत्पत्तिके उत्पादक साधनोंके परिमाणमें परिवर्तन करते रहते हैं परन्तु उनमेंसे एकके परिमाणको ज्योंका त्यों रहने देते हैं। स्पष्ट है कि फलभी समानुपातिक न होगा। यदि कुछ उत्पादन साधनोंको समान भागोंमें बढ़ाया जाय और कुछको यथापूर्व रहने दिया जाय तो किसी बिन्दुके अनन्तर उत्पत्ति अनुपातसे कम होने लगेगी। उत्पत्तिके इस नियमको परिवर्तनीय अनु-पातका नियम कहते हैं। रेखाचित्रकी सहायतासे इस नियमको इसप्रकार दिखाया जासकता है
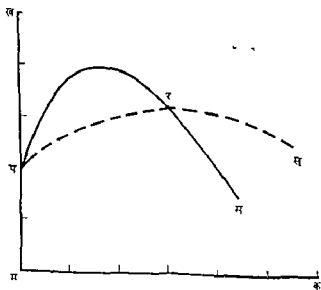
मान लीजिए किसी उद्योगमें अन्य सब उत्पादनके साधन स्थायीहैं, केवल एकही साधन परिवर्तनीय है। 'म क' रेखा पर उस साधनके परिमाणमें परिवर्तनोंको और 'म,ख' रेखा पर उसके प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको दिखाकर प,स और

'प,म" क्रमश: सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति द्योतक रेखाएं प्राप्त कीजाती है। रेखाओंके आकारसे विदितहै कि आरम्भमें तो सीमान्त तथा औसत उत्पत्ति बढ़ती है, इसके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति घटना आरम्भ कर देतीहै, परन्तु औसत उत्पत्ति बढ़तीही जाती है। फिर एक समय ऐसा आताहै जबकि सीमान्त और औसत उत्पत्ति सम होती है। चित्रमें यह बिन्दु र से अंकित किया गया है। इस बिन्दुके अनन्तर सीमान्त उत्पत्ति और औसत उत्पत्ति दोनों लगातार गिरतीही चलीजाती है परन्तु सीमान्त उत्पत्ति अधिक वेगसे गिरतीहै कुछ अर्थशास्त्रियोंमें 'र' बिन्दुको भी उत्पत्ति की मात्राके अनुपातत कम होनका प्रदर्शक माना है।

उत्पत्तिके परिवर्तनीय अनुपातके नियममें यह मानलिया जाताहै कि जिन उत्पादनके साधनोंका प्रयोग किया जारहा है वे सभी समरूप हैं। इसके अतिरिक्त यह नियम मूलतया यंत्र-विज्ञान का नियम है। और इसकारण अर्थशास्त्रके लिए इसका महत्व परोक्ष रूपसे ही है। यह तो विदित ही है कि इसके लागू होनेके लिए कम से कम एक साधन स्थायी होना चाहिए और उनके विनियोगका अनुपात बधा न होना चाहिए।

सर्वोत्तम विनियोग का सिद्धान्त

जब उत्पादनके सभी साधन परिवर्तनीय होतेहैं अर्थात् उनमें से प्रत्येकको घटाया बढ़ाया जासकता है तो सर्वोत्तम विनियोगका नियम लागू होता है। अर्थशास्त्रमें इस नियमका प्रयोग तीन प्रकारकी समस्याओंको सुलझानेके लिए किया जाता है

(१) उद्योगकी सन्तुलन अवस्था निर्धारित करनेके लिए।

(२) जनसंख्या की सर्वोत्तम मात्रा निर्धारित करनेके लिए।

(३) उत्पादनके साधनोंको विभिन्न उपयोगों तथा उद्योगोंमें विभक्त करनेके लिए।

उद्योग संस्था उस बिन्दुपर सर्वोत्तम आकार और सन्तुलन अवस्था प्राप्त करती है जिसपर कि इसके औसत और सीमान्त व्यय सम होजाते हैं क्योंकि ऐसी स्थिति में संस्था को घटाने बढ़ानेमें हानि होगी। औसत व्ययसे सीमान्त व्यय ऊंचा रहते पर संस्थाका घटाना आवश्यक होगा क्योंकि अन्यथा औसत-व्यय बढ़ता जायेगा

और यदि सीमान्त व्यय औसत व्ययसे नीचा है तो उसे बढ़ानेका प्रलोभन मिलता रहेगा। क्योंकि बढ़ानेसे औसत-व्यय कम होता जायेगा। प्रत्येक स्थितिमें संस्थाको विस्तार अथवा संकुचित करनेकी आशा बनी रहती है। सन्तुलनकी अवस्था उसी समय प्राप्त होतीहै जब दोनों सम होजाते हैं और यही सर्वोत्तम स्थिति होती है, जैसाकि सन्तुलनके अध्यायमें विस्तृत रूपमें बताया गया है।

उत्पादनके साधनोंका विभिन्न उपयोगों और उद्योगोंमें सर्वोत्तम विभाजन उस समय होताहै जबकि प्रत्येक साधनकी प्रत्येक उपयोगमें सीमान्त उत्पत्ति बराबर होतीहै क्योंकि अन्यथा कुछ स्थानान्तर विभाजनमें अन्तर करनेसे उत्पत्ति बढ़ सकती है। परन्तु सर्वोत्तम विभाजनका अर्थ तो यहहै कि उसमें किसीभी प्रकारका परिवर्तन होनेसे लाभ प्राप्त होनेकी कोईभी आशा न हो। उत्पादनके साधनों का विनियोग इसप्रकार निर्धारित होताहै कि उनमें परस्पर प्रतिस्थापना उस समय तक चलती रहतीहै जबतक कि किसी दियेहुए विनियोगमें और परिवर्तन करनेसे कोई लाभकी आशा न रहे अर्थात् जब सब साधनोंकी सीमान्त उत्पत्ति सम होजाये। इसीप्रकार कितना और कौनसा साधन किस प्रयोग या उद्योगमें लगना चाहिए, इस बातसे निश्चित कियाजाता है कि उस साधनके सीमान्त प्रयोगमें किस रूपमें जो उत्पत्ति होसकती थी उसका महत्व प्रस्तुत उपयोगसे अधिकहै अथवा कम, इसी कारण वोल्गिनने इस नियमको समान लाभका नियमभी कहा है। उसका यहअर्थहै कि प्रत्येक उत्पादनके साधन अथवा सेवाके लिए व्यवसाय विशेषमें कुछ लाभ प्राप्त होते रहते हैं। सम्पूर्ण लाभको दृष्टिगत रखतेहुए जिस विभाजनद्वारा उत्पादन कियाके प्रत्येक सहयोगीको परस्पर समान लाभ मिले वही सर्वोत्तम विभाजन है।

साधनों की अविभाज्यता

उत्पादन क्षेत्रमें सबसे बड़ी कठिनाई अविभाज्यताओं द्वारा उत्पन्न होती है। अवि-भाज्यताएं दो प्रकारसे पैदा होती है। एकतो कुछ साधन किसी विशेष कार्यके अति-रिक्त अन्य कार्यमें लगाए नहीं जासकते और कुछ एक विशेष अनुपातमें ही प्रयुक्त होसकते है। बहुतसी मशीनें किसी विशेष मात्रामें ही उत्पत्ति करसकती हैं अथवा किसी विशेष गतिसे ही चलसकती है। ऐसी स्थितिमें सर्वोत्तम विनियोगकी समस्या

बडी कठिन होजाती ह। कुछ अविभाज्यताए विज्ञापन और विक्रय सम्बन्धीभी ह और बहुतसी अथसम्बन्धी भी। उनको इच्छानुसार घटाया बढाया नही जासकता। वनानिक गवेषणा इत्यादि कुछ एसी वस्तुए नही कि उनपर जितना व्यय कीजिए उसी अनपातम फल प्राप्त हो। एसा नहीह कि किसी बड वनानिकके ज्ञानका लाभ उठानके लिए जितना व्यय करना पड उसमे कम लाभ मामली वनानिककी सवाओके लिए व्यय करक उठाया जासक। अधिक सम्भव यही ह कि मामली वनानिकपर कियागया व्यय व्यथ ही हो।

अविभाज्यताए दो प्रकारसे कठिनाइया उपस्थित करती ह। एकतो विनियोगकी *समानुपातकता नष्ट करके* और दूसर *साधनाकी गतिशीलता नष्ट करके।* गतिशीलता नष्ट होनमे प्रतियोगिता अपण होन लगतीह और सर्वोत्तम विनियोग अथवा विभाजनक लिए पूण प्रतियोगिता और समानुपातकता दोनो आवश्यक ह।

१२

आर्थिक साधन—श्रम

श्रम की परिभाषा

यह तो स्पष्ट ही है कि सारा उत्पादन मानव-प्रयास का फल है। यद्यपि तात्विक दृष्टिसे ऐसा सोचा जासकता है कि किसी प्रागैतिहासिक कालमें मानव आवश्यकताओंकी पूर्ति पूर्णतया प्रकृति द्वारा और अनायास ही होती रही होगी। परन्तु इतिहास किसी ऐसे कालका साक्षी नहीं है। प्रकृतिको अपनी आवश्यकताओं की पूर्तिका हेतु बनानेके लिए मनुष्यको प्रयास और परिश्रम करना ही पड़ता है। इसका प्रमाण हम प्रागैतिहासिक कालीन यन्त्र तन्त्र तथा कला कौशलके रूप में पाते हैं।

हमारी जितनी भी क्रियाएं होती हैं हम उन सभीको प्रयास अथवा श्रमके अन्तर्गत मान सकते हैं फिरभी अर्थशास्त्र मे श्रमको इस विस्तृत अर्थमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। अधिकतर अर्थशास्त्रियों ने उस प्रकारके प्रयासको श्रमकी कोटिमें रखा है जो किसी प्रकारके लाभकी आशासे किया जाये। उपयोगी और अनुपयोगी श्रमका भेद अर्थशास्त्रके इतिहासमें काफी पुराना है। फिजियोक्रेट्स ने केवल कृषिगत श्रमको सार्थक माना है। ऐडम स्मिथ ने उत्पादक और अनुत्पादक श्रमका भेद करतेहुए बतलाया है कि जिस श्रमके फलस्वरूप वस्तुओंकी उत्पत्ति हो, वह उत्पादक है, किसी अन्य प्रकारका श्रम व्यर्थ है। श्रमका यह भेद बहुत दिनोंतक माना जाता रहा। परन्तु मिलके अनन्तर इसकी बड़ी आलोचना हुई क्योंकि उत्पादक और अनुत्पादक श्रममें सेवाओंका कोई स्थान नहीं रखाजाता था। परन्तु यह कहना कठिनहै कि सेवाएं सुखकी उतनी साधक नहीं हैं जितनी कि वस्तुएं। टॉसिग का मतहै कि वह सभी श्रम जिसके फलस्वरूप उपयोगिता की सृष्टि हो, उत्पादक है और उसकी परिभाषाके अनुसार उपयोगिता वहहै जिसके द्वारा हमारी इच्छाओं की तुष्टि हो

श्रमकी माग कई बातो पर निर्भर है। अन्य सहयोगी उत्पादन साधनो की उपलब्ध मात्रासे इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। उत्पादन रीतियो में परिवर्तनके साथ साथ इसमें परिवर्तन होते रहते है। किसी विशेष उद्योग धधे में श्रमकी माग उस उद्योग-धधे की उत्पत्तिके लिए मागकी लोचसे सम्बन्धित है। श्रमकी पूर्ति श्रम-जीवियो की-सख्या और फलस्वरूप कुल जनसख्या, काम करनेके घटो तथा श्रम-जीवियो की कुशलता पर निर्भर है।

जन-सख्या

यद्यपि माल्थसके पहिलभी पैटी तथा गाडविन आदिने जन-सख्या तथा आर्थिक, सामाजिक व्यवस्थामें उसके प्रभावपर कुछ विचार कियाथा, पर विस्तृत रूपसे जन-सख्या का आर्थिक महत्व दर्शानेवाले पहिले व्यक्तियोमें माल्थस का ही नाम अधिक प्रसिद्ध है। सक्षेपमें, उनका मत इसप्रकार है कि जन-सख्या की स्वाभाविक वृद्धि-दर बहुत तीव्र है। अनेक प्राकृतिक और मानुषी कारण उसे अपनी स्वाभाविक तीव्र गतिसे निरुद्ध करते है फिरभी जिस दरसे मनुष्यके जीवन-निर्वाह की सामग्री बढती है, उसकी उपेक्षा जन-सख्या की वृद्धि-दर अधिक ही रहती है। यदि जन-सख्या की वृद्धि-दर २ ४, ८, १६ इसप्रकार माने तो उत्पादन-वृद्धि की दर १, २, ३, ४ ५ ६ ७ ८ इसप्रकार होगी। कहा नही जासकता कि कहातक माल्थस का अभिप्राय यहथा कि जन-सख्या और उत्पादनकी सापेक्ष वृद्धि-दरोमें ठीक ठीक उपरिलिखित सम्बन्ध है और कहातक उसने गणित का सहारा केवल इन दोनो द्वारा भारी अन्तरको स्पष्ट और प्रभावपूर्ण शब्दोमें प्रकट करनेके लिए लिया। जो कुछ भी हो इन दोनो दरोका सम्बन्ध गणित-सुलभ शुद्धतासे मापना असम्भव है। वास्तवमें अपनी पुस्तक जन सख्या पर निबन्ध के पहिले सस्करणमें तो उसने अपना मत बहुतही अप्रामाणिक रीतिसे प्रतिपादित किया है। दूसरे सस्करणमें उसने बहुत कुछ सुधार हुए ढगसे अपने मतका प्रतिपादन किया है। परन्तु उसका मुख्य प्रमाण विभिन्न देशोंसे सकलित ऐतिहासिक सामग्री है।

यदि हम यह मानलें कि जन-सख्या और उत्पादन की वृद्धिके दरोमें अनिवार्य अन्तर है तो इस निष्कर्षपर पहुचेंगे कि किसी समय ससारमें जन-सख्या इतनी बढ

कुछ लोगोने 'यहभी आपत्ति उठाई है कि जन-उत्पत्ति-वृद्धिकी दर जिस प्रकार माल्थस सिद्धान्तमें मापी जाती है, वह सदोष है। उनके अनुसार आवश्यक बात यहहै कि किस दरसे एक दीहुई जन-सख्या पुनर्जीवित रखी जातीहै और यह बात जनन-शक्तिपर निर्भर होगी।

अन्य विचारकों ने यह दिखलानेका प्रयत्न कियाहै कि जन-सख्याकी वृद्धि अथवा ह्रास जिन कारणासे होताहै, उनके आधारपर कहा जासकता है कि सदैव वृद्धिशील जन-सख्या का भय निर्मूल है। वातावरण, जीवन-स्तर, मजूरी की दर, ये सभी बातें जन-सख्याकी वृद्धि-दर निर्धारित करती है। कुछ अर्थशास्त्रियो का यहभी मत है कि जन-सख्याकी वृद्धि-दर धनिकोमें कम और निर्धनो में अधिक होती है। सीनियरने यह दिखायाहै कि जब जन-सख्या बहुत बढने लगती है अथवा जब एक स्थानमें अधिक घनी होजाती है तो अपनेआप कुछ विरोधी शक्तियोका प्रादुर्भाव होताहै जो जन-सख्याकी वृद्धिको रोकती है। इनमें उठते हुए जीवन-स्तर और नयी ग्रहणकी हुई इच्छाओका बहुत महत्व है। प्रश्न यह नही कि किसी देशकी जन-सख्या घटायी जाये या बढायी जाये। समस्या यहहै कि अर्थ-व्यवस्था के अन्य अगोके साथ जन-सख्याका किसप्रकार सामञ्जस्य किया जाये कि आर्थिक सम्पन्नता सर्वोत्तम बिन्दुपर रहे। कहनेका अभिप्राय यहहै कि किसी दीहुई अर्थ-व्यवस्थामें एक विशेष परिमाणमें श्रमकी आवश्यकता होतीहै और एक विशेष आकारकी जन-सख्या सर्वोपयुक्त होसकती है। उससे छोटी जन-सख्या उतनीही व्यर्थ है जितनी उससे बडी। अर्थ-व्यवस्था और उत्पादनके साधन यदि बदलजायें तो उसीके अनुरूप जनसख्याका आकारभी बदलना पडेगा। इस सामञ्जस्यमें जन-सख्याका केवल आकारही महत्वपूर्ण नही है बरन् जन-सख्या का घनत्व, व्यक्तियोके गुण और उसका स्वरूप और सयोजन भी आवश्यक है।

जैसाकि सर्वोत्तमताके सिद्धान्तमें अनिवार्य है जन-सख्याके इस सिद्धान्तका व्यवहार कोई सर्वोपरि उद्देश्य मान लेनेपर ही होता है। यह उद्देश्य प्रति व्यक्ति, सर्वाधिक आय मानाजाता है। इसके अनुसार जिस बिन्दुपर जन-सख्या और अन्य उत्पादनके साधनोका इस प्रकार सामञ्जस्य होजाये कि प्रत्येक व्यक्तिकी आय सर्वाधिक हो, वही उसका सर्वोत्तम बिन्दु है।

कुछ लोगोने अन्य सिद्धान्तभी निश्चित किये है। उनके अनुसार यदि जीवन

की दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक जीवनाशा, सामाजिक दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक अवकाश और सामान्य हित एव सम्पन्नता, युद्धकी दृष्टिसे देखें तो सर्वाधिक सुरक्षा इत्यादि उद्देश्य सर्वोत्तम जन-सख्याके हो सकते है।

जन-सख्या मे परिवर्तनो का महत्व

माल्थस और अन्य विचारकोंके मतोकी जो विवेचना हमने की है, उससे मानव-हित और आर्थिक सम्पन्नताके लिए उचित जनसख्याका कितना महत्व है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होगया है। माल्थसके अनुसार तो दरिद्रता-निवारण का उपायही यही है कि जन-सख्याको सकुचित करनेका भरसक प्रयत्न किया जाये, यद्यपि अन्य बहुतसे विचारकोने माल्थसके बताये उपायोका समर्थन नही कियाहै (उन्होने गर्भनिरोध के कृत्रिम उपायोकी ही अधिक उपयोगिता मानी है) पर उन्होने भी माल्थसके सिद्धान्तका महत्व स्वीकारही किया है। इस तथ्यसे इन्कार नही किया जासकता कि मतोका उद्भव और उनका प्रभाव बहुत कुछ तत्कालीन परिस्थितियोमे प्रभावित होता है। जिस समय माल्थसने अपना मत प्रचलित कियाथा, जन-वृद्धिका भय अधिक था और इसप्रकार अर्थशास्त्रमें जनसख्या पर वृद्धि और आधिक्यकी दृष्टिमे अधिक विचार हुआ। परिस्थितियोमे परिवर्तन होनेपर स्थायी और ह्रास-शील जन-सख्याकी ओर भी विचारकोका ध्यान गया। जन-सख्याकी पुरानी प्रवृत्ति श्रमजीवियोकी अवस्था तथा मजूरीकी दरके दृष्टिकोणसे करनेकी ओर थी। सामान्य रूपसे कहा जासकता है कि सामाजिक आय और सम्पत्तिके परिमाणके सम्बन्धमें ही जन-सख्या का महत्व अधिकतर देखागया है। आर्थिक परिवर्तन और प्रगति के सम्बन्धमें भी जन-सख्याका देखनेकी प्रथा प्रचलित रही है।

वृद्धिशील जनसख्या

कुछ लोगोके मतमें जनसख्या का सम्पूर्ण माग और पूजी लगानेके अवसरो पर प्रभाव सबसे महत्वपूर्ण है। इस दृष्टिसे वृद्धिशील जन-सख्याका प्रथम और स्पष्ट प्रभाव तो सम्पूर्ण माग और पूजी लगानेके अवसरोको बढाना है। वृद्धिशील जन-

संख्यामें व्यय और उपभोग प्रवृत्ति बढेगी और साथही भविष्यकी चिन्ताके कारण बचत और इसलिए पूजी निर्माण भी। यदि हम वितरण-रीतिकी अपूर्णताओंको छोडदें, तो यह फल तभी प्राप्त होसकता है जब वृद्धिशील जन-सख्याके साथ साथ नवीनताओंकी गति और श्रमजीवियोंकी उत्पादन-शक्ति बढे। पर जन-संख्या और नवीनताओंका सम्बन्ध सरल नही। एक ओर तो बढती हुई जनसंख्याके कारण पूजी लगानेके अवसरोंके बढजाने से उद्योगपतियोंको नवीनताए अपनानेका अधिक लोभ होताहै पर दूसरी ओर ह्रासशील जनसख्याका भी यही प्रभाव होसकता है। मन्दी होनेके कारण उद्योगपतियोंको श्रमकी बचत करनेवाले उपाय ढूढने पडते हैं। इसके अतिरिक्त वृद्धिशील जनसख्याका एक प्रभाव श्रमका मूल्य घटादेना हो सकता है। और उस स्थितिमें मैशीनरीके स्थानपर श्रमका उपयोग अधिक होने की सम्भावना है। साधारणतया कहा जासकता है कि यदि बेकार उत्पादनके साधन न हों, तो वृद्धिशील जन-सख्या सामाजिक और आर्थिक हितकी बाधक और इसकारण बडे बडे आर्थिक और सामाजिक परिवर्तनोंका मूल होगी।

ह्रासशील जन-सख्या

प्रोफेसर हेनसनके मतानुसार आर्थिक प्रगतिके मुख्य तीन कारण है—एक आविष्कार, दूसरा नवीन साधनों तथा भूभागोंका पता लगना और तीसरा जन-संख्या। यदि जन-संख्या ह्रासशील हो तो पूजीका निर्माण कम होगा और इसकारण आर्थिक प्रगति रुकेगी। प्रसारके अवसर जितनेही कम होगे, प्रगति उतनीही कम होगी। पर जैसा रिकार्डो ने पहिलेही कहाथा, प्रगतिशील सीमा केवल भौगोलिक अथवा जन-संख्या सम्बन्धी वस्तु नही है। आर्थिक आवस्थासे भी उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसा हमने अभी देखा है, जनसंख्याकी दर और आर्थिक प्रगति का सम्बन्ध बडा जटिल है। सामान्य रूपमे यह कहसकते है कि यदि हम प्रगतिका मोह छोडदें, तो जन-संख्याकी दर स्थायी रखनी होगी और वृद्धिशील जन-सख्याकी अपेक्षा ह्रास-शील जनसख्या वाछनीय होगी। पर प्रगतिकी इच्छा रहतेहुए ह्रासशील जन-सख्याका प्रभाव बुरा ही है।

कुशलता

हम लिखचुके हैं कि श्रमकी पूर्ति श्रमजीवियोंकी कुशलता परभी निर्भर है। श्रमकी कुशलताके मुख्य मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

१ व्यक्तिगत। कुशलताके लिए दो गुणोंकी सर्वोपरि आवश्यकता होती है। एकतो अभ्यास और परिश्रमकी क्षमता और दूसरे समझदारी। जिस व्यक्ति अथवा जातिमें लगातार कामकरते चलजाने का स्वभावहै उसके अधिक कुशल होनेकी सम्भावना है और समझदारीकी कमसे कम उत्पादनके उन विभागोंके लिए जहां संयोजन और निर्णयका अधिक काम पड़ताहै आवश्यकता है।

२ वातावरणगत। वातावरणसे हमारा तात्पर्य उन दशाओंसे है जिनमें श्रमजीवी जीवन-यापन करताहै अथवा जिनमें वह उत्पादन-कार्य करता है। जीवन-यापनकी दशाएं कुछ तो ऐसीहैं जो उत्पादन प्रणालीही से सम्बन्धित हैं और कुछ उससे स्वतन्त्र हैं। जलवायुका प्रभाव एक ऐसा कारणहै जो स्वतन्त्र रूपसे श्रमकी कुशलता निश्चित करता है। प्रसिद्ध विद्वान हंटिंग्टनने जलवायुका स्वास्थ्य और श्रम-कुशलतासे बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध बतलाया है।

उत्पादन-प्रणालीसे सम्बन्धित दशाएं दो प्रकारकी हैं—एकतो वेह जो श्रमिकोंके कार्य, स्थान इत्यादिसे और दूसरी वे जो श्रमिकोंके जीवन-यापनसे सम्बन्ध रखती हैं। पहिलीके अन्तर्गत कार्य स्थानमें रोशनी, तापमान, सफाई इत्यादिका उचित प्रबन्ध काम करनेके घंटे दीर्घ न होना, कामका उचित नियन्त्रणादि। यहांतक उत्पादन-प्रणालीसे श्रमिकोंके जीवन-यापनकी दशाएं उत्पन्न होतीहैं, मजूरीका कम होना, जिसके फलस्वरूप श्रमजीवियोंके लिए उचित घरका न होना, उचित खाना न मिलना तथा अन्य असुविधाओंका होना और उनके बच्चोंके लिए उचित शिक्षा की कोई व्यवस्था न होना, ये बातें ध्यान देने योग्य हैं।

३ समाजगत। श्रमजीवियोंकी कुशलताका कारण मजूरीका कम होना तथा तज्जन्य अशिक्षा, अस्वास्थ्य-कर वातावरण एवं व्यापक दरिद्रता है। इस सम्बन्धमें यह लिखदेना भी अनुचित न होगा कि कुछ लोगोंका यहभी मतहै कि श्रमिकोंकी अकुशलताही उनके अल्प पारिश्रमिकका कारण है।

श्रमको विभाजन द्वाराभी अधिक कुशल बनाया जासकता है। श्रम विभाजनसे

हमारा तात्पर्य यह है कि किसी वस्तुके बनानेमें जितने और जिस प्रकारके श्रमकी आवश्यकताहै, वह एकही व्यक्तिके ऊपर न छोडकर कई व्यक्तियों या वर्गोंमें बाट दियाजाये। श्रमविभाजन कई प्रकारका होसकता है।

१ व्यक्तिगत। जब विशेष गुणोंके आधारपर कुछ कार्य-विशेष केवल कुछ व्यक्तियोंके लिए सुरक्षित करदिय जातेहैं तब हम उसे व्यक्तिगत श्रमविभाजन कहते है। यह सम्भव होसकता है कि एकही व्यक्ति अथवा परिवार कृषक, लुहार और बढईके कार्य करे परयदि य व्यापार भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें बाट दियेजायें तो श्रमकी बचत होगी। इसप्रकार का श्रमविभाजन वर्गगतभी होसकता है। जब समाजके आर्थिक कार्य विभिन्न जन-वर्गोंमें बटजाते हैं तो उसे वर्गगत श्रमविभाजन कहतेहै, उदाहरणके लिए वर्तमान फैक्ट्री प्रणालीमें श्रमका विभाजन बहुत कुछ व्यक्तिगत है। मध्ययुगीन योरोपकी अर्थ व्यवस्थामें कला-कौशल विभिन्न वर्गोंमें बटा हुआथा, जिन्हें गिल्ड या गोष्ठियां कहतेथे उस प्रकारके श्रमविभाजनको वर्गगत कहेंगे।

२ प्रक्रियागत। एकही कार्यको जब कई छोटे-छोटे कार्योंमें बाट दियाजाता है और प्रत्येक उपविभागको भिन्न भिन्न व्यक्ति सम्भालतेहैं तो उसे हम प्रक्रियागत श्रमविभाजन कहते है। ऐडम स्मिथ इसीकी विशेष चर्चा करते है। उन्होंने पिन बनानेका उदाहरण दियाहै जिसमें २१ उपविभागो का वर्णन किया है। पिन पर टोपी लगनेका कार्य एक व्यक्ति-समूह करता है, उसपर नोक दूसरा बनाता है, उन्हें पॉलिश तीसरा करता है, पैक चौथा करता है। इसप्रकार अनेक उपविभागोंमें बट कर अनेक मनुष्यो द्वारा पिनका निर्माण होता है। कोईभी कार्य कहांतक विभाजित अथवा उपविभाजित होसकता है इसकी कोई सीमा नही। उत्पादन-प्रक्रिया का अधिकाधिक भागों और उपविभागोंमें बटते चलेजाना वर्तमान उत्पादन प्रणाली की एक मुख्य विशेषता है।

३ भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत। जब आर्थिक व्यापार कला कौशल, उद्योग धंधे विशेष विशेष क्षेत्रोंमें बट जातेहै तो इन उद्योगोंमें उपयोगी श्रमका भी इन्हीं क्षेत्रों में विभाजन होजाता है। इस प्रकारके विभाजनको भौगोलिक अथवा क्षेत्रगत विभाजन कहते हैं। उदाहरणार्थ, भारतमें सूती कपडेके कारखाने अधिकतर दक्षिण में, चीनीके उत्तरमें और पटसनके उत्तर पूर्वमें है। इसप्रकार के श्रम विभाजनके

कई कारण होसकते हैं। मुख्यतः कुछ विशेष उद्योगोंमें दक्ष श्रमिकोंका किसी क्षेत्र विशेषमें रहना या उस उद्योगके लिए आवश्यक कच्ची सामग्रीका उस क्षेत्र या उसके निकट मिलना महत्वपूर्ण कारण है।

श्रमविभाजन के लाभ

१ समयकी बचत। श्रमविभाजन द्वारा समय बहुत बचाया जासकता है। इस के कई कारण है। एक कार्यके कई भागोंको जब एकही व्यक्ति करताहै तो उसे एक भागके अनन्तर दूसरे भागकी तैयारी करनेमें थोड़ा समय लगता है। श्रम विभाजन द्वारा यह समय बचजाता है। इसके अतिरिक्त यदि एकही आदमी पूरा कार्य करे तो कार्यकी बदलती आवश्यकताओंके अनुसार उसे विभिन्न प्रकार की सामग्री एकत्रित करनी पड़ेगी। इसमें कार्यकी निरन्तरता टूटतीहै और बहुत कुछ समयभी व्यर्थ जाता है। कार्यको अनेक भागोंमें बांटलेने से यह समय बचजाता है परन्तु समयकी बचतका सबसे बड़ा कारण यहहै कि एकही प्रकारके कार्यको करते रहनेसे अभ्यासकी अधिकताके कारण उस कार्यको करनेकी गति तीव्र होजाती है।

२ कौशलकी वृद्धि। यह तो जानतेही हैं कि श्रमविभाजनके द्वारा श्रम अधिक कुशल होजाता है। जब कार्य अनेक उपविभागोंमें बट जाताहै तो कार्यप्रणाली बहुत कुछ अनवरत होजाती है। ऐसी अवस्थामें अभ्यासके कारण गति तीव्र हो सकती है। परन्तु यदि कौशलका अर्थ कार्यको कम समयमें ही नहीं वरन् अधिक सुन्दर कर सकनेकी क्षमताहै तो इस क्षमतामें वृद्धिके स्थानपर ह्रास ही होगा।

३ नवीन आविष्कारों की सम्भावना। श्रमविभाजन द्वारा कार्य कई भागोंमें बट जाताहै, इसकारण कार्य करनेवाले को कार्यके उस विभागको अत्यन्त सूक्ष्मता पूर्वक देखने, समझनेका अवसर मिलताहै और इसप्रकार उसके सुधार अथवा उसमें नवीन अनुसन्धानकी सम्भावना बढ़जाती है। श्रमविभाजनसे उस प्रकारके आविष्कारोंकी सम्भावना अधिक होजाती है जो यान्त्रिक हों, क्योंकि इसके कारण उत्पादनमें श्रमके स्थानपर यन्त्रोंके प्रयोगमें सुविधा होतीहै और यही कारणहै कि पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्थामें श्रमविभाजन बड़ा महत्वपूर्ण और अनिवार्य है। एकही कार्यको अथवा किसी कार्यके एक छोटेसे विभागको बारबार दुहरानेसे वह

कार्य यन्त्रवत् होजाता है और कुछतो इस बार बार के दुहरानेसे ऊबकर और कुछ बार बार देखनेसे यान्त्रिक सिद्धान्त अधिक स्पष्ट होजानेसे कार्य करनेवाला उस कार्यके यन्त्र द्वारा होसकने के उपाय सोचने लगता है। इसप्रकार एक नये यन्त्र का—अर्थात श्रम बचानेके एक नये साधनका आविष्कार होजाता है।

श्रमविभाजन उसी अवस्थामें सम्भव है जब उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण पर्याप्त विस्तृत हो। बहुत छोटे परिमाणमें उत्पादन होनेपर कार्य इतने अधिक नहीं होते कि उन्हें अनेक व्यक्तियोंमें बांटाजाय और दूसरे कार्यको अनेक भागों तथा उपविभागोंमें बांटनेसे समय श्रम और धन दोनोंकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। इसकारण श्रमका अधिकाधिक विभाजन सदैव उत्तरोत्तर वृद्धिशील और बड़े पैमानेमें उत्पादनसे सम्बन्धित होता है।

श्रमविभाजनकी सीमारेखा बाज़ारका विस्तार है। इस कथनका आधार श्रम-विभाजन और उत्पादन-परिमाणका सम्बन्ध है। उत्पादन जितनेही विस्तृत परि-माणमें होगा श्रमविभाजन उतनाही अधिक लाभप्रद होगा। परन्तु यदि इस उत्पादनकी खपतके लिए सुदूरव्यापी और विस्तृत बाज़ार न हो, तो उत्पादनको अनिवार्यतः सकुचित करना पड़ेगा और तदनुसार श्रमविभाजन क्रमशः कम लाभ-प्रद होनेके कारण सकुचित होता जायगा। इस सम्बन्धमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि जब उत्पादन मुख्यतया क्रय-विक्रयके लिए होताहै और मानवीय आवश्य-कताओं और उपयोगिताओंसे उसका सम्बन्ध नष्ट होजाता है उसी समय मंडियोंका प्रभुत्व मानवजीवन और समाजव्यवस्था पर सर्वोपरि होजाता है। और ऐसी ही अवस्थामें श्रमविभाजनका रूप और सीमारेखा बाज़ारके विस्तारसे निश्चित होते हैं।

१३

उत्पादन के साधन—पूंजी

अधिकतर विचारवान पूंजीको श्रमका एक रूप मानाहै और संचित श्रम, भूत श्रम इत्यादि नाम दिये हैं। कुछ लोगोंने इसे भूमि और श्रम दोनोंका मिश्रित रूप माना है। प्राचीन अर्थशास्त्रियोंने पूंजीको मुख्यतया श्रमिकोंको काममें लगाये रखनेवाले कोषके रूपमें देखाहै, जिसमें उन्होंने मेशीनरी इत्यादिको भी सम्मिलित किया है।

उत्पादनका एक रूपतो वहहै जिसमें उत्पादन और उपभोगके बीचमें कमसेकम समयका अन्तर पडता है और इसकारण इस प्रणालीमें भूमि और श्रमके अतिरिक्त किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं पडती। स्पष्टहै कि इस प्रणालीमें भूमि और श्रमका सम्बन्ध एक दूसरसे सीधा होगा। इस प्रणालीको हमें अपरोक्ष प्रणाली कहेंगे। उदाहरणके लिए मछुएको लीजिए जो हाथसे मछली पकडता है। उत्पादनकी यह प्रणाली होसकती है कठिनहो और मछलियां बहुत कम पकडी जासकें तथापि इसमें कमसेकम प्रतीक्षाकी आवश्यकता है और भूमि (नदी अथवा समुद्र) तथा श्रमके अतिरिक्त अन्य किसी साधनकी सहायता की आवश्यकता नहीं। थोडी देरके लिए कल्पना कीजिए कि कोई आदमी एक जालका आविष्कार करता है। अब यदि मछली पकडनेकी प्रणाली बदलती है और हाथके बजाय जालकी सहायता से मछली पकडनी है तो इसकेलिए यह आवश्यकहै कि या तो मछली पकडनेवाला स्वयम् मछली पकडनेका काम छोडकर जाल बुननेका कामकरे और जाल तैयार होनेपर मछली पकडना आरम्भ करे अथवा मछली पकडनेवाला किसी दूसरे आदमी से जाल बुनवाये और जाल तैयार होनेके समय तक उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध करे। दोनों अवस्थाओंमें यह आवश्यकहै कि जाल तैयार होनेतक प्रतीक्षा करनेकी क्षमता उत्पादक वर्गमें हो—अर्थात् कुछ अवकाश-काल उसे उपलब्ध हो। और आर्थिक दृष्टिसे अवकाश-काल का अर्थ हुआ वर्तमान आवश्यकताओं से अधिक उत्पत्ति। इस अवस्थामें श्रमविभाजन आवश्यक है। अवकाश-काल और श्रम-

विभाजनका सम्बन्ध इतना घनिष्टहै कि यह कहना कठिनहै कि इनमें कौन मुख्य है, कौन गौण पर अवकाश-कालके बिना श्रमविभाजन सम्भव नहीं दीखता।

इस उदाहरणमें जालको हम पूजी कहेंगे और यदि जालके उत्पादन क्रमको ध्यानमें रखें तो कुछ बातें बहुत स्पष्ट समझमें आती है। पहिलीतो यह कि जाल स्वय श्रम और भूमिसे निर्मित एक वस्तु है। इसप्रकार वह उत्पादनका प्राथमिक साधन नही होसकता। फिरभी वह मनुष्यकी कोई आवश्यकता प्रत्यक्षत: पूरी नही करता और इसकारण वह अन्य उत्पादित वस्तुओंसे भिन्न है। उसकी विशेषता यह है कि वह उत्पादन-कार्यमें सहायक है। दूसरी बात यहहै कि यह सहायता मुख्यत: इस रूपमें है कि वह श्रम और भूमि का सम्बन्ध बदल देताहै और उसे अपरोक्षसे परोक्ष बनादेता है। इसका फल यह होताहै कि उत्पादन-काल दीर्घ होजाता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुचते है कि पूजीमूलक उत्पादन प्रणाली वहहै जिसमें उत्पादन-काल विस्तृत होता चला जाता है। यह तथ्य श्रम विभाजनके कारण अधिकतर छिपा रहता है।

उत्पादनकाल और उसकी दीर्घता

उत्पादन-कालऔर उसकी दीर्घताका अभिप्राय समझलेना आवश्यक है। ऊपर कह आयेहैं कि पूजीके द्वारा उत्पादन और उपभोगका अन्तर बढजाता है। इसतरह उत्पादन-काल का अर्थ हम यो करसकते है: वह काल जो किसी वस्तुके निर्मित होनेके आरम्भसे अन्ततक लगता है। उत्पादन-काल की यह व्याख्या आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बैमबावर्कके आधारपर है और उन्हीके आधारपर हमने उपरिलिखित पूजीकी विवेचना भी की है। परन्तु इस व्याख्याकी कठिनाई यहहै कि विभिन्न वस्तुओंके निर्माणकी आरम्भ और समाप्ति भिन्न भिन्न समयपर होगी। इसके अतिरिक्त वस्तुओंका आरम्भ और उनकी समाप्ति कब हुई यहभी कहना कठिन होगा। बैमबावर्क ने इन कठिनाइयोंको दूर करनेके लिए औसत उत्पादन-काल मानाहै पर यह औसत भी बहुतकुछ इच्छाश्रित एव काल्पनिक ही होगा। डा० हायेक ने इस प्रश्नको सुलझानेका प्रयत्न किया है: पहिले उन्होने उत्पादन सामग्री और उत्पत्तिकी परिभाषा दी है।

'किसी भी अवधि-विशेष में जितने भी उत्पादनके स्थायी उपकरणो की सेवाएं उपलब्ध है, उनकी सेवाओंके समूहको शुद्ध उत्पादन-सामग्री कहेंगे। जब स्थायी और अस्थायी दोनों प्रकारके उपकरणोंकी सेवा प्राप्त होतीहै तो उसे मिश्रित उत्पादन सामग्री कहेंगे।' उस अवधि विशेषमें उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उत्पत्ति प्राप्त करनेकी क्रियाओं को ही अर्थशास्त्र की परिभाषामें हम उत्पादन कहते हैं। उत्पत्तिसे अभिप्राय है उत्पादन सामग्रीके प्रयोगद्वारा उपभोक्ता को उपलब्ध सेवाओं धारासे। प्रत्यक्ष उत्पादन क्रिया और उत्पत्तिके बीच जो काल बीतताहै उसेही उत्पादन-अवधि कहेंगे। ये अवधियां भिन्न भिन्न प्रकारके उत्पादनके अनुसार भिन्न होंगी और इनमें एकरूपता अथवा समानताकी कल्पना व्यर्थ है। आदर्श रूपसे दो प्रकारकी परिस्थितियां होसकती हैं: एक तो ये कि किसी एक समयमें उत्पादनके उपकरणोंका उपयोगहो और फिर बहुत कालतक सेवाएं मिलती रहें, जैसे कोई मनुष्य पेड़मे एक डाली तोड़ले और फिर बहुत दिनतक उसका प्रयोग छड़ीके रूपमें करता रहे। दूसरी ये कि बहुत काललक उत्पादन-उपकरणोंका उपयोग करते जायें और उनका फल एकसाथ ही एकक्षणमें उपलब्ध हो। पर जैसा हमने कहा ये आदर्श परिस्थितियां है और वास्तवमें इन्हीं दोनोंके बीचकी विभिन्न दशाएं मिलती हैं।

हमने ऊपर कहा कि पूंजी उत्पादन प्रणालीमें उत्पादन-अवधि बढ़ जाती है। अब प्रश्नहै कि इसप्रकार की प्रणाली क्यों अपनायी जाती है। आर्थिक दृष्टिसे इसका एकही उत्तर होसकता है और वह यहकि उत्पादन अवधिके बढ़नेके साथ साथ उत्पादनभी बढ़जाता है। ऊपरी तौरपर देखनेसे यह अयथार्थ सा लगसकता है कि आविष्कारों और नवीनताओंके द्वारा उत्पादन-काल घटनेके स्थानपर और बढ़ जाये। पर ध्यानपूर्वक देखनसे इस मतकी यथार्थता स्पष्ट होजायेगी—जहांतक आविष्कार (जिनका पदार्थगत रूप पूंजी होती है) श्रम और भूमिका सम्बन्ध अपरोक्षसे परोक्ष करदेते हैं, वे अनिवार्यतः उत्पादन-अवधि बढ़ा देते हैं। यहां यह बात समझ लेनकी है कि जब हम उत्पादन-अवधिके बढ़जाने की बात कहतेहैं तो हमारी दृष्टिमें तुलनाके लिए उत्पादनकी वह प्रणाली है जिसको हमने ऊपर अपरोक्ष कहा है। यह सदैव सम्भवहै कि दो पूंजीवादी प्रणालियों में से एक कम और दूसरी अधिक समय लेनेवाली हो।

उत्पादन अवधि और उत्पादनशीलता

उत्पादन अवधिके बढनेसे उत्पादनशीलता बढजानेके कुछ कारणहैं। अधिकतर एसा होताहै कि उत्पादनके कुछ उपकरण एसे होतेहैं, जिनका उपयोग प्रस्तुत काल में नहीं होरहा होता। यदि हम उनका उपयोग करें तो उत्पादनमें वृद्धि अवश्य होगी। पर उनके उपयोगके लिए कुछ अन्य उत्पादक साधनो और सेवाओंकी आवश्यकता होगी, जिन्हें हमें अन्य उत्पादन कार्योंसे हटाकर प्रस्तुत उत्पादन कार्य में लाना पडेगा। इसका फल यही होगा कि उत्पादन काल बढ जायेगा। विकसेल ने इसी बातको इस ढगसे कहाहै कि पूजीमूलक उत्पादनके साधनोकी दो कोटिया होतीहैं प्रस्तुत श्रम और भूमि तथा सचित भूमि और श्रम। सचित भूमि और श्रमकी कुछ सवाए सदैव अमूल्य होतीहैं और इसकारण प्रस्तुत भूमि और श्रमका उपयोग जब उत्पादनके लिए किया जाताहै तो सचित श्रम और भूमिका सहयोग भी प्राप्त होने पर उत्पादन अवश्य अधिक होता है।

इसके अतिरिक्त दीर्घकालीन उत्पादन-प्रक्रियामें बहुतसे उन पूरक उपकरणो की सवाए उपलब्ध होसकती है जो अल्पकालीन उत्पादन प्रक्रियामें इसलिए अप्राप्य होगी कि उनकी आवश्यकता अन्य वस्तुओके उत्पादनमें होती है।

परन्तु कालकी दीघता और उत्पादनशीलता के पारस्परिक सम्बन्धका वास्तविक रूप समझनेके लिए उत्पादन वृद्धि तथा उसमें आविष्कारोका भाग समझना आवश्यक है। हमने ऊपर अपरोक्ष उत्पादन-प्रणालीका जो उदाहरण लियाथा, उसमें देखाथा कि मछलियाके उत्पादनकी वृद्धिका वास्तविक कारण जालका आविष्कार था। उत्पादन अवधिका बढजाना इस आविष्कारके उपयोगका अनिवार्य परिमाण था। इस दृष्टिसे देखनेपर वृद्धिका वास्तविक कारण आविष्कार है और क्योकि आविष्कारके उपयोगमे समय अवश्य अधिक लगगा इसकारण दीर्घकालीन उत्पादन प्रक्रिया अवश्य अधिक उत्पादनशील होगी। परन्तु आविष्कार उसी समय अपनाये जासकते है जबवे उत्पादनके लिए लाभकारी हो। लाभकारी होनेका अभिप्राय यहहै कि वर्तमान भूमि और श्रमसे सापेक्ष रूपमें कम व्ययशील हो। इस प्रकार मशीनरी वर्तमान श्रमकी बचत करती है। कल्पना कीजिए कि किसी उत्पादन उद्योग को आविष्कार द्वारा कोई नया उत्पादन का साधन उपलब्ध होगया है।

श्रमकी बचत अथवा प्रतिस्थापना दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो उद्योग अपना निमाण बढ़ादे और प्रस्तुत श्रम और भूमि उतनीही रख, दूसर कुछ प्रस्तुत श्रम घटा दे। दूसरे शब्दोंमें या तो कम श्रमसे पहिलेही जितना उत्पादन कर अथवा उतने श्रमसे पहिलेसे अधिक उत्पादन करे। इस विश्लेषणसे स्पष्ट है कि प्रत्येक दशामें पूजी (मैशीनरीके रूपमें आविष्कार) केवल श्रमका प्रतिस्थापन करती है।

पूजी की वैकल्पिक परिभाषा

हम देखचुके है कि पूजीके प्रयोगका अर्थ उत्पादन कालको बढ़ा देना है। इसकारण इस बीचमें जब वस्तुएं तैयार नहीं हुई हैं श्रमिकोंके जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध होना आवश्यक है। पूजी मूलक उत्पादन प्रणालीमें इसीकारण प्रायः पूजीको श्रमजीवियोंको अग्रिम पारिश्रमिक प्राप्त करानेवाला अथवा जीवन निर्वाह कोष माना जाता है। इसी दृष्टिसे पूजीकी एक दूसरी परिभाषाभी दीजाती है। पूजी उत्पादक साधनों सेवाओं और उपकरणों की वह कोटिहै जो अस्थायी और अनित्य हों। आर्थिक दृष्टिसे इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनके वर्तमान और भविष्य उपयोग में न्यूनाधिक लाभ होसकता हो और जिनके रक्षणके लिए श्रमकी आवश्यकता होती हो। पूजीकी पहिली और इस परिभाषामें कोई मौलिक भेद नहीहै यद्यपि पूजीका उदभव अवकाश और आविष्कार द्वारा होताहै फिरभी उत्पादनमें उसका रूप अनिवार्यतः कालवृद्धि का होताहै और इसप्रकार पूजी कालाश्रित होजाती है। कालाश्रित होनेसे वह अवश्य अस्थायी होगी और अस्थायी वस्तुके होनेसे उसके संरक्षणकी भी आवश्यकता होगी।

विभिन्न प्रकार की पूजी

१ स्थायी और प्रत्यावर्तनशील। स्थायी पूजीकी परिभाषा इस प्रकार है उत्पादन-प्रक्रियामें जिस पूजीका एकही रूपमें अधिक कालतक व्यवहार हो सके, वह स्थायी-पूजी है। मैशीनरी, फैक्ट्रीकी इमारत इत्यादि स्थायी पूजीके उदाहरण हैं। यद्यपि इनकेभी कई उपयोग होसकते हैं और पर्याप्त समय मिलनेपर इनको एक

उपयोगसे दूसरे उपयोगमें लगाया जासकता है पर कालविशेष में इनको किसी दूसरे उपयोगमें प्रयुक्त करना सम्भव नहीं है और उत्पादनमें इनके द्वारा एकही प्रकारकी सेवा मिल सकती है। दूसरे एकबार इनका निर्माण होजाने पर इनकी सेवा-धारा बहुत कालतक अविरत चलती रहती है। प्रत्यावर्तनशील पूजी उस पूजीको कहते है, जो उत्पादन प्रक्रियामें अनेक रूपोमें काम आसके और एक उपयोगसे दूसरे उपयोगमें सुविधापूर्वक लगायी जासके। इसके उदाहरण, कच्ची सामग्री, नकद पूजी और मजूरी कोष है। इसी विभेद को मार्क्सने दूसरे प्रकारसे और दूसरे नामोसे स्थापित किया है। स्थायी और प्रत्यावर्तनशील पूजीको उन्होंने एकरस और परिवर्तन- शील पूजी कहा है।

स्थायी और प्रत्यावर्तनशील पूजीका उत्पादन कार्यमें पारस्परिक अनुपात तथा एकका दूसरेमें परिवर्तित होजाना बहुत प्राचीन कालसे अर्थशास्त्रियोंके विचार का विषय रहा है। यहतो स्पष्टही है कि स्थायी पूजी की वृद्धिका अर्थ प्रत्यावर्तन शील पूजीकी हानिही होगा। इसीकारण रिकार्डोने मैशीनरी पर अपने विचार प्रकट करतेहुए कहाहै कि मैशीनरीकी वृद्धिका प्रभाव सदैव श्रमजीवियोंके लिए हानिकर होगा। इनके अतिरिक्त इन दोनोके पारस्परिक अनुपातका व्यापारचक्रसे घनिष्ट सम्बन्धहै और कुछ विद्वानोके मतमें प्रत्यावर्तनशील पूजी जब तीव्रगतिसे स्थायी पूजीमें परिवर्तित होनेलगे तो सकटका आरम्भ समझना चाहिए।

२. निजी, सामाजिक और राष्ट्रीय पूजी। निजी पूजीसे हमारा अभिप्राय उस पूजीसे है जिसका स्वामित्व व्यक्तिगत हो। जैसे फैक्ट्रीकी इमारत, मैशीनरी इत्यादि। सामाजिक पूजी वह पूजीहै जिसका स्वामित्व पूरे समाजको प्राप्तहो जैसे म्यूनिसिपल और प्रान्तीय सड़को आदिका स्वामित्व। राष्ट्रीय पूजीका प्रयोग किसी राष्ट्र की सम्पूर्ण निजी तथा सामाजिक पूजीको प्रकट करनेके लिए कियाजाता है।

३. भौतिक और वैयक्तिक पूजी। भौतिक पूजी वह पूजी है जिसका पार्थिव रूप होना आवश्यक है और जिसे हस्तान्तरित किया जासकता है। वैयक्तिक पूजी से हमारा अभिप्राय किसी व्यक्ति विशेषकी योग्यता अथवा कुशलता से है। इसको हस्तान्तरित करना सम्भव नहीं। पहिली प्रकारकी पूजीमें शल्यचिकित्सकके उपकरणोंका और दूसरी प्रकारकी पूजीमें उसकी व्यक्तिगत योग्यताका उदाहरण दिया जासकता है।

४ उत्पादन तथा उपभोग-पूजी। पहिली प्रकारकी पूजीमें कच्ची सामग्री, मैशीनरी, उपकरण इत्यादि वस्तुओंको सम्मिलित किया जासकता है, जिनका कि उत्पादन-क्रियामें उपयोग होताहै और दूसरी प्रकार की पूजीमें खाद्य पदार्थो, कपडो और मकानोंका जो प्रत्यक्ष रूपमें मनुष्य की आवश्यकताओं की तुष्टि करते हैं।

५ पारिश्रमिक पूजी तथा सहायक पूजी। पहिली प्रकार की पूजीका प्रयोग श्रमजीवियों को पारिश्रमिक देनेके लिए कियाजाता है और दूसरी प्रकारकी पूजी उत्पादन कार्यमें उनकी सहायता करती है। मैशीनरी, कच्ची सामग्री, उपकरण इत्यादि इसके मुख्य उदाहरण है।

पूजी और बचत

पूजीका निर्माण उससमय होताहै जब उत्पादन उपभोगसे अधिक हो। दूसरे शब्दो मे पूजीका निर्माण और संग्रह बचत द्वारा होता है। बचतका अर्थ अर्थशास्त्रमें आयको वर्तमान व्ययसे हटाकर भविष्य व्ययमें लगाना है। बचत एकओर तो किसी व्यक्ति अथवा समाजकी बचत करनेकी शक्तिपर निर्भर रहती है और दूसरी ओर बचत करनेकी इच्छा पर। बचत करनेकी शक्ति उत्पादनमें वृद्धि अथवा उपयोगमें ह्रास होनेसे बढती है। इसका आधार किसी देश विशेषमें मिलने वाली प्राकृतिक सामग्री तथा अन्य उत्पादन-साधन है। बचत करनेकी इच्छा पूजी के निर्माण द्वारा लाभ प्राप्त करनेकी आशा तथा भविष्यके लिए प्रबन्ध करनेकी चिन्तापर निर्भर है। सन्तानके लिए कुछ सम्पत्ति छोड जानेकी लालसा भी इस इच्छाको पुष्ट करती है। आधुनिक विश्लेषणके अनुसार बचतका परिमाण समाजकी आयपर निर्भर रहता है और आयका परिमाण इस बातपर कि वस्तुत: कितने मनुष्य उद्योग धंधोंमें उचित पारिश्रमिकपर लगेहुए है और कितने बेकार अथवा अनुचित पारिश्रमिक पर काम कररहे है।

पूजी का संरक्षण

पूजीके संरक्षणसे हमारा तात्पर्य मुख्यतया उसके द्वारा पुनरुत्पादनके प्रबन्धसे है।

पूजीके पुनः स्थापन और संरक्षण का प्रबन्ध तीनप्रकार से होसकता है। प्रत्येक उपयोगमें एक कोष इस बातके लिए रखा जाताहै कि उसके द्वारा आवश्यकता पडनेपर मशीनरी तथा अन्य स्थायी पूजीकी मरम्मत होसके। दूसरे समाजकी आय तथा प्रस्तुत परिश्रम और भूमिका उपयोग दो मुख्य भागोमें बटा रहता है। एकतो उपभोग्य वस्तुए बनानेमें और दूसरे उत्पादक वस्तुए अथवा स्थायी पूजी उत्पन्न करनेमें। उदाहरणके लिए समाजको मछलिया प्राप्त होती रहें, इसकेलिए यही आवश्यक नही कि कुछलोग मछलिया पकडते रहें परन्तु यहभी आवश्यक है कि कुछलोग जालभी बनाते रहें ताकि जब प्रस्तुत जाल व्यर्थ होजायें तो नये जाल बनकर उनका स्थान लेसकें। इसका यह अर्थ हुआ कि सामाजिक आयका विभाजन प्रस्तुत और भविष्य उपभोगके बीच किसी उचित अनुपातमें होना चाहिए। जो आय भविष्य उपभोगके लिए उपयुक्त होतीहै, उसेही हम बचत कहते हैं।

सामाजिक अवकाशको भी बचतका आधार माना जासकता है। इसीके द्वारा आविष्कार सम्भव है। आविष्कारो द्वारा न केवल पूजीका सरक्षण ही होता है वरन् उसकी उन्नति भी होती है। अवकाशके अभावमें बचतभी सम्भव न होगी।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मिलने पूजीके सम्बन्धमें निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थापित किये है :

१ उद्योग सदैव पूजीके द्वारा सीमित होता है। इसका अभिप्राय यहहै कि समाज को कालविशेषमें जितनी पूजी उपलब्ध होगी, उद्योगका विस्तारभी वहीं तक होसकेगा।

२ पूजी बचतका परिणाम है। बचत और पूजीके सम्बन्धमें ऊपर विवेचन किया जाचुका है।

३ जो कुछभी उत्पादन द्वारा प्रस्तुत होताहै उस सभीका उपभोग होना है। इसप्रकार बचत और पूजीभी व्यय और उपभोगका रूप हैं।

४ वस्तुओंके लिए माग श्रमके लिए माग नही है अर्थात् यदि किसी समयमें समाजको अधिक वस्तुओ की आवश्यकता हो तो इसका अर्थ यह नही कि उसे अधिक श्रमजीवियो की भी आवश्यकता होगी। इसप्रकार मिलके अनुसार अधिक माग और अधिक व्ययका परिणाम अनिवार्यतः यह नही होसकता कि समाजमें बेकारी की कमी हो।

१४

व्यवस्था

व्यवस्था की आवश्यकता

यद्यपि उत्पादनके चौथे साधन व्यवस्थाका, विकमेल आदि अनेक अर्थशास्त्रियोंने मार्शलसे मतभेद प्रकट करतेहुए, स्वतन्त्र रूप माननेमें इन्कार कियाहै परन्तु फिर भी वर्तमान समयकी उत्पादन-प्रणालीमें श्रम और पूंजीको उत्पादन-क्रियाओंमें संयोजित करनेका कार्यभी महत्वपूर्ण होगया है। उत्पादनका क्षेत्र और परिमाण जितनाही विस्तृत होता जायेगा, श्रमकी उचित देखभाल, श्रमजीवियोंके पारस्परिक सम्बन्धका उचित प्रबन्ध, उनके कार्यकी जाच इत्यादि कार्य आवश्यक होते जायेंगे। व्यवस्थासे तात्पर्य उन प्रबन्धोंसे है जो उत्पादनार्थ भूमि, श्रम और पूंजी के लाभकारी उपयोगके लिए आवश्यक है और पूंजीमूलक उत्पादन प्रणालीमें व्यवस्थाको बहुत अधिक महत्व प्राप्त होजाता है। वास्तवमें उत्पादनमें भूमि, श्रम और पूंजीको *किसप्रकार सम्बन्धित किया जाये और किस प्रणालीसे एक दूसरेको* सर्वोत्तम सहयोगी बनाया जाये, यही व्यवस्थाका अभिप्राय है। मार्शल व्यवस्थाके *अन्तर्गत उद्योग-साहसको भी रखता है* और उसका *अनुसरण करतेहुए कुछलोग* व्यवस्थासे उद्योगपतियोंकी कार्यकुशलता, दृढ़ता, दूरदर्शिता तथा अन्य आवश्यक गुणोंका अर्थ लेते है। उद्योग-साहससे तात्पर्य उद्योगपतिकी उस विशेषतासे है जिस के फलस्वरूप वह उद्योगकी हानि लाभ तथा अनिश्चितताका सामना करनेको उद्यत होता है। इसप्रकार नवीन आविष्कारो तथा अन्य प्रकारकी नवीनताओंका उत्पादन में उचित प्रयोग इसी साहस द्वारा सम्भव होता है। संक्षेपमें व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिके मुख्य कार्य ये हैं:

(१) उद्योगके आकार तथा परिमाणका निश्चय करना।

(२) श्रम और पूंजीके सम्बन्धोको बनाये रखना।

(३) क्रय-विक्रय, पूजी तथा उत्पादन-परिमाणके सम्बन्धमें निश्चय करना।

(४) उत्पादन-साधन किस मात्रा और किस अनुपातमें प्रयुक्त होंगे, इसका निर्णय करना वास्तवमें व्यवस्थापकके सब कार्योंका सार यह है कि उसे निर्णय करना पडता है कि क्या, कितना और किस भाति उत्पादन करना है और किसप्रकार उसे बेचना है।

बड़े परिमाण मे उत्पत्ति

हम लिखचुके है कि व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका मुख्य कार्य उद्योगके आकार तथा परिमाण का निर्णय करना होता है। उत्पादनका परिमाण विस्तृत करदेने से उत्पादन-कौशलमें बहुत वृद्धि होसकती है और साधारणतया बडे बडे उद्योगोंको छोटोंसे कहीं अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसीकारण पूजीमूलक उत्पादन-प्रणाली की प्रवृत्ति बड बडे उद्योगोंको स्थापित करनेकी ओर रहती है। बड परिमाण में उत्पत्ति करनेसे दोप्रकार के लाभ प्राप्त होते है। मार्शल एकको आन्तरिक और दूसरेको बाह्य लाभ कहता है। आन्तरिक लाभ वे है जिनको केवल बडे परिमाणमें उत्पत्ति करनेवाले उद्योगविशेष ही उठासकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसेभी लाभहै जो पूर्ण उत्पादन प्रणालीको प्राप्त होते है। बाह्य लाभ उद्योगधन्धो के स्थानविशेष में एकत्र होजाने से प्राप्त होनेवाली सुविधाए है। उद्योगधन्धो के एक स्थानपर एकत्र होनेमें पहिला लाभ तो यहहै कि उस स्थानको उद्योग-कुशलता वश-गत होजाती है। बहुतसी बातें बच्चे बिना सिखाये सीखजाते है। हर एकको उस स्थानकी विशेष कला सीखनेके लिए सुविधाए प्राप्त रहती है क्योकि वहांपर उस कलाके विशेषज्ञ रहते है। इस स्थानीकरणसे दूसरा लाभ यहहै कि उस स्थानपर बहुत से सहायक उद्योगोंके विकासका भी अवसर रहता है। प्राय: देखनेमें आयाहै कि जहा एक मुख्य उद्योग स्थापित हुआ वहा अथवा उसके आस पास उससे सम्बन्धित अनेक सहायक उद्योग विकसित होजाते है। तीसरा लाभ यहहै कि विशेषज्ञ श्रम-जीवियोको नौकरी मिलनेके अनेक अवसर प्राप्त होते रहते है। इसकारण उन्हें जीविकाके सम्बन्धमें चिन्ता नहीं रहती। एक उद्योगपतिके साथ न बननेपर बिना किसी विशेष झझटके दूसरे उद्योगमें स्थान मिलजाता है। इन लाभोके अतिरिक्त

उद्योगके एकत्र होनेसे नये नये आविष्कारोंकी सम्भावना रहती है। कुछतो इस लिए कि उस स्थानपर बहुतसे विशेषज्ञ रहते हैं, उनका सहयोग और स्पर्धा दोनों ही आविष्कारके लिए सहायक होतहै और कुछ इसलिए कि उद्योगके एकत्र होने से मूल्यवान् और बहुतही विशिष्ट प्रकारके यन्त्रोंका प्रयोग सम्भव होता है।

बड़े परिमाणमें उद्योग होनेसे दो प्रधान आन्तरिक लाभ प्राप्त होते हैं। पहिला कच्चे माल तथा अन्य उपकरणोंकी बचत और दूसरा निपुणताका अधिक उपयोग। यद्यपि आरम्भमें अधिक परिमाणमें उत्पत्ति करनेसे अधिक माल श्रमजीवियों और व्ययकी आवश्यकता होतीहै पर हर दृष्टिसे इन सबकी बचत होती है। अर्थात् इन का उपयोग कम मूल्यमें होना सम्भव होताहै। बहुतसा माल इकैट्ठा मगवानेसे बड़े उद्योगपतिको भाव करनेमें कुछ अधिक लाभप्रद स्थिति प्राप्त होजाती है। वह दूर से और अच्छेसे अच्छा माल मगवा सकता है। अधिक माल खरीदनेपर मूल्य कम देना पड़ता है। दूसरी बात यहहै कि वह विशिष्ट और मूल्यवान् यन्त्रोंका प्रयोग कर सकता है। छोटे उद्योगोंको स्थायी पूंजी विस्तृत करनेका अवसर कठिनतासे मिलताहै क्योंकि स्थायी पूंजी सदैव श्रमकी बचत करतीहै और इसकारण उत्पादक को स्थायी पूंजी बढ़ानेके लिए अपना उत्पादन बढ़ाना पड़ता है। फिर कुछ ऐसे यन्त्रहै जिनका प्रयोग किसी कार्यके एक छोटे भागके लिए होताहै। ऐसे यन्त्रोंका लाभ केवल बड़े बड़े उद्योग और कारखानेही उठासकते है। कारण यहहै कि श्रम-विभाजन और श्रमविनिष्टता और निपुणताका पूरा लाभ बड़े बड़े उद्योगोंमें ही मिल सकता है। यह बात हम श्रमविभाजनकी चर्चा करतेहुए समझा चुके हैं। विशेषज्ञों का ज्ञान और सेवाओंका लाभ उठानेके लिए उद्योगपतिको उन्हें अधिक वेतन देना पड़ता है। अधिक वेतन बड़े बड़े कारखानेही सुविधा और लाभपूर्वक देसकते हैं। इसकारण छोटे उद्योगधन्धे इन सेवाओंसे वंचितही रहजाते हैं। आधुनिक उत्पादन पद्धतिका एक बड़ा आधार आविष्कार और नवीनताएं हैं। उत्पादन-प्रणालीमें नवीनताओंका समावेश करनेकी क्षमताके अभावमें वर्तमान आर्थिक व्यवस्था जीवनहीन होने लगती है। बड़े परिमाणमें उद्योग होताहै तो उसमें वैज्ञानिक अनु-सन्धान आदि करानेका अवसर मिलता है। वैज्ञानिक अनुसन्धान व्यय-साध्य काम है और जबतक छोटे उत्पादनका क्षेत्र बड़ा न हो, इसका कोई सुचारुरूप असम्भव है। यही नहीं, नये आविष्कारोंका, नयी उत्पादन रीतियों और अच्छे यन्त्रोंका उप-

योगभी छोटे छोटे उद्योगधन्धे नही करसकते। अधिक परिमाणमें उत्पादनकी कुछ अनिवार्य हानियाभी हैं। बडे उद्योगोका उत्पादन आवश्यकतासे बहुत अधिक होगा। इसकारण मन्दीके समय जब बिक्री बहुत कम होजाती है, ऐसे उद्योगोको बहुत हानिया सहनी पडती है। बहुत अधिक स्थायी पूजी लगे रहनेका अर्थ यहहै कि बहुत ऐसे व्यय जो स्थायीहै बिना उद्योग बन्द किये घटाये नही जासकते। उत्पादन-परिमाण कम हो या अधिक, ऊचा वेतन पानेवाले पदाधिकारियोको अलग नही किया जासकता, यद्यपि उससमय उनकी सेवाओकी आवश्यकता न हो। इसके अतिरिक्त जहां बडे बडे उद्योग नये आविष्कारोसे लाभ उठासकते हैं वहा उन्हें हानिभी होसकती है, क्योंकि आविष्कार शीघ्रतापूर्वक भी होसकते हे और इस दशामें उन को अपनानेमें पुरानी स्थायी पूजीकी क्षति होगी। पर यह हानि सामाजिक दृष्टिसे अधिकहै भिन्न भिन्न उद्योगोकी दृष्टिसे कम, क्योकि नये आविष्कारोका वे पेटेन्ट राइट खरीद सकतहै और इसप्रकार वे उनका उपयोग स्थगित रखसकते है। फिर भी यह निर्विवादहै कि उद्योग अपनेही नियमासे बद्ध होतेहैं और उनमें परिवर्तनशीलता तथा गत्यात्मकताका अपेक्षाकृत अभाव होता है। यहभी न भूलना चाहिए कि जहा बडे उद्योग प्रत्येक विभागका सुचारु वैज्ञानिक प्रबन्ध करसकते है, ऊचे वेतन देकर शिक्षा और अनुभव प्राप्त कुशल प्रबन्धक रखसकते है, वहा उत्पादन क्षेत्रके विस्तारके साथ प्रबन्ध और शासन-व्यय बढता चलाजाता है। तब फिर यहभी आवश्यक होजाता है कि छोटे पदाधिकारियो पर निर्णय और अन्य महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वके कार्य छोडेजायें। इसप्रकार उद्योगको बडी हानि होजाने की सम्भावना रहती है।

व्यवस्था के रूप

बड़े परिमाणमें जब उत्पत्ति होनीहै तो उसका स्वामित्व और प्रबन्ध एक व्यक्तिके वशकी बात नहीं रहती। एक तो उत्पादन व्यवस्थाकी एकस्वामित्व रीतिमें पूजीकी सदैव कठिनता रहती है क्योकि इसप्रकारके उद्योगो को बैक ऋण कठिनतासे देते है। दूसरे स्वामीका आर्थिक दायित्व असीमित होता है। इन कारणोंसे बडे बडे उद्योगोकी व्यवस्था साझेदारी, सम्मिलित पूजी-कम्पनी और कारपोरेशनके रूपमें

अधिकतर होती हैं। सहकारी समितियां भी व्यवस्थाका एक रूप होसकती है। पर बहुत बड़े उद्योगोंमें यह रूप सफलतापूर्वक कम अपनाया गया है।

साझेदारीमें दो या दोसे अधिक व्यक्ति उद्योगके साथ साथ स्वामी होते हैं। उन दोनोंके बीच समनुबन्ध होजाता है जिसके आधारपर यह निश्चित होताहै कि प्रत्येक साझीदार कितना रुपया अथवा पूंजी व्यापारमें लगायगा उसके और क्या क्या उत्तरदायित्व तथा अधिकार होंगे तथा लाभमें उसका कितना भाग रहेगा। साझीदारोंके बीच पूंजी नकदी और सेवा तीनोंका विभाजन होसकता है। और ऐसाभी होसकताहै कि कुछ साझीदार केवल पूंजी लगायें और कुछ केवल सेवाएं। साझेके समनुबन्धमें अधिकतर साझेदारोंके दायित्वका मान निश्चित करदिया जाताहै और उद्योगके लाभ और उसकी स्थायी पूंजीमें इनका भाग उनकी पूंजीके अनुपातमें बांट दिया जाता है। साथही अधिकतर समनुबन्धोंमें यह स्पष्ट तथा निश्चित करदिया जाता है कि उद्योगमें हानि होनेपर किस साझीदारको हानिका कितना भाग भरना पड़ेगा। अधिकतर राजनियमों द्वारा सरकार समनुबन्धों का पालन कराती है। पर यदि कोई साझीदार अपना भाग न चुका सके तो राजनियम द्वारा हर साझेदार अपनी सारी व्यक्तिगत सम्पत्तिके मूल्यके बराबर हानि पूरी करनेके लिए उत्तरदायी ठहराये जायंगे।

साझेदारीमें प्रत्येक साझीदार उद्योग सम्बन्धित कार्यके लिए उत्तरदायी होता है। यदि एक साझीदार कोई वस्तु किसी मूल्यपर खरीद लेताहै तो मूल्य देनेके लिए सभी साझीदार उत्तरदायी होंगे चाहे यह खरीद उन्हें पसन्द हो अथवा नहीं। यह दूसरी बातहै कि उद्योगके नामपर कोई व्यापारिक बातचीत करनेसे पहिले सभी साझीदार एक दूसरेसे राय लेलें। पर यदि वे ऐसा न करसके अथवा यदि उनमें परस्पर मतभेदहो तो इसके कारण दूसरों तथा जनताके प्रति उनके उत्तरदायित्व में कोई भेद नहीं पड़ता। साझेदारी का एक औरभी रूप होता है। इसमें ऐसा होताहै कि कुछ साझीदार सीमित उत्तरदायित्वके साथ उद्योगमें भागीदार होसकते हैं। घाटा होने पर ऐसे साझीदारों को उनके भागके अनुपातमें ही हानि भरनी पड़ती है। ऐसी अवस्थामें प्रायः तीन शर्तें लगाई जाती हैं। (१) उद्योगमें उसका भाग नकदके ही रूपमें हो सेवाओंके रूपमें नहीं (२) उद्योगके नाममें उसका नाम न आवे और (३) वह उद्योगके नामपर किसी प्रकारका लेनदेन न करे।

साझेदारीसे कई लाभ है। इस व्यवस्था द्वारा अधिक पूजी उपलब्ध होसकती हैं। सभी साझीदार कुछ न कुछ पूजी लगाते है और इसके अतिरिक्त बैंकोंसे भी सुगमतासे ऋण मिलजाता है। दूसरी बात यहहै कि इसप्रकार उद्योग को विभिन्न प्रकारकी योग्यताओंका लाभ मिलता है। इसके साथ इसप्रकार की व्यवस्थामें *व्यक्तिगत व्यापारका बहुत कुछ स्वरूप बना रहता है।*

साझदारी प्रथाकी कुछ हानिया भी है। इसमें पूजी प्राप्त करनेकी क्षमता अपेक्षाकृत कम रहती है। साधारणतया यह होताहै कि उद्योग बढनेपर और फलत: पूजीकी अधिक आवश्यकता होनेपर साझीदारोंकी सख्या बढानी पडती है। इस दशामें प्रबन्धमें भी कठिनाई होतीहै और अधिक सख्या होनेके कारण आपसमें मत-भेद भी बहुधा हुआ करता है। मतभेदोका यदि निपटारा न होसका तो साझदारी ही समाप्त करनी पडती है। इसके अतिरिक्त किसीभी साझीदारको यह अधिकार नहीं होता कि उद्योगमें वह अपना भाग बिना साझीदारोंकी सहमतिके अन्य किसी को बेच दे। इसकारण अलग होनके लिए या तो वह अन्य साझीदारोंके भागोंको खरीदले या स्वय अपने भागोंको उनके हाथ उनके इच्छित मूल्यपर बेचदे अथवा *साझदारी ही समाप्त कर दीजाये।* इसके अतिरिक्त साझीदारोंकी एक दूसरेके कार्यके लिए सहमति तथा उनका असीमित ऋणदायित्व भी इस व्यवस्थाको दोष पूर्ण बनाते है।

सम्मिलित पूजी कम्पनीसाझदारी और कारपोरेशनके मध्यकी अवस्था है। इसमें दोनो प्रकारकी व्यवस्थाओंकी विशेषताए मिलती है। सम्मिलित कम्पनीके स्वामीके ऊपर ऋण तथा अन्य दायित्व उतनेही होतहै, जितने साझीदारीमें। भेद इतनाहै कि साझेदारीमें स्वामित्वका अधिकार एक समनुबन्धके आधार पर होता है और सम्मिलित पूजी कम्पनीमें स्वामित्व पूजी बाजारमें खरीदे जासकनेवाले हिस्सो द्वारा प्राप्त कियाजाता है। जिन लोगोंके पास हिस्सा है, उनके द्वारा निर्वाचित सचालकोकी समितिके हाथमें प्रबन्ध और शासनका कार्य होता है। इस प्रकारकी व्यवस्थाको सीमित ऋण-दायित्वको छोडकर और वे सारे लाभ होतेहै जो कारपोरेशन द्वारा प्राप्त होसकते है।

कारपोरेशन राजनियम द्वारा कुछ विशेष उद्देश्योकी पूर्तिके लिए निर्माणित सस्था होती है। आरम्भिक कारपोरेशन व्यापारी नहीं थे। वे धार्मिक दानपुण्यके

अथवा शिक्षा सम्बन्धी थे। वे राजाज्ञा अथवा सरकारी दानपत्र द्वारा स्थापित कियेजाते थे और राजेच्छासे उन्हें कुछ विशेषाधिकार और सरक्षा मिलती थी। मध्ययुगके शिल्प-सघ सबसे प्रथम कारपोरेशनोंमें से हैं जिनकी गणना व्यापारिक कारपोरेशनोंमें की जासकती है। इसप्रकार की व्यवस्थामें यह होताहै कि कुछ मनुष्य राज्यको एक प्रार्थना पत्र भेजते हैं जिसमें एक राजाज्ञाकी प्रार्थना कीजाती है, जिसके द्वारा उन्हें कारपोरेशनके रूपमें व्यापार करनेकी आज्ञा दीजाये। अगर प्रार्थना स्वीकृत होजाती है तो व्यापार चालू करदिया जाता है। कारपोरेशन की विशेषता यहहै कि यद्यपि यह कई व्यक्तियोंसे मिलकर बनता है और अनेक प्रकारके बाड, स्टाक, शेयर तथा अन्य प्रकारके ऋण-साधनोंके द्वारा पूजी इकट्ठा करता है, फिरभी उसका दायित्व सीमित रहता है। शासनकी दृष्टिमें वह एक व्यक्ति माना जाता है।

कारपोरेशन पूजीकी दृष्टिसे व्यवस्थाका अत्यन्त उत्तम रूप है। पर इस रूपमें धोका करनेके अवसर बहुत रहते हैं। कारपोरशनके अधिकतर बोर्ड डाइरेक्टर या अन्य कर्मचारियोंकी कपट-नीतिके कारण होते हैं। बहुत बडी होजानेपर कारपोरेशन के चलानेका व्यय आवश्यकतासे अधिक बढजाता है। और फिर बडे बडे कारपोरेशनोसे वे हानिया तो हैं ही जिनकी चर्चा हम बड़े परिमाणमें उत्पादन के सम्बन्धमें करआये हैं।

उत्पादन-व्यय

उत्तम व्यवस्था का उद्देश्य न्यूनतम उत्पादन-व्ययमें अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करना होता है। उत्पादन-व्ययकी प्राचीन तथा आधुनिक परिभाषाओंका विवेचन हम इस पुस्तकमें भिन्न भिन्न स्थानोंपर करचुके है। विषय महत्वपूर्ण है इसकारण पुनरुक्ति का दोष होनेपर भी उत्पादन-व्ययका एकत्रित विवरण आवश्यक प्रतीत होता है। जो कुछभी उत्पादनमें काममें आये उसे हम लागत कहते हैं और उसके फलस्वरूप जिन वस्तुओंका उत्पादन हो उन्हें हम उत्पत्ति कहेंगे। जो मूल्य हमें लागतके लिए देना पडे वह उत्पादन-व्यय है। व्यय की आवश्यकता इसकारण होतीहै कि सारी वस्तुए, सारे उत्पादनके साधन मनुष्यको प्रकृति द्वारा अनायास

ही नही मिल जाते। इसप्रकार उत्पादन-व्यय अन्ततोगत्वा इस बातसे निश्चित होताहै कि इच्छित वस्तुके निर्माणमें जो श्रम करना पडा है, उसका क्या मूल्य है। उत्पादन केवल रूप-परिवर्तन मात्र करता है। श्रम और अन्य सामग्रीके एकरूप की जो उपयोगिता हम समझते हैं यदि उसके किसी दूसरे रूपकी उपयोगिता हमारी समझमें अधिक है तो पहिले रूपको हम दूसरे रूपमें परिवर्तित करनेका प्रयत्न करेंगे। इस प्रयत्न का अर्थ यह होगा कि हम पहिले रूपका नाश करदें और इसका कारण स्पष्ट है कि एक उपयोगिताका बलिदान करकेही हम दूसरी उपयोगिता प्राप्त करसकते हैं। जबतक कुछ वस्तुएं अपने प्राप्त रूपमें बिल्कुल ही उपयोगिता हीन न हो, उत्पादन सदैव व्यय-साध्य होगा। बलिदानकी हुई उपयोगिताको मापनकी कई रीतियां होसकती है। इन्ही रीतियोंको लकर अर्थशास्त्रियोंमें कुछ मतभेद है, व्ययके स्वरूपके सम्बन्धमें कोई मौलिक मतभद नही है। एक रीतिके अनुसार उत्पादन-व्ययके मापनेके लिए पहिले हमें देखना चाहिए कि उनके निर्माणके लिए उत्तरदायी व्यक्ति अथवा वर्गको किन किन वस्तुओंको खरीदना पडताहै और किन किन मूल्यो पर। इन सब मूल्योका जोडही उत्पादन-व्यय होगा। इस रीतिमें दो प्रकारकी कठिनाइयां है, एकतो यहकि इस बातका निर्णय कठिनहै कि कौनसी वस्तुएं उत्पादक गिनी जायें। कुछ लोगाने भूमि, श्रम और पूंजी, कुछने व्यवस्था और उद्योग-साहसभी और अन्यने केवल श्रमको उत्पादक मानाहै और इन्हीके मूल्यको वास्तविक उत्पादन-व्यय माना है। कुछलोग इस सूचीमें यातायात, बीमा, घिसावट आदिके व्ययको भी सम्मिलित करते है। दूसरी कठिनाई यहहै कि कुछ उत्पादक सेवाएं भी है और उनका मूल्य निश्चित नही हो पाता। इसप्रकार लाभ इत्यादि भी व्ययमें सम्मिलित करना पडता है और यह कुछ तर्कके विरुद्ध है।

मार्शलन वास्तविक और मौद्रिक व्ययका भेद किया है। उनकी परिभाषाके अनुसार सभी प्रकारके श्रम जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूपसे किसी वस्तुके निर्माणमें आवश्यकहै तथा आवश्यक पूंजीके लिए कीगयी प्रतीक्षा—ये दोनों साथ साथ उस वस्तुके निर्माणका यथार्थ व्यय होंगे। हरप्रकार का श्रम और पूंजी उपलब्ध करने के लिए जितने द्रव्यकी आवश्यकताहै उसको उत्पादन व्ययका मौद्रिक माप कहेंगे। अब कठिनाई यहहै कि विभिन्न कारखानोके उत्पादन व्ययमें अन्तर पडसकता है।

ऐसी अवस्थामें किसका व्यय मूल्यका निर्धारक माना जावे। मार्शलने इस कठिनाईका समाधान प्रतिनिधि उद्योग सस्थाकी कल्पना द्वारा किया है। प्रतिनिधि उद्योग सस्था वहहै जिसकी व्यवस्था न बहुत अच्छी और न बहुत बुरी हो। इस प्रतिनिधि सस्थाका जो व्ययहो उसीको उत्पादन-व्यय माना जासकता है। परन्तु वास्तविक व्ययकी कल्पनाही व्यर्थ है। किसी वस्तुके निर्माणमें कितना कष्ट उठाना पड़ा इसका कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं होसकता। मापनेकी दूसरी रीति यहहै कि उत्पादनके लिए उठाये गये कष्टोंको न मापकर उन वस्तुओंको मापनेकी चेष्टा कीजाय जो उसी उत्पादन साधनसे बनसकती थी, पर बनायी नहीं गयी। इस मतका आधार यहहै कि एकही उत्पादन-साधनसे कई वस्तुएं बनसकती थीं। इसप्रकार किसी सेवा अथवा साधनको उत्पादनके लिए उपयोगमें लाकर बहुतसी वस्तुओंका बलिदान करना पड़ता है। जब हम एक सेवाको किसी उपयोगमें लाते हैं तो उसका अर्थ यही हुआ कि अन्य उपयोगोंमें लानेका अवसर जाता रहा। इसप्रकार कोई वस्तु बनाकर जिन वस्तुओंके निर्माणका त्याग कियागया, उन्हीं अन्य वस्तुओंका मूल्य उस वस्तुका उत्पादन-व्यय हुआ। उत्पादन-व्ययके मापनेका यह सिद्धान्त अवसर अथवा वैकल्पिक व्यय कहलाता है। यद्यपि वैकल्पिक व्ययका सिद्धान्त आज प्राय. सभी लोग मानतेहैं परन्तु यह निश्चित करना कठिनसा है कि एक उत्पादन के साधन या उत्पादनके साधनोंके सहयोगसे दूसरी कितनी वस्तुएं बनसकती है। फिर इन विभिन्न वस्तुओंके मूल्यको द्रव्यमें परिवर्तित करनेपर मौद्रिक व्ययही वास्तविक वस्तु रहजायेगी, वैकल्पिक वस्तुएं और अवसर केवल निरर्थक कल्पना मात्र होंगे। इसप्रकार मार्शलके वास्तविक व्यय और आधुनिक वैकल्पिक व्ययमें कोई अन्तर नहीं रह जावेगा।

उत्पादन-व्ययके सम्बन्धमें सामाजिक व्ययका विवेचन करदेना भी आवश्यक है। बहुतसे ऐसे व्यय हैं जो किसी विशेष उत्पादन सस्थाको नहीं करने पड़ते। वरन् इनका भार सम्पूर्ण समाजको सहना पड़ता है। उदाहरणके लिए यदि कोई सस्था कुछ श्रमजीवियोंको हटादे तो उनके जीवन-निर्वाहका व्यय किसी उद्योग सस्थाको भले ही न देनापड़े, पर समाजको अवश्य देनापड़ता है। इसीप्रकार उद्योगोंमें दुर्घटना बढ़जाने से, गन्दगी और धुएंसे, नकली चीज़ोंके बनानेसे और अत्यधिक विज्ञापनबाजीसे जो हानियां होतीहैं, होसकताहै कि वे किसी उद्योग विशेषको न सहनीपड़ें

पर समाज इनसे नही बचसकता। यह सामाजिक व्यय है।

व्ययका विश्लेषण करतेहुए अर्थशास्त्रियोने कई प्रकारके व्यय माने है। प्रत्येक वस्तुके बनानेमें जितना व्यय हुआ, उसकी जितनी वस्तुए बनीहैं उनसे गुणा करेंतो गुणनफल कुल व्यय होगा। दूसरी रीतिसे यही बात इसप्रकार कही जासकती है कि प्रत्येक उत्पादनके साधन और सेवाका उपयोग करनेमें जितना व्यय हुआ है, उसे यदि प्रयुक्त साधनो और सेवाओंकी कुल सख्यासे गुणा करदें तो गुणनफल कुल व्यय होगा। कुल व्यय उत्पत्तिके अनुसार घटता बढता रहेगा परन्तु उत्पत्तिके शून्य होनेपर भी कुल व्यय शून्य न होगा।

उत्पत्तिकी सख्यासे यदि कुल व्ययको भाग दियाजाये तो भागफल औसत व्यय होगा। औसत-व्ययभी उत्पत्तिके अनुसार घटता बढता रहता है।

कुल उत्पत्तिमें यदि वृद्धि करें तो उस वृद्धिके अनुसार कुल व्ययमें वृद्धि होती है। व्यय-वृद्धिको यदि उत्पत्ति-वृद्धिसे भागदें तो भागफल सीमान्त व्यय होगा। माननीजिए उत्पत्ति पच्चीससे तीस इकाई होगयी और कुल व्यय पचाससे पचपन रुपया होगया तो ५/५ = १ रु० सीमान्त व्यय होगा।

ऐसे व्यय जो उत्पत्तिके साथ नही घटते बढते, स्थायी व्यय कहलाते है। मशीनो और इमारतोकी देखरेख, मैनेजरो और कुछ अन्य श्रमजीवियोपर व्यय उत्पत्तिका परिमाण घटानेसे परिवर्तित नही होता। परिवर्तनशील व्यय वहहै जो उत्पत्तिके परिमाणके साथ घटता बढता रहता है। अविभाज्य व्यय कुछ ऐसे व्ययहै जो यदि सस्था बन्दही करदेने का निश्चय न कर लियाजाये, तो सस्थाका हर दशामें करने पड़ेंगे। अविभाज्य व्ययको छोडकर अन्य व्यय पूरक व्यय कहलाते है।

हमने सीमान्त व्ययकी परिभाषा करतेहुए कहाहै कि यह व्यय उत्पत्तिमें वृद्धि करनेका व्यय है। इसकारण केवल परिवर्तनशील व्ययसे सम्बन्धित है। स्थायी और परिवर्तनशील व्ययका विभेद केवल अल्पकालकी दृष्टिसे कियाजाता है। दीर्घकाल में उत्पत्ति बढाने या घटानेसे स्थायी व्ययमें भी अन्तर आयेगाही।

१५

उद्योग धन्धों का अभिनवीकरण

अभिनवीकरण का अभिप्राय

अखिल विश्व आर्थिक सम्मेलन १६२७ म उद्योग धन्धोंके अभिनवीकरण की परिभाषा इसप्रकार कीगयी थी

'यह वह साधनहै जिसके द्वारा उद्योग धन्धोकी उत्पादन विधि और सगठनमें श्रम तथा सामग्रीका न्यूनतम अपव्यय होता है। इसमें श्रमका वैज्ञानिक सगठन, उत्पादन-सामग्री तथा उत्पन्न वस्तुओंका मानतयन, उत्पादन की त्रियाओंका सरल बनाना और यातायात तथा विक्रय प्रणालीको उन्नत करना इत्यादि सम्मिलित है।'

वर्तमान शताब्दीमें औद्योगिक सगठनको निर्धारित करनेवाली शक्तियोंमें महान् परिवर्तन हुए है। इनमेंसे मुख्य बाजारोंका विस्तार, उद्योग धधोंमें विज्ञानका प्रयोग, श्रमजीवियोकी शक्तिका वर्धन, प्रबन्धको तथा स्वामियोका पार्थक्य और यदभाव्य नीतिका पतनोन्मुख होना है। अभिनवीकरणका अभिप्राय इन परिवर्तनोंसे समझ बूझकर कियेगये नियन्त्रण द्वारा समन्वय प्राप्त करना है। अभिनवीकरण के दो पक्ष है। एकतो स्वतन्त्र तथा परस्पर प्रतिस्पर्धी उद्यमोंको एक दूसरेसे सम्बन्धित करके उनमें आवश्यक एकता स्थापित करना और दूसरे प्रत्यक उद्यमकी उत्पत्ति, अर्थवहन, कर्मचारी मडल और वितरण इत्यादिको कुशलतापूर्वक सगठित करना।

अभिनवीकरण के मुख्य अग

निर्धारित कार्यत्रम, पुर्नव्यवस्था तथा विकास, ये तीन अभिनवीकरणके प्रधान अग है। कार्यक्रम को निर्धारित करनेमें प्रथम स्थान वर्तमान तथा भावी बाजारो की जाच को दियाजाता है और उपभोक्ताओंके स्वभाव, रुचि इत्यादि पर निर्भर माग

की लोचका ज्ञान प्राप्त कियाजाता है क्योकि इसीके आधारपर वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक कियाजाता है। बाजारोंकी जाचसे किसप्रकार की वस्तुको किस मात्रामें उत्पन्न करना चाहिए, उत्पादनविधि में कौन कौनसे परिवर्तनोंकी आवश्यकता है, भिन्न भिन्न कौशलवाले श्रमजीवियोंकी कितनी सख्यामें नियुक्ति कीजाये, कितने कच्चे माल तथा पूजीकी आवश्यकता होगी, आदि उत्पादनसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओका निर्णय करनेमें सहायता मिलती है। आय-व्यय-लेखे (बजट) द्वारा नियन्त्रण पद्धतिसे यह निर्णय अत्यन्त सरल होजाता है, क्योकि व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थानपर अब आकडो द्वारा नियन्त्रण होताहै। इस नियन्त्रण पद्धतिके कई लाभ है:

(१) अत्यधिक उत्पत्तिके करनेकी सम्भावना कम रहती है। क्योकि उत्पत्तिका प्रत्याशित बिक्रीसे समन्वय किया जासकता है।

(२) उत्पादनके प्रत्येक विभागके उत्पादन-व्यय, कार्यक्रमका अनुमानित तथा वास्तविक खर्चो और कार्योकी तुलना द्वारा नियन्त्रण किया जासकता है।

(३) इसके द्वारा विकेन्द्रीकरणमें सहायता मिलती है, क्योकि प्रत्येक विभागकी आर्थिक क्षेत्रमें स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करनेकी अवधि निश्चितकर दीजाती है।

(४) इसके द्वारा विभिन्न भागोमें पारस्परिक सहयोग स्थापित किया जासकता है।

बिक्री की मात्राका भलीप्रकार अनुमान करलनेसे उत्पादनके लिए आवश्यक कच्ची सामग्री तथा उससे वस्तु निर्माण करनेके लिए उचित सस्थाकी स्थापना और उसके लिए आवश्यक श्रम, अर्थ, निरीक्षण, नियन्त्रण इत्यादि का अनुमान करना कठिन नही होता। यहतो निश्चितही है कि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्ययमें कमी की जासकती है परन्तु यह कमी केवल वर्तमान सस्थाओके एकीकरण से नही वरन् उत्पत्तिका कुशलतम सस्थाओंमें समाहार करनेसे प्राप्त होसकती है। अभिनवीकरण द्वारा इस समाहार को प्राप्त करनेकी चेष्टा कीजाती है। इसकारण वर्तमान सस्थाओंके पुन: सगठनके लिए निम्नलिखित सुधारोंकी आवश्यकता होती है:

(१) अकुशल सस्थाओको बन्दकरके उत्पादन कार्यको कुशलतम सस्थाओ द्वारा करवाना; क्योकि इसप्रकार उन सस्थाओकी पूर्ण उत्पादन शक्तिका प्रयोग होसकेगा।

(२) उत्पादन-व्यय को कम करनेके लिए नवीनतम यन्त्रो अथवा उपकरणोका प्रयोग करना।

(३) वैज्ञानिक अनुसन्धान विभागोका स्थापित करना।

(४) वस्तुओंके अधिकाधिक मानकयन द्वारा उत्पादन व्यय कम करना।

(५) नियन्त्रण पद्धतिमें परिवर्तन करके उपयुक्त नियन्त्रकोका चुनाव करना। अभिनवीकरण नवयुवकों द्वाराही सुचारुरूप से किया जासकता है। वृद्धावस्थामें नये औद्योगिक वातावरणका भलीप्रकार से अध्ययन करनेका उत्साह नही रहता परन्तु शक्तिशाली होनेके कारण वृद्ध प्रबन्धक लोग नवयुवकोंको उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानोंपर नियुक्त नही करते, अभिनवीकरणकी दृष्टिसे यह उचित नहीं। तीस से चालीस वर्षकी आयुके लोगोंको अपनी योग्यता दिखानेके लिए अधिक अवसर मिलने चाहिए।

अभिनवीकरण के लाभ तथा हानिया

भय प्रकट कियाजाता है कि अभिनवीकरणके कारण एकाधिकारोंका सृजन होगा और एकाधिकारी मनमाने मूल्य लेकर उपभोक्ताओं का अहित करेंगे। परन्तु अभिनवीकरणका उद्देश्य तो कुशलपूर्वक उत्पादन द्वारा मूल्योंका कम करनाहै न कि अधिक। आंशिक अभिनवीकरणके कारण कई लोगोंकी हानि अवश्य होती है। यदि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुए किसी दूसरे अभिनवीकृत उद्योग धन्धेमें कच्चे मालके रूपमें प्रयुक्त होतीहै तो दूसरे उद्योग धन्धे वालोंको पहिले उद्योग धन्धे वालों की वस्तुए खरीदनेका एकाधिकार प्राप्त होजायेगा और वह इस अधिकार का दुरुपयोग करके पहिले उद्योग धन्धे वालोकी हानि करसकते है।

अभिनवीकरण द्वारा बेकारी फैलनेकी सम्भावना है। अकुशल संस्थाओंके बन्द करदेने से और उत्पत्तिके नियन्त्रण तथा यन्त्रोंके नवीकरणमें कुछ लोगोंका अनावश्यक होजाना अनिवार्य है। अभिनवीकरण द्वारा अन्ततोगत्वा उत्पादन-व्यय और फलस्वरूप मूल्यमें कमी होनेसे मांगमें वृद्धि होगी और इसकारण उत्पत्तिकी मात्रा बढानेके लिए अधिक लोगोंको नियुक्त करनेकी आवश्यकता होगी। परन्तु आरम्भमें तो कुछ लोगोंको बेकारीकी पीडा सहन करनी ही पडेगी। इस समस्याको सुलझानेके

लिए बेकारीकी वृत्ति देनी होगी या श्रमके समयको कमकरके लोगोको बेकारीसे बचाना होगा। इसीप्रकार पूजीपतियो को भी आरम्भमें हानि होगी।

एक प्रसिद्ध विशेषज्ञ मिस्टर वाबी ने अभिनवीकरणके लाभ और हानिया इसप्रकार एकत्रित की है। पुनरुक्तिके दोषकी चिन्ता न करतेहुए उनका उल्लेख किया जारहा है.

लाभ

(१) उत्पत्तिका कुशलतम सस्थाओमें समाहार।
(२) वस्तुनिर्माण का विकेन्द्रीकरण।
(३) वस्तुनिर्माण का मानवीयन।
(४) यन्त्राका नवीकरण।
(५) शक्तिका मितव्यय।
(६) प्रबन्ध विषयक व्ययकी कमी।
(७) अत्यधिक मात्रामें उत्पत्तिका अभाव।
(८) बिक्रीका समाहार।
(९) निरथक भाडा इत्यादिकी बचत।
(१०) पूजी-उपलब्धिका सौकर्य।
(११) अधिक अनुसन्धान।
(१२) अधिक मात्रामें वस्तुका क्रय।
(१३) पूर्ति और मागका समन्वय इत्यादि।

हानियां :

(१) अकुशल सस्थाओका अधिक मूल्यपर क्रय।
(२) अतिरिक्त उत्पादन शक्तिका नाश।
(३) अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनके कारण भूल से हानवाली हानि।
(४) आरम्भिक व्ययकी अधिकता।
(५) सगठनकी कठिन समस्याए।
(६) योग्य प्रबन्धका अभाव।
(७) सरकारी हस्तक्षपकी सम्भावना।
(८) बेकारीमें वृद्धि।

(९) पूंजीका प्रभुत्व।
(१०) अर्थसम्बन्धी छल-कपट।
(११) एकाधिकारोंकी स्थापना।
(१२) आशिक अभिनवीकरणके दोष।
(१३) अव्यक्तिगत नियन्त्रण इत्यादि।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ तथा उद्देश्य

उन्नीसवीं शताब्दीमें व्यवस्थापक उत्पादन-व्ययमें कमी करनेकी इच्छासे उद्योगशालाओंकी इमारतों, यन्त्रों इत्यादिपर होनेवाले व्ययकी ओरही केवल ध्यान देते थे। परन्तु वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें ही श्रमजीवीके कौशलमें वृद्धि करके उत्पादन-व्यय कम करनेकी चेष्टा कीजाने लगी। श्रमजीवीकी उत्पादनशक्ति में वृद्धिकरके उत्पादन-व्यय को कम करनवाली पद्धतिको वैज्ञानिक प्रबन्धका नाम दियाजाता है। टेलरके मतानुसार श्रमजीवीकी क्षमता बढानेके लिए निम्नलिखित प्रयत्नोंका कियाजाना आवश्यक है

(१) प्रत्येक कार्यका करनेके लिए वैज्ञानिक ढगोंका निकालना।
(२) प्रत्येक श्रमजीवीकी योग्यताके अनुसार उसे उपयुक्त कार्यमें लगाना।
(३) श्रमजीवियोंका उत्पादन कार्य में पूर्ण सहयोग प्राप्त करना।

वैज्ञानिक प्रबन्धका सबसे महत्वपूर्ण अंग कार्यक्रम को पहिले से ही निर्धारित करदेना है। इस कार्यको चलानेके लिए एक पृथक विभाग स्थापित करनेकी आवश्यकता है। प्रतिदिन श्रमजीवीको उसके द्वारा किये जानेवाले काम तथा उस कामको करनेके लिए उपयुक्त विधि तथा लगनेवाले समयका काम आरम्भ होनेसे पहिलेही पता लगजाना चाहिए। कार्यक्षमतामें वृद्धिकी दृष्टिसे सर्वप्रथम श्रमजीवीके स्वास्थ्यकी ओर ध्यान देना चाहिए। थकावटके कारण मालूम करके उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करना आवश्यक है। थकावट अधिक श्रम करनेके कारण कार्यक्षमता में अवनतिके रूपमें प्रकट होती है। इसके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें न्यूनताही नहीं आती बल्कि दुर्घटनाओंके होनेकी सम्भावनाभी बढजाती है। थकावट अधिक समयतक अविरत श्रमके कारण तथा विश्रामके अभावके कारण होती है। इसके

अतिरिक्त श्रमजीवीकी शारीरिक अवस्था तथा उसके खानपान से इसका घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिए श्रमजीवीके विश्रामके लिए समय समय पर प्रबन्ध करदेना चाहिए। उद्योगशालामें वातावरणको आरोग्यविज्ञान के नियमोंके अनुसार शुद्ध एव पवित्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिए ताकि श्रमजीवी स्वस्थ रहें और उनके शारीरिक बलमें वृद्धि हो। कार्यकी नीरसताको भी दूर करनेकी आवश्यकता है। समय समय पर श्रमजीवीके कार्यमें परिवर्तन करदेना चाहिए। कार्य करनेके समयमें कमी करदेनी चाहिए। किसीभी कार्यको करनेके लिए श्रमजीवीका चुनाव उसके शारीरिक तथा मानसिक बलके आधारपर करना चाहिए। कुछ लोगोंको एकरुपता और पुनरावृत्ति प्रिय होतीहै और कुछको नहीं। इसकारण कुछतो नीरसतासे पीडित होते हैं और कुछ उसीमें आनन्दका आस्वादन करते हैं।

उद्योगशालाके वातावरणके मानानयनके पश्चात् वस्तु-निर्माण विधिका मानानयन आवश्यक है। वस्तुका मानानयनभी अधिक मात्रामें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पत्ति करनेके लिए आवश्यक सा ही समझा जाताहै परन्तु यह कार्य वैज्ञानिक प्रबन्धसे सम्बन्धित नहीं। वैज्ञानिक प्रबन्धका क्षेत्र वस्तु-निर्माण-विधिके मानानयन तकही सीमित समझा जाता है। वस्तु-निर्माण-विधिके मानानयनमें उस विधि में प्रयोग किये जानेवाले यन्त्रो, उपकरणों इत्यादिका मानानयनभी सम्मिलित हैं। मानानयन गत्याध्ययन तथा समयाध्ययन द्वारा किया जाता है। गत्याध्ययनमें श्रमजीवीकी गतियोंको सरल बनानेका प्रयत्न कियाजाता है। उसके उठन बैठनके ढग में परिवर्तन कियेजाते हैं। सामग्री रखनेके स्थानोंको ऊंचा नीचा कियाजाता है। इस सम्बन्धमें टेलरका फावडोंपर और गिल्वर्थका ईंटोंपर अध्ययन प्रसिद्ध है। टेलर नेफावडकी सहायतासे अधिकतम कौशल द्वारा अधिकतम बोझ उठानेकी मात्रा निश्चितकी थी और फिर भिन्न भिन्न प्रकारकी सामग्री उठानके लिए फावडाके आकारको निर्धारित किया था। इसीप्रकार गिल्वर्थने ईंटें लगानेवालो को ईंटें पहुचाने उनके रखने तथा लगानकी विधिमें परिवर्तन प्रस्तुत किये थ। परिणाम यह हुआ कि टेलरके परिवर्तनोके कारण प्रत्येक श्रमजीवीकी बोझ उठानेकी दैनिक शक्तिमें ४३ टनकी वृद्धि हुई अर्थात् वह अब १६ टनके स्थानपर ५९ टन बोझ दिन भरमें उठाने लगा। इसीप्रकार गिल्वर्थके परिवर्तनोंके अनन्तर प्रत्येक कार्यकर्ता ६५० ईंटें प्रतिघंटा लगाने लगा जबकि वह पहिले केवल १२० ईंटें प्रतिघंटा लगा

पाता था। कहाजाता है कि गिल्बर्थने एकसमय एक लड़की को गोल डिब्बोपर कागज़ चिपकाते देखा। वह शीघ्रतम कार्य करनेवाली लड़की बतायी जातीथी और ४० सैकिण्डोमें २४ डिब्बे तैयार करलेती थी। गिल्बर्थ ने उस लड़कीके सामग्री रखनेके स्थान और लड़की की कार्यशैलीमें कुछ परिवर्तन सूचित करनेका साहस किया और इन परिवर्तनोके कारण वही लड़की २० सैकिण्डो में २४ डिब्बे पहिलेके समान श्रमसे ही तैयार करनेमें सफल हुई।

इसप्रकार गत्याध्ययन करके किसी कार्यको करनेके लिए एक प्रामाणिक विधि निश्चित करली जातीहै और तदनन्तर इस विधिके प्रत्येक अगको कमसे कम समय में पूरा करनेके लिए समयका अध्ययन किया जाता है। प्रत्येक कार्यको कमसे कम समयमें करनेके समयोको एकत्रित करके कुल कार्यको करनके लिए कमसे कम समय निकाल लियाजाता है।

कार्य-कौशलमें वृद्धिके लिए श्रमजीवीको मजूरी देनके ढगोमें इसप्रकार के परिवर्तन करना कि श्रमजीवीको तन मनसे कार्य करनमें तत्पर होनेके लिए प्रोत्साहन मिले वैज्ञानिक प्रबन्धकी दृष्टिसे आवश्यक समझा जाता है। इन विविध ढगोका विवरण मजूरीके अध्यायमें किया जायगा।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष

इसमें सन्देह नही कि कार्य करनेकी विधिको उत्तम बनानेसे कार्य करना सुगम होजाता है और उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जासकती है। परन्तु समयाध्ययन और गत्याध्ययन द्वारा श्रमजीवीको यन्त्रके रूपमें ही परिणत करदिया जाता है। इसकारण वस्तुनिर्माण में उसके व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यको पूर्णतया नष्ट करदिया जाता है। हम देख चुकेहैं कि उत्पादन-विधिके माननयनके लिए वस्तुका माननयनभी आवश्यक है। बहुतसे लोगोका विचारहै कि यद्यपि इस माननयन द्वारा वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धि की जासक्ती है परन्तु उसके गुणोमें अवनति होजाती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रतिपादकोकी धारणाहै कि इन आलोचनाओंमें कुछ सत्य भलेही हो परन्तु व्यक्तिगत स्वातन्त्र्यका नाश किये विनाभी वैज्ञानिक प्रबन्ध सम्भवहै और यह अवश्य करना चाहिए क्योंकि इसके द्वारा श्रम और शक्तिके व्ययमें बचत और श्रम-

जीवीके कौशल एव उपार्जन शक्तिमें वृद्धि होसकती हैं। इसीप्रकार बहुतसे लोगो के मतानुसार वस्तुकी मात्रामें माननयन द्वारा वृद्धिकरके भी उसके गुणोमें वृद्धि करना सम्भव है। कार्यकौशलमें अत्यधिक वृद्धि होनेसे बेकारी फैल सकती है। इस प्रकार श्रमजीवी वैज्ञानिक प्रबन्धको शकाकी दृष्टिसे देखते है। परन्तु उत्पादन-व्ययमें कमी होनेसे वस्तुके मूल्यमें कमी होजाती और फलस्वरूप कालान्तरमें माग में वृद्धि होनेसे बेकारी फैलनेकी सम्भावना नही रहती।

वैज्ञानिक प्रबन्धके कारण श्रमके विशिष्टीकरणसे श्रमजीवियोकी पराधीनता औरभी अधिक होजातीहै और इसकारण उत्पादक उत्पत्तिका अधिकतर भाग स्वय लाभके रूपमें ले सकते है। इसके विरुद्ध वैज्ञानिक प्रबन्धकोका कहनाहै कि मजूरीमें अन्याययुक्त कमी न होनेदेना उनके कार्यक्रमका एक अग है। इसके अतिरिक्त सामूहिक सौदा करनेकी शक्तिका श्रमिक सघोंके सगठनो द्वारा पैदा करना वैज्ञानिक प्रबन्धके प्रतिकूल नही। वैज्ञानिक प्रबन्धक केवल श्रमजीवियो और व्यवस्थापको के मध्य सामजस्य स्थापित करनेके इच्छुक है।

श्रमजीवीको एक नही बहुतसे निरीक्षकोंके आधीन होकर कार्य करना पडता है। वैज्ञानिक प्रबन्धके अनुसार निरीक्षकमें किसी विशेष योग्यताका होना आवश्यक है। इसकारण श्रमजीवी प्रत्येक निरीक्षकको शिक्षक समझकर उससे अपने कार्यके विविध अगोंके सम्बन्धमें शिक्षा प्राप्त करसकता है। वैज्ञानिक प्रबन्धका उद्देश्य उत्तम वस्तु उत्तम विधिसे अधिकतम मात्रामें पैदा करना है और अकुशलता को राष्ट्रीय अपराध समझ लेनेपर वैज्ञानिक प्रबन्धको प्रचलित करना ही प्रत्येक उत्पादकका परम कर्तव्य है।

१६

आर्थिक पद्धतियां

पूजीवाद, मार्क्सवाद और समाजवाद

पूजीवाद का अर्थ

पूजीवादका उद्भव सामन्तवादके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ था। पांचवी शताब्दी ईसवी में रोमका साम्राज्य भ्रष्ट होनेके कारण योरोपकी व्यापारिक तथा राजनैतिक एकता भग होचुकी थी। केन्द्रीय शासनका अभाव था और समाजका सगठन सामन्तिक ढगसे होचुका था। प्रत्येक व्यक्तिका समाजमें स्थान निश्चित था। शिक्षार्थीके द्वारा शिक्षककी, कमियेके द्वारा ग्रामाधीश की, ग्रामाधीशके द्वारा प्रान्ताधीश की और प्रान्ताधीशके द्वारा राजाकी कीजानेवाली सेवाओं और उनके स्थानपर मिलनेवाले पुरस्कार उनमेंसे प्रत्येकको भलीप्रकार से विदित होतेथे और उनमें परिवर्तन असम्भव था। उत्पादन प्राय तात्कालिक उपभोग अथवा वस्तु विनिमयके लिएही कियाजाता था। वस्तुका निर्माण और व्यापार प्राय शिल्प सस्थाके हाथमें था, जिनके स्वामियोका श्रम-पूर्ति, कच्चे-मालका प्रयोग और वस्तुओं के मूल्य निश्चित करनेके पूर्णाधिकार प्राप्त थे। यातायातका सुप्रबन्ध न होनेके कारण तथा चोर डाकुओंके भयसे व्यापार अधिक न होपाता था। तेरहवीं शताब्दी ईसवी के लगभग व्यापारके पुनरुज्जीवन से सामन्तवादको भारी धक्का लगा। व्यापार का पुनरुत्थान होनेके साथ साथ व्यापारियो और अर्थाध्यक्षोका प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने सामन्त कुलीन तन्त्र और सामन्त प्रणाली द्वारा वस्तु निर्माण तथा वस्तु-व्यापार पर लगाये गये प्रतिबन्धोंका विरोध करनेके लिए एक नये वाद की नीव डाली और इस वादको उदारवादके नामसे पुकारा गया। इस वादके अनुसार समाजका कल्याण व्यक्तिगत स्वतन्त्रतामें ही निहित है। आर्थिक क्षेत्रमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ जन-समुदायकी उत्पादन सम्बन्धी तथा व्यापारिक योजनाओमें सरकारी हस्तक्षेपका अभाव था। क्योकि आर्थिक सिद्धान्तोंके पूर्ण

रूपेण कार्यान्वित होनेपर अधिकतम उत्पत्ति और न्याययुक्त वितरणका होना प्राकृतिक समझा जाता था। ऐसा विश्वास कियाजाता था कि उद्योग स्वातन्त्र्यके प्राप्त होनेपर प्रत्येक व्यक्तिको अपने भौतिक कल्याणके लिए अधिकतम प्रयत्न करनेका प्रोत्साहन मिलेगा और पूर्ण प्रतिस्पर्धासे माग और पूर्तिकी शक्तियों द्वारा उत्पत्ति और मूल्य निश्चित होंगे। आधुनिक पूंजीवाद उदारवादके इन्हीं सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। पूंजीवाद वह आर्थिक प्रणाली है जिसके अनुसार उद्योगी पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अधिकतम लाभ कमानेके लिए बिना रोक टोक अग्रसर हो सकता है।

पूंजीवाद के लक्षण

पूंजीवादियोंका विश्वास है कि व्यक्तिगत कल्याणमें ही सामाजिक कल्याण निहित है। इनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रकृतिकी ओर से कुछ अधिकार प्राप्त हैं जिनका प्रयोग करनेके लिए उसका पूर्णतया स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इन अधिकारोंमें मुख्य मुख्य निम्नलिखित हैं

(१) निजी सम्पत्तिपर स्वामित्वाधिकार—निजी सम्पत्ति दो प्रकारकी होसकती है। एकतो उपभोग्य वस्तुओंकी और दूसरी उत्पादक वस्तुओंकी। उत्पादक वस्तुओं को अर्थशास्त्रीय परिभाषामें उत्पादनके साधनोंके नामसे पुकारा जाता है। इन्हीं उत्पादनके साधनोंका स्वामित्व व्यक्तिगत रूपमें लोगोंको प्राप्त होना पूंजीवादके अनुसार आवश्यक है। उपभोग्य वस्तुओंमें स्वामित्वाधिकार तो समाजवादके अनुसार भी व्यक्तिगत रूपमें ही जन-समुदायको प्राप्त होंगे परन्तु उत्पादनके साधनों पर प्रभुत्व पूरे समाजका होगा।

(२) उद्योग-स्वातन्त्र्य—उद्योगी लोग अपनी निजी सम्पत्तिका प्रयोग किसीभी क्षेत्रमें लाभ कमानेकी इच्छासे करते हैं। इसप्रकार के प्रयोगसे हानि होनेकी सम्भावनाका भयभी उन्हेंही उठाना पड़ता है। अपना उत्पादन-कार्य चलानेके लिए उन्हें न्यून अथवा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेकी और अपनी वस्तुओंके मूल्य निश्चित करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है। इसीप्रकार प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह विक्रेताहो अथवा ग्राहक, व्यवस्थापक हो अथवा श्रमजीवी अपने आपको किसीभी

प्रकारके समनुवन्धमें बद्ध करनेके लिए कोईभी नहीं रोक सकता जबतक कि वह समनुबन्ध प्रचलित विधानके विरुद्ध न हो।

(३) लाभ प्राप्तिका उद्देश्य—केवल निर्वाह मानके लिए पर्याप्त मात्रासे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा पूंजीवादके अनुसार मनुष्यमें स्वाभाविक रूपसे वर्तमान है, *सम्पत्ति प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पादनके लिए श्रेष्ठतम प्रोत्साहन है।* लाभ प्राप्त करनेके लिए उत्पादक अधिकतम प्रयत्न करेगा और अत्यन्त सावधानीसे काम लेकर अपने उद्यमको सफल बनानेकी चेष्टा करेगा।

(४) पूर्ण प्रतिस्पर्धा द्वारा स्वतन्त्र बाजारमें मूल्य, लाभ और उत्पादन-व्यय स्थिरता प्राप्त करते हैं—*व्यवस्थापकोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य कम होतेहैं* परन्तु उपभोक्ताओंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा द्वारा मूल्य बढ़ते हैं। इसीप्रकार श्रमजीवियों में परस्पर प्रतिस्पर्धाके कारण मजूरी घटती है और पूंजीपतियोंमें परस्पर प्रतिस्पर्धा के कारण मजूरी बढ़ती है। परन्तु स्मरण रहे कि ऐसी स्थिति तभी प्राप्त होसकती है जबकि पूंजी और श्रम गतिशील हों, सब लोगोंमें सौदा करनेकी शक्ति सम हो और एकाधिकार का अभाव हो।

(५) मजूरी भुगतान प्रणाली—पूंजीपति उद्यम की जोखिम उठाते हैं और इस कारण अपने आपको प्राप्त लाभका अधिकारी मानते हैं। वे श्रमको केवल उत्पादन व्ययका एक अंग मानते हैं और इसकारण इस व्ययको न्यूनतम रखनेकी इच्छासे श्रमजीवी को कमसे कम मजूरी देना चाहते हैं। परन्तु श्रमजीवी अपने जीवन-स्तर को उत्कृष्ट करनेके लिए अधिकतम मजूरी लेनेका इच्छुक रहता है। इसकारण श्रमजीवियों और पूंजीपतियोंमें एक विरोध सा खड़ा होजाता है।

(६) विनिमय विधि—विनिमयके लिए वस्तुओंके मूल्य द्रव्यके रूपमें परिणत करदिये जाते हैं। धातु मुद्राओंके अतिरिक्त सरकारी अथवा बैंकोंके नोटों और हुंडियों इत्यादि का प्रयोग कियाजाता है। बैंक साख-सृजन द्वारा उद्योग धन्धोंका अधिक अर्थवाहन करते हैं।

(७) अभिनवीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध—पूंजीपति अपने मुख्य उद्देश्यकी उपलब्धिके लिए उत्पत्तिकी मात्रा बढ़ाने और उत्पादन-व्यय कम करनेमें निरन्तर तत्पर रहते हैं। वैज्ञानिक प्रबन्धके नियमों द्वारा संस्थाओंका प्रबन्ध, उत्पादन विधिका अभिनवीकरण, कच्चे मालका अधिक मात्रामें और फलत. सस्ते मूल्यपर

क्रय और वस्तु विक्रयके लिए नये नये बाजारोकी खोज इत्यादि उनके उद्देश्योके साक्षात्कारमें सहायता देते है।

पूजीवाद का विकास

पजीवादका भी अन्य वादाकी तरह क्रमश: विकास हुआहै, यह हम देखही चुकेहै कि पूजीवादका श्रीगणेश करनेवाले योरोपके व्यापारी थे। अठारहवी शताब्दी ईसवीके मध्यसे लेकर बडी बडी कर्मशालाओकी स्थापना प्रारम्भ हुई। नये नये यन्त्र निकाले गये। बडे परिमाणमें उत्पत्ति कीजाने लगी। यातायातके साधनोमें आश्चर्यजनक उन्नति हुई। बाजारोंके प्रसारमें इतनी वृद्धि हुई कि वह ससारव्यापी होगये। यह काल औद्योगिक पूजीवादका था। गत महायुद्धके कालसे अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्धके सिद्धान्तोके प्रयोग द्वारा उत्पत्तिकी मात्रामें गगन-चुम्बी वृद्धि हुई परन्तु इसके साथ ही प्रतिस्पर्धा और बाजारोकी स्वतन्त्रतामें न्यूनता आने लगी। छोटी सस्थाओंको मिलाकर वृहद् सस्थाओका सगठन होनेलगा और इन सस्थाओका अर्थवाहन करनेवाली सस्थाओको विशेष महत्व प्राप्त होनेलगा। इसकारण इस युगको अर्थवाहन पूजीवादका युग कहते है। अब इस युगकी प्रवृत्ति सरकारी पूजीवादकी ओर है। व्यापारिक अपकर्षो की रोकथाम, युद्धकालमें राष्ट्रीय उत्पत्तिका नियन्त्रण श्रमजीवी सघोके बढतहुए प्रभावके कारण सरकार का मूल्य, मजूरी और सामाजिक सुरक्षा इत्यादिके विषयमें उत्तरदायित्व स्वीकार करना, सरकारद्वारा ऐसे उद्योग धन्धोकी स्थापना जिनका निजी उद्यम द्वारा स्थापित होना असम्भव है, उपभोक्ताओके हितका बडे बडे एकाधिकारो से सरक्षण इत्यादि इस प्रवृत्तिके मुख्य कारण है। सरकारी पूजीवादमें सरकार यातायातके साधनो, बैंको मुख्य मुख्य प्राकृतिक सामग्रिया इत्यादिमें स्वामित्वके अधिकार ग्रहण करलेती है। कईएक वस्तुओंके उत्पादनमें विशेषकर मादक वस्तुओ और युद्ध सामग्रीमें सरकार को एकाधिकार प्राप्त होजाता है और अन्य उत्पादनके क्षत्रोमें सरकार भी अपनी राजस्व नीति द्वारा हस्तक्षेप करती रहती है। सरकारी पूजीवाद और सरकारी समाजवाद का प्राय: एकही अर्थमें प्रयोग कियाजाता है। कई लेखक सरकारी समाजवादको यह विशेषता बतलाते है कि सरकारी समाजवादमें उद्योग धन्धोका

राष्ट्रीकरणही मुख्य तथा अन्तिम उद्देश्य होताहै और इसी उद्देश्यकी उपलब्धि के लिए आरम्भमें मौलिक उद्योग धन्धोंमें स्वामित्व तथा नियन्त्रण के अधिकार सरकार ग्रहण करलेती है।

मार्क्सवाद

मार्क्सवादका मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी उत्पादन पद्धतिकी कडी आलोचना करना, पूंजीपतियों द्वारा श्रमजीवियोंके शोषण और इस पद्धतिका अन्तर्निहित कारणों द्वारा नाश सिद्ध करना है। मार्क्सके अनुसार सम्पत्ति-सृजन पद्धतिमें नये आविष्कारों द्वारा हरसमय परिवर्तन होते रहतेहैं और इन परिवर्तनोंके कारण सामाजिक सम्बन्धोंमें भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस उत्पादन कार्यमें भाग लेनेवाले लोग भिन्न भिन्न वर्गोंमें विभाजित होजाते हैं। प्राचीनकालमें स्वामियों तथा सेवकों और आधुनिक कालमें पूंजीपतियों और श्रमजीवियोंके पृथक पृथक वर्ग देखनेमें आते हैं। वर्गके प्रत्येक सदस्यके हितोंमें एकता इस वर्गीकरणकी जड है। प्रत्येक वर्ग उत्पन्न आयका अधिकतम अंश प्राप्त करनेकी चेष्टा करताहै और इसकारणसे ही बलवान तथा दीन वर्गमें संघर्ष होनाहै जिसमें दीन वर्ग बलवान वर्गकी शक्ति और सम्पत्ति को नष्ट करनेकी ताकमें रहता है। समाजका इतिहास इसप्रकार के संघर्षोंसे परिपूर्ण है। पूंजीवादके प्रभुत्वकालमें उत्पादनके साधनोंका स्वामित्व तो थोडेसे पूंजीपतियोंको प्राप्त होताहै और सर्वसाधारण समाजका अधिकांश श्रमजीवियोंके रूप में अपना श्रम बेचकर जीविका पाता रहता है। श्रमजीवी वर्गका पूंजीपतियों द्वारा शोषण सिद्ध करनेके लिए मार्क्सने अतिरिक्त मूल्यके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुसार किसी वस्तुका मूल्य उसे उत्पन्न करनेके लिए आवश्यक श्रम से निर्धारित होता है। पूंजीपति श्रमजीवियोंको केवल निर्वाह-मात्रके लिए मजूरी देकर उनसे इतना श्रम करवातेहैं कि उसके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका बाजार मूल्य उनकी मजूरीसे अधिक होता है। इन अतिरिक्त मूल्यको पूंजीपति हडप करलेते हैं। परन्तु इसप्रकार अनुचित आय का वे लोग प्राय. उपभोग नहीं करपाते हैं। श्रमजीवियोंके हाथमें क्रय-शक्तिकी न्यूनताके कारण अत्यधिक उत्पत्तिका संकट विद्यमान होनेलगता है। आरम्भमें तो नये बाजारोंकी उत्पत्ति, भोगविलासकी वस्तुओंका

उत्पादन और उधारपर वस्तुओंकी बिक्री इत्यादि ढगोंसे इस सकटको स्थगित करने का प्रयत्न कियाजाता है। परन्तु अन्तमें श्रमजीवियोंके स्थानपर यन्त्रोंके प्रयोग, एकाधिकारोंकी स्थापना और विदेशी बाजारोंकी खोजके कारण न केवल पूजीपति शक्तियोमें युद्ध छिड जाताहै वरन् मुट्ठीभर पूजीपतियो और अगणित श्रमजीवियो में सघर्ष उत्पन्न होजाता है। मार्क्सका विश्वासथा कि इस सघर्षमें अन्ततोगत्वा विजय श्रमजीवियोंको ही प्राप्त होनी है। पूजीपतियोंकी पराजय होनेपर उत्पादन के साधनोंका स्वामित्व समाजको प्राप्त होजाता है और उत्पादन, लाभ प्राप्तिके लिए नही परन्तु लोकहितके लिए कियाजाता है।

मार्क्सवाद की शाखाए

मार्क्सवाद जिसे वैज्ञानिक समाजवादका भी नाम दियाजाता है, कई शाखाओंमें विभाजित है। उनमें से दो मुख्य शाखाए विकासवादी समाजवाद और क्रान्तिकारी समाजवादके नामोंसे प्रसिद्ध है।

समाजवाद

विकासवादी समाजवादी वर्गोमें सघर्षके अस्तित्वको तो स्वीकार करतहै परन्तु इसे विशेष महत्व प्रदान नही करते। मार्क्सवादियोंके समान ये लोगभी श्रमको ही मूल्य-सृजनका चरम कारण स्वीकार करतेहै और भूमि-कर ब्याज और लाभमें सृष्ट मूल्यका विभाजन न्याययुक्त नही मानते। लाभप्राप्तिके उद्देश्यसे उत्पादन इनलोगो की दृष्टिमें सर्वथा त्याज्यहै क्योकि उत्पादक लोग प्राय: थोडी मात्रामें उत्पत्ति करके अधिक मूल्यपर बेचतेहै नकि अधिक मात्रामें उत्पत्ति करके कम मूल्य पर। इसका समर्थन समाजवादी पर्याप्त भूमि, श्रम इत्यादिके होतेहुए भी उपभोग के लिए अपर्याप्त मात्राकी उपलब्धि और मूल्य उच्च रखनेके लिए वस्तुओंको जान-बूझकर क्रियेगय नाशके उदाहरणो द्वारा करते है। इनके मतानुसार तो उत्पादन विधिको उन्नत करनेवाले ऐसे आविष्कार जिनके कारण लाभकी मात्रामें कमी होने की सम्भावना हो,प्रचलित होनेसे पहिलेही रोकलिये जाते है। समाजवादी प्रतिस्पर्धा

मेंभी विश्वास नही रखते। उनका विचारहै कि प्रतिस्पर्धाके कारण उत्पादन तथा वितरणमें भारी अपव्यय होताहै जिसके कारण प्रतिस्पर्धा केवल अनावश्यक ही नही किन्तु स्पष्टतया हानिकारक है। इसके अतिरिक्त एकाधिकारोंके प्रभुत्वने प्रतिस्पर्धा के रहे सहे कार्यको तो वैसेभी नष्ट भ्रष्ट करदिया है। बाज़ारपर एकाधिकारियोंका पूर्णरूपसे नियन्त्रण होनेसे मूल्योका पूर्ति और माग द्वारा निर्धारित होना अब स्वप्न सा ही प्रतीत होता है। उद्योग धन्धोंके वास्तविक स्वामी अब उद्योगपति नही किन्तु अर्थ वहन करनेवाली बडी बडी संस्थाए है और स्वतन्त्र उद्यम केवल घोषवाक्य मात्र रहगया है। इसकारण शनै शनै. उत्पादन कार्य सरकारको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। राष्ट्रीय उत्पादन सामग्री और मुख्य मुख्य उद्योग धन्धो का स्वामित्व प्राप्त करलेना चाहिए। विशेष कर यातायातके साधनो, युद्ध-सामग्री, बैंको, प्राकृतिक सामग्री तथा उत्पादक वस्तुओका सचालन अथवा उत्पादन-कार्य सम्हालना सरकार का प्रथम कर्तव्य है। छोटे परिमाण में उत्पत्ति तथा कृषि इत्यादिका प्रबन्धभी सहयोग समितियों द्वारा होना आवश्यक समझाजाता है। इन लोगोंका विश्वास स्वामित्व और सचालन कार्यके सर्वथा केन्द्रीकरणमें नही परन्तु उसके स्थानीय, प्रान्तीय और केन्द्रीय सार्वजनिक सस्थाओ में विभाजित करनेमें है। इन सबके कार्यको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए राष्ट्रीय योजना समितिकी स्थापना आवश्यक है। यह समिति उपभोक्ताओं तथा उत्पादकोंकी आवश्यकताओंका अनुमान करके विभिन्न प्रकारकी वस्तुओका विभिन्न मात्रामें उत्पन्न करनेका निश्चय करेगी। उत्पादक सस्थाओंके पारस्परिक सहयोग तथा न्याययुक्त वितरण द्वारा समाजवादी व्यापारिक अपकर्षों तथा उत्कर्षोंका अन्त करके उनके कारण होनेवाले सकटोंसे समाजकी रक्षा करनेकी आशा बाधते है। उत्पत्तिकी वृद्धि करना समाजवादियोंको पूजीवादियोंसे भी अधिक प्रिय है।

साम्यवाद

क्रान्तिकारी जिन्हें प्राय. साम्यवादी भी कहतेहै और विकासवादी समाजवादियोंके आर्थिक सिद्धान्तोंमें तो विशेष अन्तर भी नही परन्तु साम्यवादी अनुक्रमिक समाज सुधारमें विश्वास नहीं रखते। वे हिंसक क्रान्ति द्वारा पूजीपतियोंसे शक्ति तथा

सम्पत्ति छीन लेनेके पक्षपाती हैं। साम्यवादी व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको महत्व देना इतना आवश्यक नहीं समझते जितना कि समाजवादी। राजनैतिक दृष्टिसे समाजवादी लोकतन्त्रवादके और साम्यवादी अधिनायकवादके समर्थक हैं।

आर्थिक उन्नति और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम

आर्थिक उन्नतिको पूर्व निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनेवाली आर्थिक पद्धतिको प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रौबिन्सने अपनी पुस्तक 'बड़ा अपकर्ष' में समाजवादका ही रूपान्तर माना है। हम देखचुके हैं कि समाजवादी इस पद्धतिके प्रतिपक्षी हैं परन्तु दोनोंको एक मानना बड़ी भूल है। समाजके आर्थिक जीवनके नियन्त्रणमें विश्वास पुरातनकालसे चलाआता है। पुराने नीतिशास्त्रोंमें तत्कालीन समाजके आर्थिक जीवनका जो विवरण मिलताहै, उसके आधारपर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उस समयभी जीवन नियमबद्ध था। इसीप्रकार समय समय पर बुद्धिमान लोगोंने वास्तविक समाजोंमें नियन्त्रणके अभावके दोषोंको सुधारनेके लिए नियन्त्रित काल्पनिक समाजोंका निर्माण कियाहै। आधुनिक राष्ट्रों में संरक्षण नीतिके अनुकरणकी प्रथा आर्थिक जीवनका नियन्त्रण नहीं तो और क्या है? अर्वाचीन कालमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा और यदभाव्य नीतिके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें नियन्त्रण नीतिका पुनर्जन्म हुआ है। मनुष्य जीवनको सुखी बनानेके लिए उसके भौतिक आधारका विज्ञानकी सहायतासे विस्तृत करना आवश्यक है और उत्पत्तिकी मात्राको अधिकतम करना, आर्थिक पद्धतिको स्थिर बनाना तथा राष्ट्रीय आयके न्याययुक्त वितरण द्वारा आयमें साम्याभावका दूरकरना इस विस्तारको प्राप्त करनेके साधनहैं; परन्तु इन साधनोंका प्रयोग उसी अवस्थामें सम्भवहै जब जनसमुदायके आर्थिक जीवनका नियन्त्रण करके निर्धारित कार्यक्रमके अनुसार उसे उन्नत करनेका प्रयत्न किया जाय। इस कार्यक्रमके अनुसार राष्ट्रकी प्रत्येक संस्था, उद्यम अथवा उद्योग धन्धको जन समुदायकी आवश्यकताओंकी अधिकतम तृप्तिके लाभार्थ उपलब्ध सामग्री द्वारा अधिकतम उत्पादन करनेवाली पूर्ण पद्धतिका केवल सहयोगी अंगमात्र मानाजाता है। उत्पादन और उपभोग का सन्तुलन स्थापित कियाजाता है। भिन्न भिन्न संस्थाओंके कार्यक्रमको परस्पर सम्बन्धित करनेके लिए तथा

आवश्यक सन्तुलन स्थापित करनेके लिए एक केन्द्रीय संस्थाका होना आवश्यक है। संक्षेपमें कुशल उत्पादन स्थिर आर्थिक जीवन और न्याययुक्त वितरण इस कार्यक्रमके मुख्य उद्देश्य हैं।

कुशल उत्पादन करनेके लिए उपयुक्त उद्योग धन्धोंका चुनाव, उनका उपयुक्त स्थानीकरण, कच्चे माल, श्रम, पूंजी इत्यादिकी आवश्यक पूर्ति इन साधनोंका कुशलतम संस्थाओंमें विभाजन और फिर इन संस्थाओंका मितव्ययिता की दृष्टिसे संगठन करना आवश्यक होता है। उद्योगधन्धोंके स्थानीकरणके सिद्धान्तोंका तथा अभिनवीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध द्वारा संस्थाओंके संगठनका विवेचन इस पुस्तकके अन्य अध्यायोंमें मिलता है।

आर्थिक जीवनमें स्थिरता वस्तुओंके मूल्योंमें स्थिरता आनेसे उपलब्ध होसकती है। उसे प्राप्त करनेके साधनोंका विवेचन द्रव्यकी क्रयशक्ति वाले अध्यायमें किया गया है। इस स्थानपर केवल इतना उल्लेख करदेना पर्याप्त है कि वस्तुओंके मूल्यों में उतारचढ़ाव को न्यूनतम करना राष्ट्रोंकी द्रव्य-नीतिका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और इस कार्यमें तभी सफलता प्राप्त होसकती है जब इसकेलिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त हो।

न्याययुक्त वितरण

वितरणके न्याययुक्त होनेसे हमारा अभिप्राय श्रमजीवियों को प्राप्त होनेवाले राष्ट्रीय आयके भागकी मात्रामें वृद्धि करनेसे है। यह वृद्धि एकतो श्रमजीवियों की उत्पादन शक्तिमें उचित शिक्षा द्वारा वृद्धि करके प्राप्त होसकती है। इसके अतिरिक्त नौकरीमें नैरन्तर्य देकर, श्रमजीवीके सामाजिक स्थान, मजूरी तथा गतिशीलता में वृद्धि करके, कार्य करनेके समयको कम करके तथा कार्य-स्थानके वातावरणको उन्नत करके भी यह अवस्था प्राप्तकी जासकती है। नौकरीमें नैरन्तर्य अत्यन्त आवश्यक है। उत्पादन कार्यमें श्रमकी उतनीही आवश्यकताहै जितनी अन्य साधनोंकी। इसकारण श्रमजीवीको भी समाजमें वही स्थान मिलना चाहिए जो अन्य साधनोंके स्वामियोंको मिलता है। इसके लिए श्रमजीवियों की सौदा करनेकी शक्तिमें श्रमिक संघों की स्थापना द्वारा वृद्धि करना आवश्यक है। इसके

अतिरिक्त उद्योग-धन्धोंके सचालन कार्यमें श्रमजीवियों का भी हाथ होना चाहिए। उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होनेके साथ साथ श्रमजीवीकी मजूरीमें वृद्धि होनी चाहिए। यन्त्रोंके अधिकाधिक उपयोगके कारण श्रम करनेके स्थानका वातावरण उन्नत अवश्य हुआहै परन्तु श्रमके कारण होनेवाली थकावटमें वृद्धि हुई है। उत्पादन विधिमें उन्नति होनेके कारण श्रम करनेके घंटोको उत्पत्तिकी मात्रामें कमी किये बिनाही कमकिया जासकता है। श्रमकी गतिशीलता बढानेके उद्देश्यसे न केवल एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए वरन् एक व्यवसायसे दूसरे व्यवसायको अपनानेके लिए सुगमता प्राप्त होनी चाहिए।

उत्पादन विधिमें परिवर्तनोंके कारण माग और पूर्तिका पूर्ण समन्वय न होनेसे थोडी बहुत बेकारीका किसीभी समाजमें रहना अनिवार्य है। यदि समाज किसी व्यक्तिको श्रम करनेका अवसर देकर आजीविका कमानेके योग्य नही बनाता तो समाजका यह प्रथम कर्तव्यहै कि उस व्यक्ति को निर्वाह मात्रके लिए जीवन सामग्री दे। इसके लिए बेकारी बीमा करवाना आवश्यक है।

अब प्रश्न यह-उठताहै कि इस कार्यक्रमको व्यावहारिक रूपमें परिणत करने और इसकी सफलताके लिए उचित वातावरण उत्पन्न करनेका उत्तरदायित्व किसे सौपना चाहिए। सरकारको समाजके प्रतिनिधिके रूपमें इस कार्यको अपने हाथमें लेलेना चाहिए। सरकार इस उत्तरदायित्वका विकेन्द्रीकरण स्थानीय और प्रान्तीय सस्थाओंके सृजन द्वारा करसकती है। केन्द्रीय सस्था योजनाको तैयार करने, इसको कार्य रूपमें परिणत करनेका प्रबन्ध करने, स्थानीय तथा प्रान्तीय सस्थाओंके कार्यमें परस्पर सहयोग स्थापित करने इत्यादिका उत्तरदायित्व लेसकती है। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय और स्थानीय सस्थाओंमें श्रमविभाजन समाजवादियोंके मतानुसार किसप्रकार होना चाहिए, इसका विवेचन पहिले होचुका है। व्यक्तिगत प्रयत्नमें विश्वास रखनेवाले अर्थशास्त्री पूजीवादी सस्थाओंका सरकार द्वारा इसप्रकार नियन्त्रण करनेका मत प्रकट करते है कि वे स्वार्थसिद्धि के लिए प्रतिस्पर्धा द्वारा अन्य सस्थाओंको हानि न पहुचा सकें किन्तु सहयोग द्वारा अपना तथा जनसाधारण का उपकार करनेके लिए विवश होजायें।

१७

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय का अर्थ

किसी देशके निवासियोंके हितार्थ किसी निश्चित समयके भीतर उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंको उस देशकी राष्ट्रीय आयके नामसे पुकारा जाता है। मार्शलने राष्ट्रीय आयकी परिभाषा इसप्रकार की है। 'किसी देशमें प्राप्त श्रम तथा पूजीद्वारा वर्षभर में उसकी प्राकृतिक सामग्रीसे विविध प्रकारकी स्थूल तथा सूक्ष्म वस्तुए, जिनके अन्तर्गत विविध प्रकारकी सेवाएं भी आती है, उत्पन्न कीजाती हैं। इन उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंकी मात्राका नामही उस देशकी राष्ट्रीय आय हैं। आयको प्राय' द्रव्यके रूपमें परिणत करके दिखानेकी प्रथा प्रचलित है। स्मरण रहे कि उत्पादन सामग्रीके व्यवहारमें आनेके कारण प्रतिवर्ष उसके मूल्यमें जो ह्रास हो जाताहै उसको उस वर्षमें उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओंके कुल मूल्यमे निकालकर शेष बचेहुए मूल्यको ही राष्ट्रीय आय मानाजाता है।

ऐसाभी होसकता है कि एक देशके वासियोने किसी अन्य देशमें भूमि, उत्पादन सस्थाओं अथवा अन्य उत्पादनके साधनोंपर स्वामित्व प्राप्त करलिया हो और इस कारण विदेशमें उत्पन्न कीगयी वस्तुओं तथा सेवाओंपर उनका अधिकार हो। इस प्रकारकी उत्पत्तिका भी पहिल देशकी आयमें गणना करनेकी प्रथा है। इसीप्रकार पहिले देशमें उन साधनो द्वारा प्राप्त उत्पत्तिको जिनके स्वामी अन्य देशके वासी हों, उस देशकी राष्ट्रीय आयमें निकाल देना चाहिए।

इस सम्बन्धमें यह कहदेना भी आवश्यकहै कि फिशर राष्ट्रीय आयकी मार्शल द्वारा दीगयी परिभाषामें मतभेद प्रकट करता है। मार्शलके अनुसारतो एकओर-वर्षभर में उत्पन्न कीगयी वस्तुओं और कृत सेवाओंकी सूची बना लीजिए और दूसरी ओर सग्रहीत पूजीमें होनेवाले ह्रासकी सूची। इन दोनोंका अन्तरही राष्ट्रीय आयका

परिमाण है। परन्तु फिशरके मतानुसार राष्ट्रीय आयमें केवल उन वस्तुओं और सेवाओंकी गणना होनी चाहिए जिनका कि वर्षभर में उपभोग कियाजाता है। इस प्रकार यदि हम किसी वर्षमें एक मकान बनवायें तो मार्शलके मतानुसार उस मकान का कुल मूल्य उस वर्षकी राष्ट्रीय आयमें शामिल करना चाहिए। परन्तु फिशरके मतानुसार मकानके केवल उस अशका मूल्य शामिल करना चाहिए जिसका कि वर्षभर में प्रयोग कियागया है। तर्ककी दृष्टिसे फिशरकी परिभाषा अधिक सराहनीय प्रतीत होती है, परन्तु इसके व्यावहारिक प्रयोगमें इतनी कठिनाइया है कि राष्ट्रीय आयका परिमाण मालूम करनेके लिए प्राय: मार्शलकी ही परिभाषा काममें लायीजाती है।

राष्ट्रीय आय की माप-विधि

राष्ट्रीय आयका परिमाण मापते समय इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कहीं वस्तुके मूल्यकी दो या दो से अधिक बार गणना न होजाये। ऐसा होनेकी सम्भावना इसकारण रहतीहै कि एक उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न वस्तुए किसी दूसरे उद्योग धन्धेमें कच्चे मालकी तरह काम आती है। सूत कातनेवाली संस्थाओ द्वारा उत्पन्न कियाहुआ सूत कपडा बुननेवाली सस्थाओंके लिए कच्चा मालही तो है। यदि एक वर्षमें उत्पन्न सूत उसी वर्षमें उत्पन्न कपडमें परिणत होजाता है तो राष्ट्रीय आय में कपडेके मूल्यकी गणना करलेने पर सूतके मूल्यकी गणना नही करनी चाहिए।

पीगूके मतानुसार राष्ट्रीय आयको आकते समय केवल उन वस्तुओ और सेवाओ की गणना करनी चाहिए जिनका कि द्रव्यके रूपमें मूल्य निकालकर लेन देन होता है। परन्तु उन्होंने स्वय स्वीकार करलिया है कि उनके मतमें बहुतसी त्रुटिया है। क्रय-विक्रय कीजानेवाली और न कीजानेवाली वस्तुओ और सेवाओमें कोई स्वभाव-सिद्ध अन्तर नहीं होता और प्राय. एक प्रकारकी वस्तुओं और सेवाओका दूसरे प्रकार में परिणत होना असम्भव नही। यदि कोई मनुष्य किरायेके मकानमें रहताहै तो उस मकानमे प्राप्त होनेवाली सेवाओंका राष्ट्रीय आयमें समावेश होताहै परन्तु यदि वह मकान उसका अपना हो तो नही। इसीप्रकार यदि कोई मनुष्य बिनामूल्य प्राप्तकिये अपनी या अपने कुटुम्बियोकी सेवा करताहै तो उसके मूल्यकी राष्ट्रीय आयमें गणना

नही होती परन्तु यदि वही सेवा वेतन लेकर किसी दूसरेको की जाये तो उसकी राष्ट्रीय आयमें गणना होगी। बिना वेतन प्राप्त किये लोक-सेवाके लिए किये गये राजनीति, ज्ञान-विज्ञान इत्यादिसे सम्बन्ध रखनेवाली सेवाओंको भी राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित नहीं किया जाता। कारण यह है कि इसप्रकार की सेवाओंके मौद्रिक मूल्यका अनुमान करना कठिन है। कृषिद्वारा उत्पन्न उन वस्तुओंका जिनको कृषक अपन उपभोगके लिए रखकर मडीमें नही बेचता, राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करना ही उचित समझा जाता है। परन्तु आवश्यक आकड न मिलनेके कारण कृषि प्रधान देशोकी राष्ट्रीय आयको ठीक ठीक आकना सुलभ नही। कमसेकम वास्तविक आयका आकी हुई आयसे अधिक होनातो निश्चितही है।

सरकार द्वारा प्राप्त सेवाओंकी गणनाभी कठिनाइयोंसे खाली नही। शान्तिके समयमें भी यह निश्चित करना कठिन है कि उन सेवाओंका कितना अग देशके उत्पादन कार्यको सुचारु रीतिसे चलानके लिए आवश्यक था और इसलिए उसका मूल्य उत्पन्न वस्तुओंके मूल्यमें आका जा चुकनेके कारण दोबारा न आकना चाहिए। युद्ध-सामग्रीको राष्ट्रीय आयमें सम्मिलित करलेना ही अबतक उचित समझाजाता है। राष्ट्रीय आय प्राय वर्षभर के लिए आकनेकी प्रथा है। वस्तुओंका यदि वर्ष भरमें क्रय-विक्रय हुआहो तो उनका विक्रय-मूल्य अथवा उनका उत्पादन-व्यय उनके मौद्रिक मूल्यका द्योतक है।

वैकल्पिक माप-विधिया

उत्पादन कार्य उत्पादनके साधनोसे सम्पन्न होता है। उत्पादन कार्यमें साधनोंकी नियुक्ति उन साधनोंके स्वामियोंको भूमि-कर, वेतन ब्याज, लाभ इत्यादि देकर कीजाती है। साधनोंके स्वामियोंको इसप्रकार प्राप्त कुल आय उन साधनों द्वारा उत्पन्न कुल उत्पत्तिके मूल्यके सम होती है। किसीभी सस्था द्वारा उत्पन्न वस्तुओं का मल्य या तो उपभोक्ताओंसे मिलता है या दूसरी सस्थाओंसे। और इसप्रकार प्राप्त कुलमूल्य एकतो भूमि-कर, वेतन, ब्याज लाभ आदि देनेमें, दूसरे अन्य सस्थाओंसे वस्तुए खरीदनेमें और तीसरे पूजीके ह्रासको पूरा करनेमें व्यय कियाजाता है। इसप्रकार प्राप्त कुल मूल्यका उपरिलिखित तीन व्ययोंके समान होना आवश्यक

हैं। हिसाव किताबके बहीखातोमें इस आय व्ययको सम दिखाया जाता है। यदि व्यय आयसे अधिकहै तो दोनोका अन्तर हानिके रूपमें दिखाकर आय व्ययको सम करदिया जाताहै। वस्तुओ और सेवाओके मूल्य तथा उत्पादनके साधनोके स्वामियोको दियेगये भुगतानमें समता होनेके कारण किसी देशके वासियोंकी मौद्रिक आय मालूम करनेमे भी उस देशकी राष्ट्रीय आय मालूम की जासकती है। बल्कि इस प्रकार राष्ट्रीय आयकी गणना करनेमें भूलचूक की कम सम्भावना है। यह आयभी दो ढगसे मालूमकी जासकती है। एक ढगतो यहहै कि आय-कर देनेवाले और आयकर न देनेवाले लोगोकी आयको जोडलिया जाय और दूसरा ढग यहहै कि विभिन्न प्रकारके उत्पादन सम्बन्धी कार्योमें भाग लेनवालो की सख्या तथा आय मालूम कर लीजाये। परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यकहै कि बिना सेवाकिये प्राप्त आय, वृद्धावस्थाके कारण प्राप्त सरकारी वृत्ति, युद्ध-ऋणसे प्राप्त ब्याज और छल कपट से पायीहुई आय इत्यादिकी गणना नही करनी चाहिए।

राष्ट्रीय आयको आकनेका एक ढग यहभी होसकता है कि प्रत्येक सस्था या उद्योग धन्धे द्वारा उत्पन्न कीगयी वस्तुओकी मात्राके मूल्यमें से उन वस्तुओकी मात्राका मूल्य निकाल दियाजाये जिनका कि उस सस्था या उद्योग धन्धोमें प्रयोग कियागया है। परन्तु यह ढग आजतक व्यावहारिक दृष्टिसे असफलसा रहा है।

राष्ट्रीय आय और भौतिक कल्याण

राष्ट्रीय आय किसी राष्ट्रकी उत्पत्तिका परिमाण होनेके कारण उस राष्ट्रके भौतिक कल्याणकी द्योतक होसकती है परन्तु इसके द्रव्यके रूपमें परिणत करदेने से ऐसा होनेकी भी सम्भावनाहै कि वस्तुओकी उत्पत्तिकी मात्रामें तो तनिकभी वृद्धि न हो, फिरभी उनके मूल्यमें वृद्धिके कारण राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपमें वृद्धि होजाये। इसकारण एक वर्ष या राष्ट्रकी आयकी किसी दूसरे वर्ष या राष्ट्रकी आयसे तुलना करतेसमय इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि वस्तुओके मूल्यमें होनेवाले परिवर्तनोके प्रभावको निकाल दियागया है। ऐसा तभी होसकता है जबकि हम दूसरे वर्ष या राष्ट्रमें उत्पन्न वस्तुओको द्रव्यके रूपमें परिणत करते समय उन्ही मूल्योका प्रयोग करें जो पहिले वर्ष या राष्ट्रमें प्रचलित थे। दो राष्ट्रोकी राष्ट्रीय आयकी

तुलना तो औरभी कठिनहै क्योंकि प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्रीय आयको मौद्रिक रूपमें निकालते समय अपने निजी द्रव्यका प्रयोग करता है। एक राष्ट्रके द्रव्यको विदेशी विनिमयकी दरकी सहायतासे दूसरे देशके द्रव्यमें परिणत करनेसे भी तुलना सम्भव नही क्योंकि विदेशी विनिमयकी दरपर राष्ट्रकी उत्पत्तिके केवल उस थोडेसे अंशका प्रभाव पडताहै जिसका कि आयात-निर्यातके लिए क्रय-विक्रय होता है। इसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न राष्ट्रोंके लोगोंकी रुचियोंमें अन्तर होनेके कारण उनमें उत्पन्न वस्तुओंकी मात्रा एवं गुणोंमें भी अन्तर होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार एकही राष्ट्रके लोगोंकी रुचियोंमें समय समयपर परिवर्तन होसकता है और यदि यहभी मानलिया जाये कि उपभोक्ताओंकी रुचियां तथा आवश्यकताएं दोनों राष्ट्रों या वर्षों में एकसी ही थीं तोभी उनके द्वारा उपभोग कीजाने वाली वस्तुओंके समूहमें मूल्य-परिवर्तनोंके कारण परिवर्तन होनेकी सम्भावना है। किसी वस्तुका मूल्य न्यूनाधिक होनेसे आय तथा स्थानापन्न प्रभावों द्वारा उन वस्तुओंके समूहमें उस वस्तुकी मात्रा के न्यूनाधिक होनेका विवेचन पहिले किया जाचुका है।

राष्ट्रीय आय द्वारा हम यहतो मालूम करसकते है कि अमुक राष्ट्र या वर्षमें उत्पत्तिकी मात्रा अमुकथी परन्तु इस मात्राको उत्पन्न करनेके लिए कितना परिश्रम करना पडा, इस बातका ज्ञान राष्ट्रीय आयके आंकडोंसे नहीं होता। दो राष्ट्रोंमें राष्ट्रीय आयकी मात्रा एकसी होनेपर भी उसके द्वारा प्राप्त भौतिक कल्याणमें भिन्नताका होना असम्भव नहीं क्योंकि होसकता है कि उस मात्राकी प्राप्तिके लिए उनमें से एकको दूसरसे अधिक श्रम अथवा समयका व्यय करना पडाहो। अथवा एक राष्ट्रमें किसी वस्तुके प्राकृतिक बाहुल्यके कारण उस वस्तुकी प्राप्ति बिना मूल्य दिये सम्भव होनेसे लोगोंके भौतिक कल्याणमें तो वृद्धि होगी, यद्यपि उस वस्तुकी राष्ट्रीय आयमें गणना करना सम्भव नहीं।

राष्ट्रीय आयकी वृद्धिकी मात्राको भौतिक कल्याणकी वृद्धिकी मात्राका द्योतक मानने में एक औरभी अडचन है। जैसे जैसे राष्ट्रीय आयकी मात्रा बढतीजाती है, वैसे वैसे उसकी वृद्धिसे प्राप्त होनेवाले भौतिक कल्याणकी मात्रामें सीमान्त उपयोगिता के क्रमश. ह्रासका नियम लागू होनेके कारण कमी होती चलीजाती है। राष्ट्रीय आय यदि १०० करोड रुपये से बढकर १५० करोड रुपये होजाये तो भौतिक कल्याण में वृद्धि अवश्य होगी परन्तु जब राष्ट्रीय आय १५० करोड रुपय से बढकर

२०० करोड रुपये होजाये तो इस ५० करोड रुपये की वृद्धिसे भौतिक कल्याणमें उतनी वृद्धि न होगी जितनी कि उस ५० करोड रुपये की वृद्धिमें हुईथी, जब आय १०० करोड से १५० करोड रुपये हुईथी।

राष्ट्रीय आयकी गणना करनेके लिए विभिन्न प्रकारकी पूजीका वर्षके आरम्भ तथा अन्तमें मूल्य आकना पड़ता है। मूल्य आकनके लिए कोई एक निश्चित विधि नही है। इसकारण विविध प्रकारकी विधियोका प्रयोग करनेसे राष्ट्रीय आयकी *गणनामें भारी अन्तर होना असम्भव नही।*

राष्ट्रीय आय मापने के लाभ

इन सब त्रुटियोंके होतेहुए भी राष्ट्रीय आयकी गणना नितान्त निष्फल नही। इसके द्वारा निरपेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका नही तो कमसेकम सापेक्ष उत्पत्तिकी मात्राका तो पता चलसकता है और इसकारण दो राष्ट्रो या वर्षोमें तुलनाकी जासकती है। *राष्ट्रीय आयके मौद्रिक रूपका निकालनाभी कई कारणोंसे आवश्यकता है।* इससे हम यह मालूम करसकते है कि राष्ट्रीय आयका कितना अश उपभोग्य पदार्थोंकी उत्पत्तिके रूपमें था और कितना उत्पादन-सामग्रीके रूपमें। मौद्रिक रूप द्वारा हम यहभी ज्ञान प्राप्त करसकते है कि राष्ट्रीय आयका कितना अश व्यवस्थापकोको, कितना पूजीपतियों को, कितना भूमि-स्वामियोको और कितना श्रमजीवियोको मिला—अर्थात् इस आयका वितरण किसप्रकार से हुआ? भूमि-कर, मजूरी, व्याज तथा लाभ इत्यादि उत्पादनके साधनोको मिलनेवाले राष्ट्रीय आयके भागोकी मात्रा निश्चित करनेके लिए समय समयपर भिन्न भिन्न सिद्धान्तोका सृजन होतारहा है। उनका विवेचन आगामी अध्यायोमें कियाजायेगा। इस स्थानपर केवल इतना कह देना आवश्यकहै कि अन्य वस्तुओंके समानही उत्पादनके साधनोका भी मूल्य होता है और यह *मूल्य उसीप्रकार निर्धारित होताहै,* जैसे अन्य वस्तुओंका मूल्य। इसके निर्धारणकी क्रियाका हम किसी अन्य स्थानपर भलीप्रकार विवेचन करचुके है। –हम देखचुके है कि पूर्तिकी ओरसे वस्तुके सीमान्त उत्पादन-व्ययको और मागकी ओरसे सीमान्त उपयोगिताको महत्व दियाजाता है। इसीप्रकार उत्पादनके साधनो के स्वामियोको भी साधन-विशेषके उत्पादनके लिए विभिन्न प्रकारका व्यय करना

पडताहै और वह अपने साधनको उसके सीमान्त-उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर देनेके लिए उद्यत नहीं होसकते। इसलिए पूर्तिकी ओरसे उस साधनका सीमान्त उत्पादन-व्ययही उसके मूल्यको निर्धारित करता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि भिन्न भिन्न सिद्धान्त इस उत्पादन व्ययकी भिन्न साधनोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारसे गणना करते हैं। परन्तु गणना चाहे किसीभी ढगसे हो, इसमें सन्देह नहीं कि साधन विशेषके मूल्यको निर्धारित करनेमें उसके सीमान्त उत्पादन-व्ययसे सहायता लेनी पड़ती है। हम यहभी देख चुकेहैं कि मूल्यके सीमान्त-उत्पादन व्यय सिद्धान्तमें यह दोषथा कि यह सिद्धान्त केवल वस्तुओंकी पूर्तिको महत्व प्रदान करताथा, मांगको नहीं। मांगको मूल्य निर्धारणकी क्रियामें स्थान देनके लिए उपयोगिताके क्रमश ह्रास नियमसे सहायता लेकर सीमान्त उपयोगिताको वस्तुओंके मूल्यका कारण और माप ठहराया गयाथा। वस्तुओंकी मांग इसलिए होतीहै कि उनसे उपयोगिता प्राप्त होती है। उत्पादनके साधनोंकी मांग इसलिए होतीहै कि उनके नियोगसे उत्पादन होता है। अन्य साधनोंकी मात्रामें परिवर्तन कियेबिना किसी साधन विशेषकी मात्रामें वृद्धि करते रहनेसे उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमश ह्रास होने लगता है। कोईभी व्यवस्थापक उस साधनकी मात्रामें तबतक वृद्धि करता रहेगा जबतक कि उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य उस साधनकी वृद्धिकी मात्रापर नियमय व्ययके सम नहीं होजाता। साधनकी उस इकाईको जिसे कोई व्यवस्थापक किसी विशेष मूल्यपर उत्पादन कार्यमें नियुक्त करनेके लिए केवल उद्यतमात्र ही होपाता है सीमान्त इकाई कहतेहैं और इस इकाई द्वारा प्राप्त उत्पत्ति की मात्राके मूल्यको उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहते हैं। अन्य साधनोंको ज्योंका त्यों रखकर साधन विशेषकी मात्रामें एक और इकाईकी वृद्धि करनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें जो वृद्धि प्राप्त होतीहै उसके मूल्यको भी उस साधनकी सीमान्त उत्पत्ति कहा जासकता है। जिसप्रकार वस्तुकी सब इकाइयोंका मूल्य सीमान्त इकाईसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताके सम होता है, उसीप्रकार साधनकी सब इकाइयोंका मूल्य उसकी सीमान्त इकाईसे मिलनेवाली उत्पत्तिके मूल्यके भी सम होता है।

हम देखचुके हैं कि वस्तुओंके मूल्यके सीमान्त उपयोगिता सिद्धान्तमें कईएक दोष थे। साधनोंके मूल्यके सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्तमें उससेभी अधिक दोष हैं। उत्पादन के लिए चारों साधनोंका सहयोग आवश्यक है। किसी एकही साधन द्वारा वस्तुओं

का उत्पादन सम्भव नही। इसकारण साधन विशेषकी मात्रामें वृद्धिसे प्राप्त होने वाली अधिक उत्पत्तिको उसी साधनकी उत्पत्ति मानना तर्कयुक्त नही क्योंकि उसमें अन्य साधनोका सहयोगभी वर्तमान है उत्पत्ति अधिकतम प्राप्त करनेके लिए साधनोको विशेष अनुपातमें एकत्रित करना आवश्यक है। ऐसी दशामें एकही साधनकी मात्रामें वृद्धि करनसे इस अनुपातको भग करनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रा में वृद्धिके स्थानमें ह्रास होनकी भी सम्भावना है। इसकारण कईएक अर्थशास्त्रियोके विचारमें साधन विशेषकी मात्राको न्यूनाधिक करना सम्भवही नही, क्योंकि किसी कालमें प्रचलित उत्पादन-विधिके अनुसार चारो साधनोको विशेष अनुपातमें एकत्रित करनसे ही प्राप्त होसकता है अन्यथा नही। इसकारण साधन-विशेषकी मात्रा को न्यूनाधिक करके उसकी सीमान्त उत्पत्ति मालूम करना सम्भवही नही। ऐसाभी होसकताहै कि साधनविशेष की किसी विशेष सस्थामें सीमान्त उत्पत्ति तो कमहो किन्तु पूरे उद्योगमें अधिक मात्रामे उत्पत्ति करनेसे प्राप्त होनेवाली मितव्ययिताके कारण अधिक। इसकारण जबतक उत्पत्तिकी क्रमश वृद्धिका नियम लागू होता रहताहै तबतक सीमान्त उत्पत्तिका निश्चित रूपसे मालूम करना कठिन है। साधनो के मूल्यका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त केवल उनकी मागकी ओर ध्यान देताहै, पूर्ति की ओर नही। मूल्यको सम्यक रीतिसे निश्चित करनेके लिए हमें माग और पूर्ति दोनोको एकही सा महत्त्व देना होगा। किसी उत्पादनके साधनका मूल्य किसी अन्य वस्तुके मूल्यके समानही उससमय सन्तुलनकी अवस्था प्राप्त करेगा जबकि उस मूल्यपर उत्पादन-व्यय द्वारा निश्चित उस साधनकी पूर्ति, सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निश्चित उस साधनकी मागके सम होजायेगी।

१८

भूमि-कर

रिकार्डो का भूमि-कर सिद्धान्त

अर्थशास्त्रकी भाषामें भूमि-कर उस पुरस्कारको कहाजाता है जो भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनोंके स्वामियोंको इन साधनोंके उत्पादन-कार्यमें सहायता देनेके फलस्वरूप प्राप्त होताहै। रिकार्डोके मतानुसार भूमि-कर भूमिद्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी उस मात्राको कहतेहैं जो भूमिपतियोंको भूमिकी प्राकृतिक तथा सनातन शक्तियोंका उपयोग करनेकी अनुमति प्रदान करनेके बदले दीजाती है। रिकार्डो और उसके अनुयायियोंका विश्वासथा कि किसी देशमें कुल उपलब्ध भूमिका कृषिके उपयोगमें लायाजाना आवश्यक नहीं है। आरम्भमें तो केवल अधिक उत्पादक भूमि पर खेती कीजाती है क्योंकि उसमें प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा जन-समुदायकी आवश्यकताओंको तृप्त करनेके लिए पर्याप्त होती है। परन्तु जनसंख्यामें वृद्धि होनेपर अधिक उत्पादक भूमि अपर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होनेके कारण, अधिक मात्रामें उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए अधिक उत्पादक भूमि परही अधिकाधिक मात्रामें श्रम और पूंजीका व्यय करना होगा, अथवा कम उत्पादक भूमिके भागोंपर कृषि करनी होगी। दोनों स्थितियोंमें पहिलेके समानही श्रम और पूंजी लगानेपर प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें कमी आने लगगी अर्थात सीमान्त उत्पादन व्ययमें वृद्धि होने लगेगी। हम देख चुके हैं कि उत्पत्ति का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन व्ययसे निर्धारित होता है, इसलिए कृषिकी उत्पत्तिका मूल्यभी उस उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित होगा जो न्यूनतम उत्पादक भूमिपर कृषि करनेके लिए उठाना पड़ताहै अथवा श्रम तथा पूंजीके निम्नतम प्रयोगपर कियेगये व्ययके सम होगा। सीमान्त कृषक अन्य कृषकोंकी प्रतिस्पर्धाके कारण अपने सीमान्त उत्पादन व्ययसे अधिक मूल्य नहीं लेसकता और इसकारण सीमान्त भूमि या श्रम और पूंजीके सीमान्त प्रयोगपर कोईकर नहीं

मिलता। इसीकारण रिकार्डोने उत्पादन व्ययमें भूमि-कर का समावेश न होनेके सिद्धान्तकी रचना की। मूल्य तो निर्धारित होताहै सीमान्त भूमि अथवा श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोगसे जिस पर कोई कर नही मिलता। इसकारण अधिक उत्पादक भूमिभागो पर अथवा पूजी और श्रमके अधिक लाभदायक प्रयोगों पर कर मिलताहै क्योकि उनके उत्पादन व्यय तो सीमान्त उत्पादन व्ययकी अपेक्षा कम होते है परन्तु बाजारभाव सीमान्त उत्पादन व्ययके सम होते है। फलत भूमि-कर उत्पादकोंकी बचतहै और यह मूल्य द्वारा निर्धारित होताहै न कि वह स्वय मूल्यको निर्धारित करता है। रेखाशास्त्रकी सहायतासे भूमि-कर उसीप्रकार

भूमि अथवा श्रम और पूजी के आनुपूर्विक प्रयोग
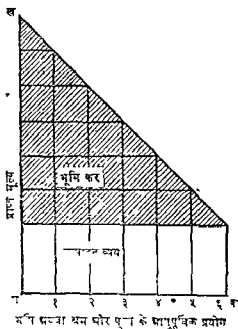
दिखाया जासकता है जैसेकि उपभोक्ताकी बचत। 'ग क' मुख्य रेखापर भिन्न प्रकारकी उत्पादक भूमि अथवा पूजी और श्रमको क्रमश प्रयुक्त मात्राए दिखायी जाती है और 'ग,ख' रेखापर प्राप्त उत्पत्तिका मूल्य। उत्पत्तिकी उपलब्ध मात्रामें क्रमश ह्रास होता जाताहै जैसेकि उपभोक्ताकी बचतमें उपलब्ध उपयोगिताका

क्रमश ह्रास होता जाता था। प्रत्येक प्रकारकी भूमि अथवा श्रम और पूजीके प्रयोगपर व्यय तो एकसा होताहै परन्तु उपलब्ध उत्पत्तिकी मात्रामें अन्तर होनेके कारण कुल प्राप्त मूल्यमें अन्तर होता है, जिस भागको रखाया द्वारा अंकित कियागया है वह प्राप्त भूमि-कर का द्योतक है।

भूमि-करके अस्तित्वकी व्याख्या इसप्रकार भी की जासकती है। मानलीजिए किसी भूमिपतिके पास भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाले भिन्न भिन्न भागहै और वह उनपर स्वयंतो कृषि नहीं करता परन्तु उन सबको आसामियोंको कृषि करनेके लिए देता है। अधिक उत्पादक भूमि भागपर अधिक उत्पत्ति होगी और कम उत्पादक भूमि भागपर कम यद्यपि उन सबपर एकसा ही श्रम तथा पूजीका प्रयोग कियाजाता है। अथवा कम उत्पादक भूमिभागपर अधिक श्रम और पूजीका प्रयोग करके भी सबपर एकसी ही उत्पत्तिकी मात्रा उत्पन्नकी जासकती है। इसकारण अधिक उपजाऊ भूमिवाले आसामी न्यूनतम उत्पादक भूमिसे अधिक प्राप्त होनेवाली उत्पत्तिकी मात्राको भूमिपतिको भूमि-करके रूपमें देनेके लिए उद्यत होजायेंगे क्योंकि इसमें उनकी कुछ भी हानि नहीं। मान लीजिए कि अधिकतम उत्पादक भूमिपर ८० मन गेहू उत्पन्न होताहै और अन्य भागपर क्रमश: ७०, ६०, ५०, ४० मन। विभिन्न भूमि-भागमें इस अवस्थामें भूमिपतिको ४०, ३०, २०, १० मन गेहू भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगा।

इससे स्पष्टहै कि किसी विशेष आसामीके हानि लाभके ब्योरेमें भूमि-करको, व्ययके रूपमें दिखाना ही पडेगा। अर्थात उसके उत्पादन व्ययमें भूमि-करभी एक अगके रूपमें शामिल होगा और इसकारण उसकेलिए मूल्यका एक अग होगा। परन्तु उपभोक्ताओंसे लिया जानेवाला मूल्य सीमान्त उत्पादन व्यय द्वारा निर्धारित, होता है और हम देखचुके है कि सीमान्त उत्पादन व्यय उस भूमि अथवा श्रम और पूजी के उस प्रयोगपर होनेवाले व्ययको कहते है जिससे कोई भूमि-कर प्राप्त नही होता। इसकारण भूमि-कर भिन्न भिन्न उत्पादन शक्तिवाली भूमियो अथवा श्रम और पूजीकी मात्राओंके भिन्न भिन्न प्रयोगोपर होनेवाले व्ययको एकसा बनादेता है अर्थात् भूमि-करके कारण प्रत्येक आसामीको एकसा ही उत्पादन व्यय उठाना पडता है यद्यपि भिन्न भिन्न आसामियोको मिलनेवाली भूमियोकी उत्पादनशक्ति एकसी नही होती।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

रिकार्डोके भूमि-कर सिद्धान्तकी कई आलोचनाएं कीगयी है। इस सिद्धान्तके मुख्य अग दो है। एकतो यहहै कि भूमि-कर किसी भूमिकी प्राकृतिक स्थिति अथवा सनातन उत्पादन शक्तिके कारण प्राप्त होनेवाला सापेक्ष अतिरिक्त लाभहै और दूसरे ऐसी भूमियोका अस्तित्व जिनसे भूमि-कर प्राप्त नही होता।

कई लोगोका विचारहै कि भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन नही। उसमें ह्रास होता रहताहै और श्रम तथा पूजीके प्रयोगसे उसका पुनर्नवीकरण कियाजाता है। इसप्रकार श्रम और पूजीके व्ययसे प्राप्त भूमिकी स्थायी उन्नतिका उसकी प्राकृतिक शक्तियोंसे भेद करना असम्भव होजाता है। भूमिकी उत्पादन शक्ति सनातन हो अथवा न हो परन्तु भूमिमें कुछ गुण ऐसे अवश्य होतेहै जो अन्य साधनोमें नही होते। रिकार्डोका सकेत इन गुणोकी ओर था। स्थायी उन्नतिके लिए कियेगये भुगतानको रिकार्डोने भी भूमि-करमें सम्मिलित करना स्वीकार करलिया है। इस दृष्टिसे एडम स्मिथने भूमि-करकी रिकार्डोसे अधिक उपयुक्त परिभाषा की है। उसके मतानुसार भूमि-कर कुछतो किसी समाजकी सामान्य परिस्थितिपर निर्भर है और कुछ भूमिकी प्राकृतिक एव कृत्रिम उत्पादन शक्तिपर। कृत्रिम उत्पादन शक्तिसे स्थायी उन्नति द्वारा और समाजकी सामान्य परिस्थितिमे जन-सख्यामें वृद्धि द्वारा भूमि-करपर पडनेवाले प्रभावकी ओर सकेत है।

कुछ लोगोके विचारानुसार यह सत्य नही कि सर्वप्रथम अधिकतम उत्पादक भूमि परही कृषि-कार्य प्रारम्भ किया जाताहै और फिर शनै: शनै: क्रमश. कम उत्पादक भूमियोपर। बल्कि वास्तवमें प्राय: कम उत्पादक भूमिभागोका उपयोग पहिले किया जाताहै और अधिक उत्पादक भूमिभागोका उसके बाद। सिद्धान्तकी सिद्धिके लिए इस क्रमका कोई महत्व नही है। केवल भूमिभागोकी उत्पादन शक्ति में भिन्नताके अस्तित्वकी आवश्यकता है। जबतक यह भिन्नता विद्यमानहै तबतक अधिक उत्पादक भागोको भूमि-कर प्राप्त होता रहेगा।

ऐसाभी कहाजाता है कि ससारमें कोईभी भूमिभाग उपलब्ध नही जिसके प्रयोग के लिए कुछ न कुछ भूमि-कर प्राप्त न होता हो। मिलके अनुसार इसका कारण यह होसकताहै कि भूमि-कर प्राप्त न करनेवाले भागोका भूमि-कर प्राप्त करने

वाले भागमें सम्मिश्रण होनेके कारण प्राप्त औसत भूमि-करमें न्यूनता आजाती है। यहभी सम्भवहै कि भूमि-करके रूपमें दिया जानेवाला भुगतान केवल उस भूमिकी श्रम और पूजी द्वारा कीगयी उन्नतिका ही पुरस्कार मात्र हो। इसके अतिरिक्त यदि यहभी मानलिया जाय कि भूमि चाहे किसीभी प्रकारकी हो उसको उपयोगमें लानेके लिए आसामी भूमिपतिको कुछ न कुछ करके रूपमें देताहै तो भूमि-कर वंचित भूमिसे रिकार्डोका अभिप्राय उस भूमिसे था, जिससे प्राप्त उत्पत्ति केवल उत्पादन व्ययको पूरा करनेके लिए पर्याप्तभर हो। उत्पादन-व्ययमें भूमिपतिको दिया जानेवाला करभी सम्मिलित करलिया जाताहै परन्तु ऐसी भूमिसे एसी कोई भी प्राप्ति नहीं होती जिसे अर्थशास्त्रकी परिभाषामें भूमि-कर कहाजाता है और इस दृष्टिसे उसे हम भूमि-कर वंचित भूमि कहसकते हैं।

किसी विशेष भूमि भागका भूमि-कर ज्ञात करनेके लिए भूमि-कर वंचित भूमि की उत्पत्ति आवश्यक नहीं। उस भूमि भागपर श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोग द्वारा प्राप्त उत्पत्ति भूमि-कर वंचित भूमिसे प्राप्त उत्पत्तिके सम है। कुल उत्पादन व्यय मालूम करनेके लिए श्रम और पूजीकी सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिको सीमान्त मात्राके सम लगायीगयी कुल मात्राओंसे गुणा करदेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक मात्रापर कियागया व्यय सीमान्त मात्रासे प्राप्त उत्पत्तिके सम होता है। इस उत्पादन व्ययमें कृषककी मजूरीभी सम्मिलित है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा इस उत्पादन व्ययसे अवश्यही अधिक होगी क्योंकि सीमान्त मात्रासे पहिले प्रयोगकी जानेवाली श्रम और पूजीकी मात्राओंसे क्रमशः अधिक उत्पत्ति प्राप्त होती है। उत्पत्तिकी कुल उपलब्ध मात्रा और कुल उत्पादन व्ययमें अन्तरकी मात्रा भूमिपतिको भूमि-करके रूपमें दी जासकती है। कृषकको इसमें कोई आपत्ति न होगी क्योंकि वह श्रम और पूजीके सीमान्त प्रयोगसे मिलनेवाली मजूरीसे सन्तुष्टहै और इसकारण वह सीमान्त प्रयोगसे पहिलेके प्रयोगोंके लिएभी उतनीही मजूरीपर श्रम करता रहेगा। इसके अतिरिक्त भूमिके वैकल्पिक प्रयोग होसकते हैं। एक प्रयोगके लिए वही भूमिभाग भूमि-कर वंचित भूमि होसकता है और दूसरे प्रयोगके लिए भूमि-कर प्राप्त करनेवाली भूमि। इसकारण यहभी होसकता है कि प्रत्येक भूमिभागको उस प्रयोगमें लाया जारहा हो जिसके कारण कि उससे भूमि-कर प्राप्त होता हो। इस सम्बन्धमें यह उल्लेखनीयहै कि एक कृषिफलके लिए प्राप्त भूमि-कर दूसरे कृषिफलके

मूल्यपर प्रभाव डालसकता है। गेहूकी माग बढनेसे गेहू उत्पन्न करनेवाली भूमि का भूमि-कर बढने लगेगा और इसकारण गन्ना उत्पन्न करनेवाली भूमिका गेहू उत्पन्न करनेमें प्रयोग किया जाने लगेगा। गन्नेकी पूर्तिको स्थित रखनेके लिए गन्ना उत्पन्न करनेके लिए कम उत्पादक भूमिभागोको प्रयुक्त किया जायेगा और इसकारण गन्नेके मूल्यमें भी वृद्धि होगी। इसप्रकार गेहू उत्पन्न करनेवाली भूमिके भूमि-करमें वृद्धिका गन्नेके मूल्यमें समावेश होता है। यही कारणहै कि भिन्न भिन्न फसलोंमें प्रतिस्पर्धाके कारण हरप्रकार की भूमिसे भूमि-कर प्राप्त होता रहता है।

भूमि-कर का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि-कर का सापेक्ष लाभके रूपमें अस्तित्व मानतेहै परन्तु उनका विचारहै कि सापेक्षताके सिद्धान्त द्वारा हम केवल इतना कहसकते है कि अधिक उत्पादक भूमिका कम उत्पादक भूमिसे भूमि-कर अधिक होना चाहिए। अर्थात् रिकार्डो का सिद्धान्त केवल इतना सिद्ध करताहै कि उत्तम वस्तुका मूल्य निम्न वस्तुसे अधिक होना चाहिए। मूल्य क्यों अधिक होना चाहिए इसका उत्तर इस सिद्धान्तसे नहीं मिलता क्योंकि यदि सब भूमि भागोंकी उत्पादन शक्ति समान ही होतीतो रिकार्डोके मतानुसार किसीभी भूमि भागके प्रयोगके लिए भूमि-कर न देना पडता। आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार भूमि भागोके समान रूपमें उत्पादक होनेपर भी भूमि-कर का अस्तित्व सम्भवहै क्योंकि भूमि-कर अधिक उत्पादक भूमि भागोंकी सापेक्ष न्यूनताका नहीं बल्कि भूमिसे प्राप्त होनेवाली वस्तु विशेषकी सापेक्ष न्यूनताका परिणाम स्वरूप है। भूमि-कर तबतक सनातन रूपमें विद्यमान रहेगा जबतक कि भूमिसे उत्पन्न होनेवाली किसी वस्तुकी माग उस वस्तुकी पूर्तिसे अधिकहै क्योंकि मागमें आधिक्यके कारण वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होगी और भूमिपतियोको मूल्यमें वृद्धिके कारण पहिलेसे अधिक आय भूमि-करके रूपमें प्राप्त होगी। मूल्यमें वृद्धिके कारण पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें अप्रयुक्त भूमिभागो को प्रयोगमें लाकर या प्रयुक्त भूमिभागोंमें श्रम और पूजीकी अधिक मात्रा लगाकर पूर्ति बढाने की चेष्टा कीजायेगी और पूर्ति बढनेपर भूमि-करकी प्राप्ति बन्दहो जायेगी। इस सिद्धान्तमें कम उत्पादक भूमियोंको केवल इतना महत्व प्राप्तहै कि उनसे कम

उत्पत्ति मिलनेके कारण पूर्तिमें कमी आजाती है और इसकारण प्राप्त भूमि-कर की मात्रामें वृद्धि होजाती है।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे उसे केवल भूमि तथा अन्य प्राकृतिक देनसे सम्बन्धित करनेकी आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि इसप्रकार के अतिरिक्त लाभ अन्य उत्पत्तिके साधनोंको भी उनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओंकी पूर्तिमें सापेक्ष न्यूनताके कारण प्राप्त होते रहते हैं। मार्शलन ऐसे अतिरिक्त लाभको आभास करोंकी उपाधिदी थी। हम पहिले देखचुके हैं कि भूमि-करको इस दृष्टिसे देखने पर भूमिके वैकल्पिक प्रयोगोंके अस्तित्वके कारण भूमि-करके मूल्यमें समावेश होने की तनिकभी शंका नहीं रहती।

कहा जाता है कि भूमि-करका आधुनिक सिद्धान्त सामान्य उत्पादन व्यय और अतिरिक्त लाभमें भेदभाव पर आधारित है। सामान्य उत्पादन-व्यय उत्पादनके साधनोंके उस सामान्य मूल्यपर निर्भर है जो साधन विशेष की आवश्यक मात्रामें पूर्ति करदे। साधारणतया यह मूल्य उस साधनकी कार्यक्षमताको पूर्णरूपेण स्थिर रखनेके लिए पर्याप्त होना चाहिए। उस साधन विशेष द्वारा उससे अधिक प्राप्त होनेवाली आयको अर्थशास्त्र की परिभाषामें 'कर' कहा जासकता है चाहे यह अधिक आय प्राकृतिक गुणों अथवा स्थितिके कारण प्राप्तहो, चाहे किसी आकस्मिक लाभ के रूपमें और चाहे एकाधिकारके लाभके रूप में।

भूमि-करको इस दृष्टिसे देखनेसे आभास-करों की कल्पनाभी व्यर्थही सिद्ध होती है। आभास करका प्रयोग मार्शलन उत्पादनके साधनोंकी उस आयको दिखानेके लिए कियाथा जो उनको उनकी पूर्ति अस्थायी रूपमें सीमित होनेके कारण होती है। मार्शलका कहनाथा कि भूमिको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभ तथा अन्य साधनोंको प्राप्त होनेवाले अतिरिक्त लाभमें भेदहै क्योंकि भूमिकी पूर्ति प्रकृतिकी देन होनेके कारण निश्चितहै और अन्य साधनोंकी पूर्ति मनुष्य द्वारा न्यूनाधिक की जासकती है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री भूमिकी पूर्तिको अन्य साधनोंकी पूर्तिसे अधिक सीमित नहीं स्वीकार करते। उनके मतानुसार यदि किसी विशेष समय और स्थानपर अन्य साधनोंकी पूर्तिमें वृद्धि सुगम रीतिसे होसकती है तो अन्य समय और स्थानपर भूमि की। इस भेदभाव को मिटा देनेसे भूमि-कर तथा आभास करोंमें केवल इतना भेद है कि भूमि-कर अन्य करोंसे अधिक स्थायी है।

कृषि-सम्बन्धी समुन्नति और भूमि-कर

कृषिसे सम्बन्ध रखनेवाली समुन्नतिका भूमि-कर पर क्या प्रभाव पडता है, इसका उत्तर रिकार्डोके सिद्धान्तके अनुसार दो प्रकारसे दिया जासकता है। यदि अधिक उत्पादक भूमिको औरभी उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें वृद्धि होगी और यदि निम्न कोटिकी भूमिको उन्नत कियाजाये तो भूमि-करमें कमी होगी। परन्तु आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार दोनो अवस्थाओंमें भूमि-करमें न्यूनताही रहेगी क्योकि किसीभी प्रकारकी भूमिको उन्नत करनेका अर्थ उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि द्वारा पूर्तिको बढाना होगा। पूर्ति बढनेसे मूल्य कम होंगे और मूल्य कम होनेसे भूमि-करभी कम होगा। केवल अधिक उत्पादक भूमियोंको उन्नत करनसे उत्पत्तिकी मात्रामें अधिक वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-कर अधिक गिरेगा और कम उत्पादक भूमियोंको उन्नत करनेकी चेष्टासे उत्पत्तिकी मात्रामें कम वृद्धि होगी और इसकारण भूमि-करमें भी अधिक न्यूनता न होगी।

अबतक भूमि-करको भूमिके सम्बन्धमें ही प्रयुक्त किया जारहा था। इस शब्दका प्रयोग इमारतोंके सम्बन्धमें भी कियाजाता है। जिस भूमिपर इमारत खडीहै उसके कारण प्राप्त होनेवाला करतो पारिभाषिक भूमि-कर है जो उस भूमिकी भली बुरी स्थितिके कारण प्राप्त होता है। नगरोंके उस भागमें जहा कि व्यापार होता है, इन करोंकी मात्रा अधिक होतीहै परन्तु इमारतसे प्राप्त होनेवाला कर इमारत बनाने या खरीदनेके लिए व्यय कीगयी पूजीका व्याज है, भूमि-कर नही। इसीप्रकार खानोंसे प्राप्त कर में भूमि-कर के अतिरिक्त भी कुछ अंश होताहै कारण यह कि खनिज पदार्थको एकबार निकाल लेनेपर खानके मूल्यमें स्थायी रूपमें ह्रास होजाता है। इसकारण खानोंके करमें उनकी स्थिति तथा समृद्धिके लिए प्राप्त कर के अतिरिक्त खनिज पदार्थको निकाल लेनेके लिए भी कुछ भुगतान सम्मिलित होता है। कई भूमिभागोंसे एकही समयमें दो अथवा दो से अधिक प्रकारके कर प्राप्त होसकते है। होसकताहै कि कोई भूमिभाग अधिक उत्पादक भीहो, उसकी स्थिति भी सुन्दरहो और वहा जलशक्ति भी सहजमें उपलब्ध हो। इसप्रकार की भूमिसे उत्पादन शक्ति, स्थिति और जलशक्ति तीनोंके लिए तीन प्रकारके कर प्राप्त होने होंगे।

१६

मजूरी (पारिश्रमिक) और उसके सिद्धान्त

मजूरी की परिभाषा

मजूरी श्रमजीवी द्वारा कियेगये श्रमका मूल्यहै और इसकारण मजूरीका निर्धारणभी श्रमकी पूर्ति और मागके सन्तुलनसे उसीप्रकार होताहै जैसे कि अन्य वस्तुओंके मूल्यका। केवल श्रमबाजारकी उन विशेषताओंको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है जिनका विवेचन हम बाजारके अध्यायमें करचुके है।

मजूरीके विभिन्न सिद्धान्तोंका उल्लेख करनेके पूर्व यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है कि अर्थशास्त्री इस शब्दका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें करते हैं। मौद्रिक मजूरीसे उनका अभिप्राय द्रव्यकी उस मात्रासे है जो श्रमजीवीको किसी निश्चित समयतक श्रम करनेके पारिश्रमिकके रूपमें मिलतीहै और वास्तविक मजूरीसे वस्तुओं और सेवाओंकी उस मात्राका जो उस मिलेहुए द्रव्य द्वारा खरीदी जासकती है। इसके अतिरिक्त श्रमजीवीको किसी विशेष उद्योग धन्धेमें काम करनेसे कुछ एसी सुविधाएं और असुविधाएंभी प्राप्त होतीहैं जो केवल उसी उद्योग धन्धेसे सम्बन्धित होती हैं। श्रमजीवीकी वास्तविक आयको आकते समय इन सुविधाओं और असुविधाओंकी गणनाभी अवश्य करलेनी चाहिए क्योंकि होसकताहै कि एक उद्योग धन्धेमें दैनिक मजूरी तो अधिक हो परन्तु काम वर्षमें केवल छैमासतक ही मिलता हो और दूसरेमें दैनिक मजूरी तो कमहो परन्तु काम वर्षभर मिलता रहता हो। इसकारण पहिले उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले की वार्षिक आय दूसरे उद्योग धन्धेमें काम करनेवाले मजूरकी वार्षिक आयसे कम होसकती है। इसीप्रकार कुछ उद्योग-धन्धोंके स्वामी अपने श्रमजीवियोंके रहनेका तथा उनकी सन्तानके सुचारु शिक्षण इत्यादिका भी प्रबन्ध कर देते हैं। ऐसे उद्योग-धन्धोंमें मौद्रिक मजूरी कम होनेपर भी वास्तविक आय अधिक होसक्ती है।

मजूरी का लोह सिद्धान्त

मजूरीके लोह सिद्धान्तके जन्मदाता फ्रांसके अधिभूतवादी अर्थशास्त्री थे। तत्कालीन फ्रांसमें कृषक लोगोंकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी। उनके परिश्रम द्वारा उत्पन्न सम्पत्तिकी मात्रामें उतनी उनके पास शेष छोडी जातीथी जो केवल उनके जीवित रहनेके लिए पर्याप्त मात्र होनीथी बाकी मात्राको सरकार कर लगाकर ललेती थी। अधिभूतवादी अर्थशास्त्रियोंने समझा कि प्रकृतिका नियमही है कि बेचारे कृषकोको जीवित मात्र रहनेके लिएही वृत्ति प्राप्त हो। यदि सरकार करभी न लगाय तोभी कृषकोंको प्राप्त उनकी उपजके भागमें वृद्धि तो अवश्य होगी परन्तु इसके फलस्वरूप उनकी जन्मदर में भी वृद्धि होगी। इसके कारण कृषकोंकी जन-संख्या बढ जायगी और प्रत्येक कृषकका प्राप्त होनेवाला भाग फिर पहिलेके समानही होजायगा। जर्मनीके समाजवादी अर्थशास्त्रियोंने इस नियमकी क्रियान्विति को पूंजी मूलक आर्थिक पद्धतिमें भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। उनके मतानुसार जब तक मूल्य माग और पूर्ति द्वारा निश्चित होतेरहेंगे, तबतक पूंजी तथा भूमिपति कुल उत्पत्तिकी मात्रामें श्रमजीवियोंको केवल क्षुधानिवारणके लिए देकर शेष मात्रा को स्वयं ग्रहण करते चलेजायेंगे। इनमें से कुछके मतानुसार मजूरीका केवल शारीरिक जीवनको मृत्युसे बचानेके लिए पर्याप्त मात्रामें होना आवश्यक है। उन्होंने अपने सिद्धान्तको लोह सिद्धान्तका नाम दिया। कुछका विचारथा कि मजूरी नैतिक अथवा रूढिसे सम्बन्ध रखनवाली धारणाओं द्वारा जो लोगोंकी रहनसहन तथा रीति रिवाजोंपर निर्भर है, निश्चित होती है। इन्होंने अपने सिद्धान्तको वास्य सिद्धान्त कहना उचित समझा। प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री एडम स्मिथका मजूरीके लोह अथवा वास्य सिद्धान्तसे मतभेद था। उसके अनुसार मजूरीका केवल जीवित मात्र रहनेके लिए पर्याप्त होना आवश्यक नहीं है। वह अधिकभी होसकती है परन्तु स्थायी रूप में उसका जीवितमात्र रहनेके लिए अपर्याप्त होना सम्भव नहीं क्योंकि श्रमजीवी और उनके कुटुम्बका जीवित रखना श्रमकी पूर्तिके लिए आवश्यकही है। इसकारण वस्तुओं और सेवाओंकी उस मात्राका जिसके द्वारा श्रमजीवी केवल अपने आपको और अपने कुटुम्बको क्षुधा मरणसे सुरक्षित रखसके, एक सीमा मानलेना चाहिए जिससे कम मजूरीका होना सदैवके लिए सम्भव नहीं।

दनमें सहायता देताहै जिनका मौद्रिक मूल्य होता है। कोईभी व्यवस्थापक किसी विशेष श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिसे अधिक मजूरी नही देता। हम यहभी जानतेहै कि यदि अन्य उत्पादनके साधनामें परिवर्तन किये बिना श्रम-जीवियोका अधिकाधिक मात्रामें नियोग करते चलेजायेंगे तो उनके नियोग द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रामें क्रमश ह्रास होता चलाजाता है। इसप्रकार व्यवस्थापक सीमान्त श्रमजीवीको उसके नियोगके कारण प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिक मजूरी तो देगा नही। परन्तु हम यहभी जानतेहैं कि एकही बाजारमें एकही समय पर एकही वस्तुका एक मूल्य होनाभी आवश्यक है। इसकारण सब श्रमजीवियोको वही मजूरी मिलगी जो सीमान्त श्रमजीवी को। इसप्रकार सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे मजूरी निर्धारित करनेवाले सिद्धान्तको मजूरीका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त कहते हैं। पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें मजूरी सीमान्त श्रम द्वारा उत्पत्तिके मूल्यसे न अधिक होसकती है और न न्यून। यदि सीमान्त श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य मजूरीसे अधिकहो तो व्यवस्थापकके दृष्टि-कोणसे एक और श्रमजीवीको नियुक्त करनेमें लाभ होगा। यदि मजूरी सीमान्त श्रमजीवीकी उत्पत्तिकी मात्राके मूल्यसे अधिकहो तो एक श्रमजीवीकी उत्पत्तिसे व्य-वस्थापक उसके नियोगसे होनेवाली हानिको बचासकता है।

इन सब सिद्धान्तोंमें गुणभी है और दोषभी। मजूरीके केवल जीवित मात्र रहने के लिए पर्याप्त मात्र होनेका सिद्धान्त तभी पूर्णतया लागू होसकता है जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो भूमिकी अत्यन्त न्यूनता हो और जनसंख्या पूरे वेगसे बढ़तीचली जा रही हो। परन्तु व्यवहारमें इन तीनोंमें से एकभी पूर्णरूपेण अपना प्रभाव नही दिखला पाताहै परन्तु इस सिद्धान्तमें इतना सत्य अवश्यहै कि उत्पादन कार्यमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा जनसंख्याकी न्यूनताको मजूरी निर्धारित करनेमें विशेष महत्व प्राप्त है। मजूरी कोष सिद्धान्त हमारा ध्यान इस सत्यकी ओर आकृष्ट करताहै कि वास्त-विक मजूरी अर्थात वह वस्तुएं और सेवाएं जिनका श्रमजीवियो द्वारा उपभोग होताहै वर्तमान कालमें कियेगये श्रम द्वाराही नही परन्तु भूतकालमें कियगये श्रमसे भी उत्पन्न कीगयी थी। इस सिद्धान्त द्वारा मजूरीके श्रमजीवियोको प्राप्त होनेकी विधि से भी हम परिचित होजाते है। परन्तु वास्तविक मजूरीपर प्रत्यक्ष तथा परोक्षरूप से प्रभाव डालनेवाले कारणोंका इस सिद्धान्तसे तनिकभी ज्ञान प्राप्त नही होता।

इसीप्रकार मजूरी कोषको सदैवके लिए स्थिर मानना भी भूल है। राष्ट्रीय आयमें परिवर्तन होनेसे इसमें परिवर्तन होतेरहते है। इसका समर्थन इस बातसे होताहै कि आर्थिक दृष्टिसे उन्नतिशील देशोंमें प्राय मजूरी बढतीही रहती है क्योंकि श्रमजीवियोंके नियोगके लिए उपलब्ध पूजीमें वृद्धि होती रहती है। बहुतसे अर्थशास्त्री वो सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त और मजूरी कोष सिद्धान्तमें एकता सिद्ध करनेका प्रयत्न करतेहै क्योंकि दोनोंके अनुसार श्रमजीवियोंकी सख्यामें वृद्धि होनेके कारण उनकी मजूरीमें कमी होनेकी सम्भावना है। सीमान्त उत्पत्तिके सिद्धान्तका विवेचन हम अन्य स्थानपर करचुके है। इस स्थानपर केवल इतना कहदेना पर्याप्त होगा कि श्रमजीवी द्वारा प्राप्त उत्पत्ति केवल श्रमजीवीकी कुशलता परही नही परन्तु अन्य साधनोंके कुशल प्रयोग परभी निर्भर रहती है। इन साधनामें परिवर्तनके कारणभी श्रमजीवीकी उत्पादन शक्तिमें परिवर्तन होसकता है। कई एक अर्थशास्त्रियोंने श्रमजीवी वर्गको राष्ट्रीय उत्पत्तिका केवल शेषाधिकारी मात्र ठहराया है। उनके कथनानुसार अन्य साधनोंके अधिकार पहिलेसे ही निश्चित तथा अग्रिम है। उनका भुगतान दिये जानके अनन्तर जो शेष रहताहै वह श्रमजीवी वर्गका भाग है और कुशलतामें वृद्धिका सम्पूर्ण लाभ इसी वर्गको मिलता है। इस सिद्धान्तको मजरीका शेषाधिकार सिद्धान्त कहते है।

मजूरी का आधुनिक सिद्धान्त

आधुनिक अर्थशास्त्री श्रमकी पूर्ति, माग तथा मूल्योमें सन्तुलनके स्थापित होनेको ही मजूरी का पूर्ण सिद्धान्त मानते है। किसी विशेष समय पर अन्य साधनोंकी मात्राको परिवर्तनरहित रखनसे किसी विशष मूल्य पर श्रमकी सम्पूर्ण पूर्तिका नियोग सम्भव होसकता है। इस मूल्यको सन्तुलन मूल्य कहते है। इस मूल्यपर श्रमकी माग और पूर्ति सम होजाती है। इस माग और पूर्तिमें समय समय पर परिवर्तन होते रहतेहै और इनके कारण नये नये सन्तुलन स्थापित होते रहते है।

पूर्तिकी दृष्टिसे किसी उद्योगधन्धेमें किये जानेवाले प्रयास तथा श्रमको और श्रमजीवीके जीवन स्तरको विशेष महत्व प्राप्त है। श्रम कार्य करने की अवधि, कार्यकी आकृष्टता तथा मात्रा, कार्यस्थानके वातावरण, शिक्षण-व्यय

और नौकरीके नैरन्तर्यसे न्यूनाधिक रोचक होसकता है। जीवन स्तर प्रचलित रूढियोंसे निर्धारित होता है। इसीप्रकार मागकी दृष्टिसे उत्पत्ति महत्वपूर्ण है और उत्पत्ति कार्य कौशल पर निर्भर है। इन सबका उचित स्थानपर विवेचन करदेने मे पूर्व यह कह देना आवश्यकहै कि माग और पूर्तिके द्वारा निर्धारित मूल्योंका एकसा होनाभी पीगूके मतानुसार आवश्यक नहीं। मजूरीकी प्रवृत्ति किसी विशेष विन्दुकी ओर नहीं होती। परन्तु वह दो बिन्दुओंके मध्यवर्ती प्रदेशमें अनिश्चित सी रहती है। सीमान्त उत्पत्ति द्वारा निर्धारित व्यवस्थापकोंका बिन्दु उस अधिकतम मजूरीका द्योतकहै जो व्यवस्थापक देसकते है श्रमकी न्यूनाधिक रोचकता तथा जीवनस्तर श्रमिक द्वारा स्वीकृत न्यूनतम मजूरीकी विन्दुके द्योतक है। सन्तुलनका बिन्दु इन दो बिन्दुओंके मध्यमें कहीपर होगा। उसका स्थान व्यवस्थापकों और श्रमजीवियों की सापेक्ष सौदा करनेकी शक्ति पर निर्भर रहता है। श्रमजीवियोंके अधिक शक्तिशाली होनेपर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके लगभग होगी और व्यवस्थापकाके अधिक शक्तिशाली होनेपर उनके जीवन स्तरपर होनेवाले व्ययके आसपास। अल्पकालमें मजूरी ऊपर कहेगये प्रकारसे निश्चित होतीहै परन्तु दीर्घकाल में माग और पूर्तिमें परिवर्तनोंके कारण श्रमकी कार्य कुशलतामें और फलस्वरूप मजूरीमें भी परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है।

प्राचीन अर्थशास्त्री विशेषकर रिकार्डो और उसके अनुयायी ऐसा विश्वास प्रकट करतेथे कि मजूरीमें स्थायी रूपसे वृद्धि होना असम्भवहै क्योंकि इस वृद्धिके कारण जनसख्या और फलत श्रमकी पूर्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरी फिर मौलिक स्तरको प्राप्त करलेती है। परन्तु श्रमजीवियो की कार्य-कुशलताके फलस्वरूप उनके मजूरी-स्तर में भी वृद्धि होसकती है। मजूरीमें वृद्धि होनेसे जीवन-स्तर में भी स्थायी रूपसे उत्कृष्टता आसकती है और इसके कारण कार्य कुशलतामें औरभी वृद्धि होसकती है। उनके मनसे उची मजूरी द्वारा उपलब्ध मितव्ययिताके सिद्धान्तका आविष्कार हुआ। इस सिद्धान्तके अनुसार अधिक मजूरी देनेसे किसी वस्तुके उत्पादन-व्ययमें श्रमके व्ययको कम किया जासकता है क्योंकि अधिक मजूरी देनेसे श्रमजीवियोंकी कार्य-कुशलतामें सापेक्ष रूपमें अधिक उन्नति होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी और इसकारण मजूरी अधिक होतेहुए भी वस्तुकी प्रत्येक इकाईपर होनेवाले व्यय में कमी होगी। मार्शलके विचारमें तो किसीभी व्यवसायमें मजूरी कौशल स्तरमे

उस समय तक कम होतीहै जबतक कि मजूरीमें वृद्धि करनेसे कार्य कौशल में सापेक्ष रूपसे अधिक उन्नति होती रहती है। यह उन्नति कम मजूरी पानवाले श्रमजीवियों की मजूरीमें वृद्धि करनेसे तो अवश्यम्भावी है क्योंकि उस वृद्धिका आहार वस्त्र और निवासस्थान आदिको श्रेष्ठ बनानेके लिए प्रयोगमें लाया जाना निश्चितसा ही है। परन्तु श्रमजीवियोंकी सामाजिक स्थितिमें उन्नति होनेके अनन्तर कीगयी मजूरीमें वृद्धि पूर्ववत लाभदायक नहीं होती क्योंकि अब इस वृद्धिका अधिकांश भागविलास पर खर्च होनेकी सम्भावना है। इसप्रकारका व्यय कमसे कम पहिलेके समान प्रत्यक्ष रूपमें उत्पादन शक्तिपर प्रभाव नहीं डालता। स्मरण रहे कि मजूरीमें वृद्धिसे हमारा अभिप्राय मौद्रिक मजूरीमें वृद्धिसे नहीं किन्तु श्रमिक की वास्तविक आयमें वृद्धिसे है और यह कई प्रकारसे की जासक्ती है केवल मौद्रिक मजूरीमें वृद्धि करदेनेसे नहीं। मौद्रिक मजूरी पूर्ववत रहने देकर भी श्रमजीवीके लिए अधिक अवकाश श्रेष्ठ आहार तथा निवासस्थान उत्तम शिक्षा और इसीप्रकारकी अन्य सुविधाओंका जो उसकी कार्य क्षमता बढ़ानेमें सहायता दें प्रबन्ध करदेनेका अथवा उस आयमें वृद्धि करदेना ही होगा।

इस स्थानपर हम यह बतला देना आवश्यक समझते हैं कि पूर्तिकी दृष्टिसे मजूरी स्थिर उस समय उच्चतम होनेकी सम्भावना है जबकि किसी विशेष समय पर श्रमकी पूर्ति केवल उतनीहो जितनी उस समय उपलब्ध उत्पादनके अन्य साधनोंसे अधिकतम उत्पत्ति प्राप्त करनेके लिए आवश्यक है। जबतक श्रमकी पूर्ति इस मात्रासे कम होगी तो उसकी मात्रामें वृद्धि होनेपर भी मजूरीकी वृद्धि होनेकी सम्भावना है।

जीवन-स्तर और मजूरी

जीवन स्तर और मजूरीमें परस्पर कार्य कारणके सम्बन्धको सभी अर्थशास्त्री स्वीकार करते हैं परन्तु इनमेंसे कौनसा कार्य और कौनसा कारण है उसपर मतैक्य नहीं। हम देखही चुके हैं कि जीवन स्तर को कार्यकुशलता का कारण भी माना जासकता है और फल भी। इसकारण मजूरी जो उत्पादन शक्तिपर निर्भर रहती है, किसी समयपर जीवन स्तर का फल होसकती है और किसी अन्य समयपर

कारण। व्यवहारमें भी देखनेमें आताहै कि कई व्यवसायोंमें मजूरी इसकारण अधिक होतीहै कि उनमें काम करनेवाले श्रमजीवियों का जीवन-स्तर और फलस्वरूप कार्यक्षमता अधिक है। परन्तु अन्य व्यवसायोंमें विशेषकर सार्वजनिक पदाधिकारियों को मजूरी इसलिए अधिक दी जाती है कि उनका जीवन-स्तर उच्च हो। परन्तु वे विद्वान भी जो जीवन-स्तरको उत्पादन शक्ति फलत: मजूरीका फल मानते हैं, स्वीकार करतेहैं कि दीर्घकालमें जीवन-स्तर जनसंख्या पर प्रभाव डालकर श्रमकी पूर्तिमें परिवर्तनों द्वारा मजूरीके न्यूनाधिक होनेका कारण होसकता है। यदि जीवन-स्तरको सुरक्षित रखनेके लिए श्रमजीवी सन्तति निरोध आदि उपायोंसे श्रमकी पूर्तिमें न्यूनता उत्पन्न करनेमें सफल होसके तो श्रमद्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण मजूरीमें भी वृद्धि होसकती है। पाश्चात्य देशोंके श्रमजीवियों ने कुटुम्बको सीमित रखकर जीवन-स्तर पतनकी प्रवृत्तिको रोकनेका प्रयत्न किया है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा और मजूरी

उपरिलिखित सिद्धान्तोंकी केवल पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें क्रियान्विति सम्भवहै परन्तु श्रम-बाजारमें इस स्थितिका प्राप्ति करनेके पथमें अनेक बाधाएं हैं। सबसे पहिले गतिशीलताको ही लेलीजिए। श्रमजीवीको एकस्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिए, विशेषत: विवाहित श्रमजीवीको, प्राय: उसकी मजूरीमें आशातीत वृद्धिका प्रलोभनभी उद्यत करनेमें असमर्थ सिद्ध होता है। यातायातके साधनोंमें आश्चर्य-जनक उन्नतिके कारण गतिशीलता बढ़नेपर भी प्रतिस्पर्धाकी मजूरी समीकरण शक्ति पूर्णतया कार्य नहीं करपाती, एक व्यवसायको छोड़कर दूसरेको अपनाना तो और भी कठिन है। इसीकारण केरनेस ने अप्रतिस्पर्धी यूथोंके सिद्धान्तकी रचना की थी। उसके मतानुसार उत्पादक वर्गको इसप्रकार यूथोंमें विभाजित किया जासकता है कि प्रत्येक यूथके सदस्योंमें परस्पर तो प्रतिस्पर्धा सम्भवहै परन्तु एक यूथ की दूसरे यूथसे नहीं। सत्यभी है कि अशिक्षित श्रमजीवीकी शिक्षित श्रमजीवीसे तभी प्रतिस्पर्धा होसकती है जब वह स्वयं शिक्षित होजाय। परन्तु शिक्षा प्राप्त करनेकी सुविधाएं बढ़ जानेपर भी यह कार्य इतना सहज नहीं।

एकही यूथके सदस्योंमें भी कार्यकौशल का एकसा ही होना सम्भव नहीं। कुछ

सदस्य दूसराम अधिक कुशल होंगे। यदि सबको एकसी मजूरी दीजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवियोंको उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी मिलेगी और कम कुशल श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे अधिक। अधिक कुशल लोग व्यवस्थापककी धमकी देकर अपनी मजूरी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करवा लेंगे और कम कुशल लोगोंको व्यवस्थापक उत्पृष्टिका भय देकर मजूरी उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यके सम करदेगा और इसप्रकार एकही यूथके सदस्योंकी भिन्न भिन्न मजूरी होगी। इस भिन्नताकी व्याख्या अर्थशास्त्रियोंने इस प्रकार की है कि प्रतिस्पर्धाके कारण अकुशलतम श्रमजीवियो को तो एकसी मजूरी मिलती है। यदि इस मजूरीको प्रमाण मान लियाजाय तो अधिक कुशल श्रमजीवी अपनी अपनी कुशलताके अनुसार मजूरी प्राप्त करपाते हैं अथवा प्रतिस्पर्धा द्वारा समकुशल श्रमजीवियो की मजूरी एकसी होनेके अतिरिक्त उनका कुशलताके अनुसार वर्गीकरणभी होजाता है। या तो फिर एकही यूथके सदस्यामें क्या असम्बन्धित श्रम करनेवालोंमें परस्परमें प्रतिस्पर्धा विद्यमानहो सकती है! क्योंकि व्यवस्थापक भी तो निश्चिन्त नहीं करपाते कि उन्हें इसप्रकार का श्रम करनेवाले एक और श्रमजीवीकी नियुक्ति करनी चाहिए अथवा उसप्रकार का श्रम करनेवाले की। व्यवस्थापकों तथा श्रमजीवियोंमें संगठनके कारणभी श्रमबाजारमें पूर्ण प्रतिस्पर्धा कार्यशील नहीं हापाती। व्यवस्थापक लोग व्यवस्थापक सघोंको स्थापित करके श्रमजीवियों को उनके द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देनेका प्रयत्न करते हैं और यदि श्रमजीवी इस मजूरीपर काम करना स्वीकार न करके मजूरी बढानेके लिए आग्रह करें तो व्यवस्थापक सघ हड़ताल की घोषणा करदेते हैं। व्यवस्थापकोंके पास तो बेकारी सहन करनेके लिए पर्याप्त मात्रामें पूंजी होती है परन्तु श्रमजीवियोंको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। उन्हें अन्तमें व्यवस्थापकोंके आगे झुकनाही पडता है। उनके इस दौर्बल्यको दूर करनेके लिए श्रमजीवियोंको श्रमजीवी सघों द्वारा संगठित करनेका प्रयत्न कियागया है। यदि व्यवस्थापक सघ श्रमजीवियोंको उनकी सीमान्त उत्पत्तिके मूल्यसे कम मजूरी देना निश्चित करते हैं तो श्रमजीवी सघ हड़तालकी घोषणा करदेते हैं। मजूरी इसकारण व्यवस्थापक और श्रमजीवी सघोंके तुलनात्मक सघर्ष निर्धारित होती है, पूर्ण प्रतिस्पर्धासे नहीं। श्रमजीवी सघ अपने व्यवसायमें नये लोगोंके प्रवेशपर प्रतिबन्ध लगाकरभी पूर्ण

प्रतिस्पर्धाके कारण होनेवाले पूर्ति परिवर्तनो-का नियन्त्रण करनेमें सफलता प्राप्त करलेते हैं। सुशिक्षित और विशिष्ट श्रमजीवियोंके सघ विशेष रूपसे शक्तिशाली होते हैं।

इस स्थानपर यह कहदेना आवश्यक होगा कि व्यवस्थापक और श्रमजीवी सघों की सहायतासे प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी-स्तरसे कम अथवा अधिक मजूरी देने लेनेकी शक्ति सीमित हैं। मान लीजिए कि व्यवस्थापक सघ अपने उद्देश्यकी पूर्ति करनेमें सफल होजाते हैं। मजूरी प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित स्तरसे कम होनेके कारण व्यवस्थापकों को अधिक लाभ प्राप्त होगा। नये व्यवस्थापक नयी सस्थाओ को स्थापित करदेंगे और श्रमकी मागमें वृद्धि होनेसे मजूरी फिर बढजायेगी। यदि श्रमजीवी सघ प्रतिस्पर्धा द्वारा निश्चित मजूरी स्तरसे अधिक मजूरी प्राप्त करलेते हैं तो व्यवस्थापकोंके लाभमें कमी होगी। इस कमीसे बचनेके लिए उनके पास तीन प्रतिकार हैं। पहिलातो यह कि वे श्रमके स्थानपर पूजीकी प्रतिस्थापना करनेकी चेष्टा करेंगे। श्रमकी मागमें कमी होनेके कारण मजूरी कम होजायेगी अथवा लाभ में कमी आनेसे बहुतसे व्यवस्थापक अधिक लाभप्रद धन्धोंमें पूजीका परिवर्तन कर लेंगे। इसकारण भी श्रमकी मागमें कमी होगी। ऐसाभी होसकता है कि व्यवस्थापक उत्पन्न वस्तुके मूल्यमें वृद्धि करके उच्च मजूरीके भारको उपभोक्ताओंके कन्धो पर डालनेका प्रयत्न करें, परन्तु यह तभी सम्भवहै जब वस्तु विशेषकी माग लोच-रहित हो अन्यथा उच्च मजूरीके कारण श्रमजीवियोंको बेकारीमें वृद्धि होनेकी ही सम्भावना है। इसकारण सरकार द्वारा निश्चित न्यूनतम मजूरी श्रमजीवियोंका हित करनेके स्थान हानिकर होसकती है। वे श्रमजीवी जिनकी सीमान्त उत्पत्तिकी मात्राका मूल्य इसप्रकार निश्चित न्यूनतम मजूरीसे कमहै, उत्सृष्ट करदिये जायेंगे और सदैवके लिए बेकार रहेंगे। परन्तु न्यूनतम मजूरी प्राय: स्वेदपूर्ण श्रम लेनेवाले उद्योग-धन्धोंमें काम करनेवालोंके लिएही निश्चित कीजाती है। ऐसे उद्योग धन्धों द्वारा निर्मित वस्तुओंके मूल्यमें वृद्धि करना प्राय: सम्भव होता है। इसकारण व्यवस्थापक मजूरीमें वृद्धिका बोझ उन वस्तुओंका उपभोग करनेवालोंके कन्धोंपर डालनेमें सफल होपाते हैं। इसके अतिरिक्त यदि मजूरी श्रमजीवियोंके शारीरिक अथवा मानसिक स्वास्थ्यको उपयुक्त स्तरपर स्थित रखनेके लिए पर्याप्त न हो तो उसमें वृद्धिके कारण उत्पादन-शक्तिमें वृद्धि होनेसे वास्तविक उत्पादन-व्ययमें कमी हो

सकतीहै और यदि व्यवस्थापक असामान्य लाभ उठाकर श्रमजीवियोंका शोषण कर रहा तो भी मजूरी अधिक करदेने पर उनके द्वारा प्राप्त श्रमकी मागमें कमी होनेकी सम्भावना नहीं है।

नये आविष्कार और मजूरी

नये नये आविष्कारा द्वारा उत्पादन विधिमें हानवाले परिवतनाका मजूरीपर मिश्रित सा प्रभाव पडता है। आविष्कृत यन्त्र या तो श्रमकी बचत करनवाले होतेहै या पूजी की। श्रमकी बचत करनेवाल यन्त्राके प्रचलित होनेसे प्राप्त श्रमकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है और पूजीकी बचत करनवाले यन्त्राके प्रचलित होनेसे पूजीकी मात्रा आवश्यकतासे अधिक होजाती है। पहिली अवस्थामें मजूरी कम होगी और दूसरीमें ब्याज। अधिकतर यन्त्र,श्रम और पूजी दोनोंकी बचत करते है। मजूरीपर उन यन्त्रोकी प्रतिक्रिया प्रतिकूल होगी जो पूजीसे श्रमकी अधिक बचत करतेहो। दीर्घकालमें आर्थिक प्रगति श्रमजीवियाकी वास्तविक मजूरीमें वृद्धिका ही कारण होगी, क्याकि अधिक उत्पादनकारी यन्त्रोंके आविष्कृत होनेपर राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी और इसकारण श्रमजीवियोको मिलनेवाल राष्ट्रीय आयके भागमें निरपेक्ष रूपमें तो अवश्य ही वृद्धि होगी। सापेक्ष रूपमें उनका भाग पहिलेसे भी कम होसकता है क्योकि यदि उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिका अधिकाश पूजीपति ही हडप करलें तो श्रमजीवियोंको थोडाही अश प्राप्त होगा।

मजूरी-भुगतान

मजूरीका भुगतान दो प्रकारसे कियाजाता है। एकतो समयके अनुसार और दूसरे उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार। पहिली अवस्थामें श्रमजीवीको प्रतिघटे अथवा प्रतिदिनके श्रमकी निश्चित मजूरी दीजाती है और दूसरी अवस्थामें एक ऐसे श्रमजीवी को मजूरी जो न अत्यन्त कुशल हो न अत्यन्त अकुशल, उसके द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राकी सहायतासे निश्चित करली जातीहै और उसे प्रामाणिक मानकर अधिक उत्पादन करनेवालो को अधिक और न्यून उत्पादन करनेवालो को कम मजूरी दी

जाती है। भुगतानके इन दोनो ढगोको एकत्रितभी किया जासकता है। न्यूनतम मजूरी तो समयके अनुसार निश्चित की जासकती है और फिर उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी पूरकके रूपमें दी जासकती है। कभी कभी श्रमजीवियों को प्राप्त लाभका कुछ भाग बाट दियाजाता है। यह सब ढग श्रमजीवियोको प्रोत्साहन देने के हैं। श्रमजीवियोको उत्पत्तिकी मात्राके अनुसार मजूरी भुगतानका ढग प्रायः प्रिय नही होता, क्योकि उनके मतानुसार व्यवस्थापक उन्हें अधिक मजूरी कमाने कर प्रामाणिक मजूरी कम करदते है।

हड़ताल अथवा द्वारतालसे होनेवाली हानिको रोकनेके लिए श्रमजीविया और पूजीपतियाके आपसी झगडोको निपटानका कार्य सौमनस्य स्थापन सभाओ और पचोको सौपा जाता है। पचनिर्णय उसी दशामें सफल होसकता है जबकि पच स्वय दोनो दलोके विश्वासका पात्र हो।

२०

ब्याज और उसके सिद्धान्त

शुद्ध तथा मिश्रित ब्याज

पाश्चात्य देशोंमें जब औद्योगिक क्रान्ति हुई तो उद्योगधन्धोंके व्यवस्थापक तथा प्रबन्धक प्रायः पूजीपतिही थे। इसकारण तत्कालीन अर्थशास्त्रियों ने ब्याज और लाभको एकही समभकर लाभको पूजीसे सम्बन्धित करनाही उचित समझा। परन्तु सन् १८५० में सीमित दायित्व विधानके पास होने के अनन्तर संयुक्त पूजी कम्पनियों का प्रादुर्भाव हुआ और पूजी उधार लेकर उद्योगधन्धोंको स्थापित करना अथवा व्यापार चलाना सम्भव होगया। पहिले व्यवस्थापक अथवा उद्योगपतिका पूजीपति होना आवश्यक था। अब वह पूजी ऋणके रूपमें प्राप्तकर अपना कार्य चला सकता था। इसकारण ब्याज और लाभमें भेद करनेकी आवश्यकता हुई। शुद्ध ब्याजका तात्पर्य उस भुगतानसे है, जो उद्योगपति द्वारा पूजीको उत्पादनके साधनके रूपमें सेवा प्राप्त करनेके लिए पूजीपतिको दियाजाता है। वास्तवमें पूजीपतिको किये जानेवाले भुगतानमें शुद्ध ब्याजके अतिरिक्त उसके द्वारा प्राप्त कई अन्य सेवाओंके परितोषणका अंश भी सम्मिलित होता है। पूजी ऋणपर देनेके लिए ऋणदाताको कई प्रकारके कष्ट तथा आपत्तियां उठानी पडती है। ऋणका हिसाब किताब रखनेके लिए बहीखाते रखने पडते है। दियेहुए ऋणकी उद्योग धन्धेके सफल न होनेपर अथवा ऋणीके छलकपट के कारणभी न मिल सकनेकी सम्भावना रहती है। इन सब कारणोंसे मिश्रित ब्याजकी दर बहुत अधिक होनेपर ऐसाभी होसकता है कि शुद्ध ब्याजकी दर बहुत अधिक न हो। ऋणदाता इसप्रकार की आपत्तियोंसे अपने आपको बीमा कम्पनियों द्वारा सुरक्षित करसकते हैं; परन्तु बीमा कम्पनियोंको दिया जानेवाला अधिक शुल्क शुद्ध ब्याजमें सम्मिलित करना आवश्यक होजाता है। यही कारण है कि उस ऋणके ब्याजकी दरमें जिसमें कि परिश्रम आपत्ति इत्यादिके अंश सम्मि-

लित होते हैं, भिन्न भिन्न स्थानोपर ही नही परन्तु एकही स्थानपर भिन्न भिन्न व्यवसायो और भिन्न भिन्न पुरुषोके लिए उनकी जोखिम तथा साखके अनुसार भिन्नता होती है। परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अशको निकाल देनेके बाद शुद्ध ब्याजका पूर्ण प्रतिस्पर्द्धाकी दशामें एकही बाजारमें एकही होना न्याययुक्त है। कठिनता यहहै कि परिश्रम और जोखिमके लिए प्राप्त अशका पृथक करना इतना सरल नही, जितना कि प्रतीत होता है।

ब्याज की दर

समय समय पर शुद्ध ब्याजकी दरमें भी माग तथा पूर्तिमें परिवर्तनोके कारण परिवर्तन होते रहते है। अल्पकालमें इस दरमें परिवर्तन ऋण लेनेवाले व्यवस्थापक इत्यादि लोगोकी आवश्यकताओ और ऋण देनेवाले बैको इत्यादिके सामर्थ्यमें दिन प्रतिदिनके परिवर्तनो पर निर्भर रहते है। परन्तु दीर्घकालमें इनका सम्बन्ध उद्योग धन्धो द्वारा माग और वास्तविक बचतकी पूर्तिसे होता है। मागमें वृद्धि, जनसख्या में वृद्धि होनेके कारणभी होसकती है और पूर्तिमें वृद्धि जनसख्या की चिरकाल तक जीवित रहनेकी आशामें वृद्धि होनेके कारण भी। क्योकि इस दशामें लोग भविष्यके लिए अधिक बचत करनाही उचित समझेंगे। ऐसाभी विचार प्रकट किया जाताहै कि दीर्घकालमें शुद्ध ब्याजकी दरकी गिरनेकी ओरही प्रवृत्तिहै क्योकि पूजी की पूर्तिमें उसकी मागसे अधिक वृद्धि होती रहती है। प्राचीन अर्थशास्त्रियोकी भविष्यवाणीके अनुसार यद्यपि इस प्रवृत्तिका युद्ध तथा व्यापारकी मन्दी इत्यादिसे निरोध होताहै, फिरभी एकसमय ऐसा आनेवाला है जबकि शुद्ध ब्याजकी दर न्यूनतम होजायेगी। यो तो शुद्ध ब्याजके दरका शून्यावस्थाको प्राप्त करनाभी असम्भव नही यदि प्रत्येक व्यक्ति बचत करनेकी ही ठानले और लोगोकी आवश्यकताओमें उस वेगसे वृद्धि न हो जिससे कि पूजीमें, तो होसकता है कि उद्योगपति बिना ब्याजकी पूजीभी स्वीकार करनेसे इन्कार करदें परन्तु व्यवहारमें कभी ऐसा हुआ नही। न्यून दरके कारण बचतकी मात्रामें कमी होजाती है और माग बढने लगती है। पूजीका बाहुल्य होनेपर लोग इसके लिए अधिक उत्पत्तिप्रद प्रयोग निकाल लेते है। नये नये आविष्कारो द्वारा होनेवाले उत्पादन-विधिके परिवर्तनो

द्वारा ब्याजकी दरपर प्रभाव पडताहै इन आविष्कारोके प्रयोगके लिए अधिक पूजी की आवश्यकता पडती है। इसकारण पूजीकी मागमें वृद्धि होनेसे ब्याजकी दरमें भी वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु नवीनताओ का प्रयुक्त कियाजाना उसी दशामें सम्भवहै, जबकि उनसे अधिक उत्पत्ति प्राप्त होनेकी आशाहो। दीर्घ कालमें उत्पत्तिमें वृद्धि होनेके कारण लोगोकी पूजी सचय करनेकी शक्ति बढती है और फलस्वरूप उसकी पूर्तिमें मागसे अधिक वृद्धि होती है। इसलिए होसकताहै कि अन्तमें उत्पादन विधिमें उन्नति ब्याजकी दरके गिरनेका कारण बने।

ब्याजकी दरका हमारे आर्थिक अथवा सामाजिक जीवनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। हम देखचुके है कि हमारा भौतिक कल्याण हमारी राष्ट्रीय आय तथा हमारी उत्पत्ति की मात्रापर निर्भर है। ब्याजकी दर कम होनेसे उद्योगपतियो को उत्पादन कार्यमें अधिकाधिक पूजीका प्रयोग करनेकी प्रेरणा मिलती है और पूजीका अधिक प्रयोग होनेके कारण उत्पत्तिकी मात्रामें भी वृद्धि होती है। उत्पादक पुरानी उत्पादन विधियोको तिलाञ्जलि देकर नयी नयी उत्पादन विधियोको अपनाते है। इसके अतिरिक्त पुरानी सस्थाओकी उत्पत्ति बढनेके साथ साथ नयी सस्थाएभी स्थापित होने लगती है। ब्याजभी वस्तुओके उत्पादन-व्ययका एक अश है। इसमें कमी होने से उत्पादन-व्ययमें कमी होतीहै और उत्पादन-व्ययमें कमी होनेसे वस्तुओके मूल्यमें कमी। फलस्वरूप उनकी माग बढतीहै और उसे पूरा करनेके लिए नयी सस्थाओका स्थापित करना अनिवार्य होजाता है। हम भलीप्रकार जानतेहै कि उद्योग धन्धोमें काम करनेवाले श्रमजीवियोको ऐसी बस्तियोमें रहना पडताहै जो मनुष्य तो मनुष्य पशुओके भी रहनेके योग्य नही। ब्याजकी दर गिरनेसे उनके लिए अच्छे मकान बनाये जानेकी सम्भावना है। जहातक राष्ट्रीय आयके वितरणका सम्बन्धहै, ब्याज की दरके अधिक होनेसे राष्ट्रीय आयका अधिकाश पूजीपतियोको प्राप्त होताहै परन्तु इसके न्यून होनेसे श्रमिकोको। क्योकि प्राय ऐसा देखनेमें आताहै कि जिन कारणोसे ब्याजकी दरमें वृद्धि होतीहै उन्ही कारणोसे श्रमजीवियोकी जीविकामें ह्रास होता है। इसकारण ब्याजकी दर बढनेपर राष्ट्रीय सम्पत्तिका अन्यायपूर्ण वितरण होनेकी सम्भावना है।

शुद्ध ब्याजकी सामान्य दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै इसकेलिए आजतक विभिन्न सिद्धान्त निर्मित किये जाचुके है। हम देखचुके है कि शुद्ध ब्याज पूजीका

मूल्यहै और अन्य मूल्योंकी भांति पूजीकी माग और पूर्तिके सन्तुलनसे निर्धारित होता है। प्रस्तुत सिद्धान्तोंमें से कुछ मागको महत्त्व प्रदान करते है और कुछ पूर्ति को।

पूंजी की उत्पादनशीलता और ब्याज

शुद्ध ब्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूजीकी सहायतासे श्रमकी उत्पादन शक्ति में यन्त्र उपकरण इत्यादि उत्पादन सामग्रीद्वारा वृद्धि होतीहै क्योंकि इन उपकरणो की सहायतासे श्रमिक द्वारा प्राप्त उत्पत्तिकी मात्रा उस समयसे अधिक होतीहै जब कि उसे यह उपकरण अलभ्य थे। कार्ल मेंगर ने उत्पादन कार्यमें प्राप्त पूजीको सेवोंओंका औरभी गम्भीर विश्लेषण किया है। उनका कथनहै कि अन्तमें उपभोग कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए कच्ची सामग्रीको कई एक मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से होकर जाना पडता है। उदाहरणके लिए कपासको ही लेलीजिए। पहिले इसे कातकर सूत बनाया जाताहै, फिर सूतसे कपडा और अन्तमें कपडेसे वस्त्र जिनका उपभोग कियाजाता है, पूजीकी सहायतासे उत्पादक लोग इन मध्यवर्ती वस्तुओंको उत्पन्न करनेके लिए लगनेवाले समयकी अवधि तक उनको उत्पन्न करनेके लिए श्रमिकोंको प्रयुक्त करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करतेहै और शुद्ध ब्याज पूजी से प्राप्त इस सेवाका शुल्क रूप है। बाहमबावर्क ने भी ब्याज दिये जानेके कारण बतलाते हुए मेंगर का समर्थन किया है। उनका मतहै कि पूजीकी सहायता लेकर किसी वस्तुको मध्यवर्ती अवस्थाओंमें से निकालकर उत्पन्न करनेसे उस वस्तुकी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होजाती है। इन सिद्धान्तोंकी विशेषता यहहै कि ये उत्पादन कार्यमें समयके अशका भी समावेश करदेते है। पूजीकी सहायतासे वस्तुओंके उत्पादनको विलम्बित किया जासकता है और श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण द्वारा कुल उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि की जासकतीहै और यही वृद्धि ब्याजका आधार है। यदि ब्याजका कारण पूजीसे प्राप्त उत्पत्तिकी मात्राको मान लियाजाय तो ब्याजका माप पूजीके सीमान्त प्रयोगसे प्राप्त उत्पत्ति होगी। इस प्रकार इन सिद्धान्तोंको ब्याजका सीमान्त उत्पत्ति सिद्धान्त कहना अनुचित न होगा। अत: इनमें वही गुण और दोष विद्यमान है, जिनका विवेचन हम अन्य स्थानपर करचुके है।

उपभोग-व्याक्षेप, बट्टा और व्याज

पूर्तिकी दृष्टिसे व्याजका उपभोग-व्याक्षेप तथा बट्टा सिद्धान्त प्रसिद्ध है। सीनियरका मतथा कि व्याज पूजीपतिको उपभोग-व्याक्षेप द्वारा उपभोगकी तृष्णा तृप्त न करनेके प्रयत्नका पुरस्कार मात्र है। उपभोग-व्याक्षेप द्वारा बचत करनेके लिए पूजीपतिको कष्ट महन करना पडताहै जिसकेलिए उसको व्याजका प्रलोभन दियाजाना आवश्यक है। सीनियरसे पहिले मिल इत्यादिने उपभाग-व्याक्षेप करनेके लिए कियेगये प्रयत्न को श्रम मानकर इसी सिद्धान्तको श्रम सिद्धान्त का नाम दिया था। उपभोग-व्याक्षेप में कष्टका समावेश होनेके कारण यह आलोचनाकी जानेलगी कि इस शब्दका प्रयोग उचित नही; क्योकि बचतका अधिकाश ऐसे धनीलोगो द्वारा कियाजाता है जो अपनी आयको उपभोग्य सामग्री पर खर्च करही नहीं पाते और इसकारण उन्हें बचत करनेके लिए तनिकभी कष्ट नहीं उठाना पडता। मार्शलने उपभोग-व्याक्षेपके स्थान पर प्रतीक्षा शब्दको और कैनन ने सचय को प्रयुक्त करनेकी सम्मतिदी है। वाहम बावर्कके बट्टा सिद्धान्तका सकेत वर्तमानकाल और भविष्यकाल में परस्पर बट्टेसे है। मनोवैज्ञानिको का कथनहै कि प्रत्येक प्राणी किसी वस्तुका वर्तमानमें ही उसके पास होना उस वस्तुके भविष्यमें उसे मिलनेसे अधिक श्रेयस्कर समझताहै क्योकि मनुष्य स्वभावत: वर्तमानमें उपभोगको भविष्यमें उपभोगसे वरीयता देता है। पूजीपति वे लोगहै जिनके पास वर्तमानमें बेचनेके लिए वस्तुएहै क्योकि उन्हें उनकी वर्तमानमें आवश्यकता नही है। मानलीजिए उन वस्तुओ का वर्तमानमें मौद्रिक मूल्य १०५ रुपये और वर्ष भरके अनन्तर भविष्यमें केवल १०० रुपये अनुमान कियाजाता है। उस पूजीपतिको ऐसेभी मनुष्य मिल जायगे जिन्हें उन वस्तुओकी वर्तमानमें ही आवश्यकताहै और जो साल भरके अनन्तर १०५ रुपये देनेका वचन देकर उन वस्तुओको प्रसन्नता से वर्तमानमें ही ग्रहण करलेंगे पूजीपति को भी देनेमें बाधा न होगी क्योकि जिन वस्तुओके मूल्य वह सालभरके अनन्तर १०० रुपये अनुमान करता है उसके उसे १०५ रुपये दियेजाने का वचन दिया जारहा है। अथवा इसप्रकार कह लीजिए कि वर्ष भरके अनन्तर भविष्य उसके लिए वर्तमान होजायेगा परन्तु तबभी देनेमें उसकी हानि नहीं क्योकि वर्तमानमें भी तो उसके लिए उन वस्तुओ का मूल्य १०५ रुपये ही है।

इस सिद्धान्तकी इसप्रकार भी व्याख्या की जासकती है। वर्तमानमें पूजीपति से १०० रुपये लेनेके लिए हमें साल भरके अनन्तर उसे १०० रुपयेसे अधिक लौटा देनेका वचन देना होगा क्योकि इस सिद्धान्तके अनुसार हाथमें १०० रुपये भविष्यमें मिलनेवाले १०० रुपयोसे अधिक मूल्यवान हैं। उसके अनुमानसे वर्तमानके ९५ रुपये भविष्यके १०० रुपयोंके समहो तो ऋण लेनेवालेको ९५ रुपये लेकरही भविष्यमें १०० रुपये देनेका वचन देना होगा अन्यथा पूजीपति ऋण देनेके लिए उद्यत न होगा।

वाहमबावर्क के सिद्धान्तसे मिलता जुलता फिशरका समयवरीयता सिद्धान्त है। इसके अनुसार ससारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते हैं। एक तो वे जो वृद्धावस्थामें पारिवारिक उत्तरदायित्व बढने तथा उपार्जन शक्तिमें ह्रास होनेके कारण भविष्य में मिलनेवाली आयको अधिक वाछनीय समझते हैं। ऋणो की पूर्ति और उनका पूर्तिमूल्य इन लोगोकी समयवरीयतासे निर्धारित होगा। कुछ ऐसेभी लोग होगे जो भविष्यमें अपनी आयको बढानेके लिए अथवा अपनी सस्थाओ इत्यादि को विस्तृत करनेके लिए वर्तमानमें ऋण लेनेके इच्छुक होगें। येलोग ऋणोकी माग और उनका मागमूल्य निर्धारित करते हैं।

इसप्रकार पूर्तिकी ओरसे ब्याजकी दर लोगोंकी सचय करनेकी इच्छा तथा शक्ति पर निर्भर है। जितनीही लोगोमें यह इच्छा तथा शक्ति प्रबल होगी, उतनीही उस ब्याजकी दरभी कम होगी जो लोगो को बचत करनेका प्रलोभन देनेके लिए आवश्यक होगी। दर उतनी होनी चाहिए जो सीमान्त बचत करनेवाले को प्रलोभन देनेके लिए पर्याप्त हो।

मागकी ओरसे यह दर पूजीकी उत्पादनशक्ति पर निर्भर है। उत्पादक लोग अन्य साधनोके स्थानपर पूजीकी प्रतिस्थापना उस समय तक करते रहते है, जबतक कि पूजीकी सीमान्त उत्पत्ति अन्य साधनोंकी सीमान्त उत्पत्तिके सम नही हो जाती। परन्तु पूजीका अधिकाधिक प्रयोग होनेके कारण उसकी सीमान्त उत्पत्ति में ह्रास होता चला जाताहै और इसकारण ब्याजकी दर उतनी होना आवश्यक है —जो सीमान्त लेनेवालेको पूजीके न्यूनतम उत्पत्ति करनेवाले भागको ऋणके रूपमें लेनेका प्रलोभन दे सके। सन्तुलन उस दरपर स्थापित होजाता है जिसपर कि पूजी की माग और पूर्ति दोनो सम होजाती हैं।

ब्याज और द्रव्य-वरीयता

कीन्स के मतानुसार ब्याजकी दर एक शुद्ध द्रव्यात्मक घटनाहै और द्रव्यकी पूर्ति और मागसे निर्धारित होती है। द्रव्यकी पूर्तिसे उसका तात्पर्य द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रासे है जिसमें सरकारी द्रव्यके अतिरिक्त बैंकोंका साख द्रव्यभी सम्मिलित है। द्रव्यकी माग जन-समुदायके उस स्वभावसे निश्चित होतीहै जिसे उन्होने द्रव्य-वरीयताका नाम दिया है। प्रत्येक प्राणी अपनी सम्पत्तिके कुछ अशको यातो द्रव्यके रूपमें रखनेका इच्छुक होताहै या कमसे कम इस रूपमें कि वह स्वेच्छानुसार तुरन्तही उसे द्रव्यके रूपमें परिणत कर सके, इसके उसने चार कारण बताये है

(१) आय—उद्देश्य, प्राय. मनुष्यकी आय तो निश्चित तिथियोपर प्राप्त होती है परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन करना पडता है। इसकारण कुछ द्रव्य सदैव उसे अपने पास रखना पडता है। (२) व्यापार—उद्देश्य, व्यापार में द्रव्यका व्यय तो पहिले करना पडताहै और प्राप्ति शनै शनै विक्री होनेके अनन्तर होती रहती है। इस कारण व्यापारी लोगोंको कुछ सम्पत्ति द्रव्यके रूपमें रखना आवश्यक होजाता है। (३) पूर्वावधारणा—उद्देश्य, कई व्यय अकस्मात् करने पडजाते हैं। कभी कभी व्यापारी लोगोंको अकस्मात् लाभ प्राप्त करनेके अवसर मिलजाते हैं। द्रव्यका अभाव होनेपर ऐसे अवसरोपर हानिकी सम्भावना रहा करती है। (४) सट्टेका उद्देश्य—सट्टा करनेके लिए भी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिका रखना अनिवार्य सा ही है।

इन उद्देश्योकी शक्ति आयकी मात्रा परही निर्भर नही वरन् इस बातपर भी निर्भर है कि वह आय कितने कितने समयके अनन्तर प्राप्त होती है। आर्थिक व्यवस्थाकी प्रगति मन्दी अथवा चढाईकी ओर होनेका भी इस शक्तिसे घनिष्ट सम्बन्ध है।

कीन्सके मतानुसार ब्याजकी दर पूजीका वह मौद्रिक मूल्य नहीहै जो पूजीकी उत्पादन-शक्ति द्वारा निर्धारित माग और उपभोग-व्याक्षेप द्वारा कृत बचत अर्थात् पूर्तिमें सन्तुलन स्थापित करताहै परन्तु वह मौद्रिक मूल्यहै जो सन्तुलन तो स्थापित करता है परन्तु यह सन्तुलन लोगोंकी द्रव्यके रूपमें सम्पत्तिको अपने आधीन रखनेकी इच्छाके कारण द्रव्यकी माग और द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रामें होता है। इसका अर्थ

यह हुआ कि यदि ब्याजकी दर कम होजाये तो लोगोको अपनी सम्पत्तिका द्रव्यके रूप में रखनेकी इच्छा को पूरा करनेके लिए कम हानि उठानी पडेगी। अथवा सम्पत्ति को द्रव्यके रूपमें न रखकर उद्योगपतियोको ऋण पर देनेसे अपनी इच्छा को दबाने के लिए उन्हें ब्याजके रूपमें कम पुरस्कार मिलेगा। इसकारण वे द्रव्यके रूपमें अपनी सम्पत्ति रखना उचित समझेंगे। फलत: द्रव्यकी माग द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा से अधिक होगी। इसके विपरीत यदि ब्याजकी दर बढजाय तो उपलब्ध द्रव्यकी कुछ मात्रा ऐसी शेष रहेगी जो कोईभी अपने पास द्रव्यके ही रूपमें रखनेके लिए उद्यत न होगा। इससे स्पष्टहै कि कीन्सके अनुसार द्रव्यकी कुल उपलब्ध मात्रा द्रव्यकी पूर्तिहै और सम्पत्तिकी वह मात्रा जोलोग द्रव्यके रूपमें रखनेके इच्छुक हो, द्रव्यकीमागहै और इन दोनोमें ब्याजकी दरसे सन्तुलन स्थापित होता है।

ब्याज और पूंजी की उत्पादनशीलता

इस स्थानपर यह उल्लेख आवश्यक होगा कि कीन्सके सम्पत्तिको द्रव्यके रूपमें रखनेके पहिले उद्देश्यकी सहायतासे कीन्ससे पहिलेही वेकस्टीडने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कियाथा कि ब्याज प्राप्त करनेके लिए पूजीका उत्पादक होना आवश्यक नही है अर्थात् पूजी उत्पादन-शक्तिसे वंचितभी होती तोभी उसे ऋणपर देनेके लिए ब्याज प्राप्तही होता। इस ससारमें दो प्रकारके मनुष्य मिलते है। एकतो वे जिन्हें आय तो निश्चित समयपर प्राप्त होतीहै परन्तु व्यय दिन प्रतिदिन अथवा अनियमित ढगसे भिन्न भिन्न अवसरोपर करना पडता है। दूसरे वे जिनको जीवनभर अपने व्ययको चलानेकी सामग्री आरम्भसे ही द्रव्यके रूपमें लभ्य होती है। पहिले प्रकारके मनुष्योंको जीवनभर में उपार्जित आय जीवनभर किये जानेवाले व्ययके सम होसकती है परन्तु अल्पकालमें व्यय आयसे अधिकभी होसकता है। इसकारण अल्पकालमें उन्हें ऋण लेनेकी आवश्यकता रहती है। दूसरे प्रकारके मनुष्य जीवन भरकी आवश्यकताओंको सन्तुष्ट करनेके लिए वस्तुओंको तो खरीद नही सकते इस कारण उनके पास कुछ द्रव्य बेकारही पडा रहता है। पहिले प्रकारके मनुष्यो को ऋण लेनेमें लाभहै और दूसरे प्रकारके मनुष्योको ऋण देनेमें यदि लाभ नही तो कमसे कम हानिभी नही है। यही कारणहै कि प्राय: ऋण देनेवालो की देनेकी इच्छा

उतनी तीव्र नही होतीहै जितनी कि ऋण लेनेवालोकी लेनेकी इच्छा। इन दोनो इच्छाओंकी तीव्रताको सम करनेके लिए लेनेवाले देनेवालोको कुछ प्रलोभन देतेहैं। इसी प्रलोभनका नाम ब्याज है।

ब्याज इसलिए दियाजाता है क्योंकि पूजीकी माग पूजीकी पूर्ति से सदैव अधिक रहती है। ब्याज पूजीका मूल्य होनेके कारण उपलब्ध पूर्तिको क्रयशक्ति युक्त माग के सम करदेता है। पूर्तिकी तुलनात्मक न्यूनताके कारण पूजीका किसी विशेष उद्देश्यके लिए नियोग करनेसे उस पूजीका अन्य उद्देश्योंके लिए नियोग असम्भव हो जाता है। इसकारण ब्याज द्वारा यह निर्णय करनेमें सहायता मिलतीहै कि पूजीका किन उद्देश्योके लिए नियोग कियाजाना चाहिए। आर्थिक दृष्टिसे प्रतिस्पर्धी नियोगा में से वह नियोग श्रेष्ठतम समझा जायगा जिसमें पूजी लगानेसे अधिकतम लाभ प्राप्त होनेकी आशा हो। सामाजिक दृष्टिसे भी वह नियोग श्रेष्ठतमहै या नही यह निर्णय करना अर्थशास्त्रका नही वरन् समाजशास्त्र इत्यादि अन्य शास्त्रोंका विषय है।

२१

लाभ

शुद्ध और मिश्रित लाभ

उत्पादन कार्यको सुचारु रूपसे चलानेके लिए व्यवस्थापको अथवा उद्योगपतियो की आवश्यकता होती है। ये लोग अन्य उत्पादनके साधनाको एकत्रित करके उत्पादन कायमें संलग्न करते है। उत्पत्तिकी भविष्यमें होनेवाली मागका अनुमान लगाकर उसके आधारपर उत्पत्तिकी मात्रा निश्चित करते है। आर्थिक क्षेत्रमें अगुओका रूप धारण करके नित नयी उत्पादन-विधियोका प्रयोग करतेहै और नयी नयी वस्तुए उत्पन्न करते है। इन सब कारणासे उन्हें ऋणपर पूजी देनेवालोसे अधिक जोखिम उठानी पडतीहै जिसके पुरस्कारके रूपमें उन्हें लाभ प्राप्त होता है। अर्थ-शास्त्री शुद्ध लाभ और मिश्रित लाभमें भेद करते है। मिश्रित लाभमें शुद्ध लाभ के अतिरिक्त ब्याज तथा मजूरीके अशभी सम्मिलित होते है। कई एक उद्योगपति अपने उद्यममें निजी पूजीका भी प्रयोग करते है। इस पूजीको यदि वे ऋणमें देदेते तो उन्हें ब्याज प्राप्त होता। इसकारण उद्योगपतियोको प्राप्त कुल लाभमें से इस ब्याजकी मात्राको निकाल देना आवश्यक है। इसीप्रकार प्रत्येक उद्योगपतिको उद्यमके निरीक्षण आदिका कार्य करनाही पडता है। यदि उसका अपना उद्यम न होता तो वह प्रबन्धकके रूपमें इस कायके लिए वेतन पाता। इसकारण कुल प्राप्त लाभमें से उद्योगपतिको प्रबन्धकके रूपमें मिल सकनेवाले वेतनको भी निकाल देना चाहिए। शप बची हुई मात्रा उद्योगपतिके जोखिम उठाने तथा उद्योग-साहस करने का पुरस्कार है और उसे शुद्ध लाभ कहाजाता है।

लाभ का भूमि-कर सिद्धान्त

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकरका मतथा कि लाभकी मात्रा ठीक उसीप्रकार

निश्चित होतीहै जैसे भूमि-कर की। किसी विशेष उद्योग धन्धेमें होनेवाला उत्पादन-व्यय उस उद्योग धन्धेकी सीमान्त सस्थाके उत्पादन-व्ययसे निश्चित किया जाताहै और इस उत्पादन व्ययके सम मूल्यपर उत्पन्न वस्तु बाजारमें बिकती हैं क्योंकि सीमान्त सस्था सीमान्त भूमिके समान केवल अपने उत्पादन-व्ययको ही पूरा कर पाती है। सीमान्त सस्थासे ऊपरकी सस्थाओंकी उनके व्यवस्थापकोमें अधिक योग्यता के कारण उत्तम व्यवस्था होतीहै और उनके उत्पादन-व्यय प्रत्येक व्यवस्थापकके कार्यकौशलके अनुसार कम होते हैं। वे सीमान्त सस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित मूल्यपर भी वस्तु बचकर उत्पादनकी बचतके रूपमें लाभ प्राप्त करते हैं। अपने मतकी पुष्टिके लिए वाकरने एक ऐसे व्यवस्थापककी कल्पनाकी है जिसे तनिकभी लाभ प्राप्त न होता हो। ऐसे लोग व्यर्थही उत्पादन कार्यमें सलग्न होने का कष्ट लेते हैं। परन्तु उनकी सस्थाओंका आर्थिक दृष्टिसे महत्त्वहै क्योंकि उस उद्योग धधे द्वारा उत्पन्न वस्तुओंका मूल्य इसी प्रकारकी सस्थाओंके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इसीकारण वाकरने इन सस्थाओंको सीमान्त सस्था माना है। इनसे ऊपर व सस्थाएं हैं जिनको मार्शल ने प्रतिनिधि सस्था कहा है। यह सस्था नतो वाकरकी सीमान्त सस्थाके समान ऐसीही होतीहै कि इसके व्यवस्थापकको कुछ लाभही प्राप्त नहो और न बडी बडी समृद्ध सस्थाओंके समान ऐसी कि इसके व्यवस्थापक बहुत लाभ प्राप्त कररहे हों बल्कि ऐसी जो दीर्घकालसे तो स्थापित हो, सामान्य योग्यतासे उसका प्रबन्ध होरहा हो, सामान्य उत्पादन-विधि को प्रयुक्त कर रहीहो और अधिक मात्रामें उत्पन्न करनेकी सामान्य मितव्ययिता इसे प्राप्त हो रही हो। ऐसी सस्थाओंसे ऊपर वे सस्थाएं होतीहैं जिनके व्यवस्थापक अत्यन्त योग्य होते हैं और अपनी योग्यताकी सहायतासे बड बडे लाभ प्राप्त करते हों और इनसे भी ऊपर उन दिग्गजोंकी सस्थाएं होतीहैं जिनके लाभकी सीमा बाधनाही असम्भव है।

हम देखचुकेहैं कि बाजारभाव तो निश्चित होताहै सीमान्त सस्थाके उत्पादन-व्ययसे। इसकारण सीमान्त सस्थासे ऊपरकी सस्थाएं उन व्यवस्थापकोंकी योग्यता के अनुसार ठीक उसी प्रकार लाभ उठाती हैं जिस प्रकार सीमान्त भूमिसे ऊपर की भूमियोंको उनकी उत्पादनशक्तिके अनुसार भूमि-कर प्राप्त होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार लाभको योग्यताका कर कहना अत्युक्ति न होगी।

इस सिद्धान्तके अनुसार वस्तुओंका मूल्य निर्धारित करनेमें भूमिकरके समानही लाभका तनिकभी हाथ नही क्योकि मूल्य निर्धारित करनेवाली सीमान्त सस्थाके उत्पादन-व्ययमें लाभका अभाव होता है। इसके विपरीत लाभ स्वय मूल्यसे निर्धारित होता है, क्योकि मूल्य गिरनेसे सीमान्त सस्थाए तो वन्द होजाती हैं और उनका स्थान थोडा वहुत लाभ प्राप्त करनेवाली सस्थाए ग्रहण कर लेती हैं। परोक्ष रुप में भलेही लाभका मूल्योपर प्रभाव पड सकना सम्भव होसकता हो। क्योकि अपनी योग्यताके कारण अधिक लाभ उठानेवाले व्यवस्थापक उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करके उत्पादन-व्ययमें क्रमश: ह्रास होनेकी सम्भावनाका लाभ उठानेके उद्देश्यसे अपनी विक्री वढानेके लिए सीमान्त सस्थाके उत्पादन-व्ययसे कम मूल्यपर वस्तु वेच सकते हैं।

प्राचीन अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार वाकरकी लाभसे वञ्चित सस्थाका अस्तित्व असम्भव था क्योकि कोई भी व्यवस्थापक तवतक व्यर्थही अपनी योग्यता एव श्रम का व्यय करनेके लिए उद्यत न होगा जवतक कि उसे किसी विशेष उद्योग धधेमें प्राप्त होनेवाल औसत लाभके मिलनेकी आशा न हो। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वासया कि किसीभी व्यवस्थापकको किसीभी उद्योग धन्धेमें उसमें प्राप्त होनेवाले औसत लाभसे अधिक लाभ प्राप्त नही होसकता। अल्पकालमें भलेही कोई व्यवस्थापक इस औसत लाभसे न्यून अथवा अधिक लाभ प्राप्त करले परन्तु दीर्घकालमें औसत लाभसे कम लाभ प्राप्त करनेवाली सस्थाए स्वयही बन्द हो जायेंगी और यदि प्राप्त लाभ औसत लाभसे अधिक होगा तो पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें नयी सस्थाए उस उद्योग धन्धे की ओर आकर्षित होंगी जिनकी स्थापनासे लाभ पुन: अपने प्राकृतिक स्तरपर आजायेगा। इसप्रकार नयी सस्थाओंकी स्थापना अथवा पुरानी सस्थाओंका लोप होनेसे प्रत्येक उद्योग धन्धेमें मिलनेवाले औसत लाभ में एक सन्तुलन सा स्थापित होजायगा।

इसमें सन्देह नही कि प्रत्येक उद्योग धन्धेमें कुछ न कुछ लाभ प्राप्त होनेकी आशा से प्रेरित होकर व्यवस्थापक उन धधेकी ओर आकृष्ट होते परन्तु यहभी सत्य नही कि उस उद्योगधन्धेमें मिलनेवाले औसत-लाभका स्तर इतना स्थिर होगा जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री मानते थे। और भिन्न भिन्न सस्थाओंके लाभमें उतार चढाव तो स्वाभाविक ही हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य अथवा औसत लाभ

का निश्चित करना इतना सरल नही जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री समझते थे। व्यवस्थापकों की बुद्धि एव योग्यता में अन्तर होनेके कारण भिन्न भिन्न सस्थाओंके लाभोंमें अन्तर होना आवश्यक सा है। इस कठिनाई को मार्शल ने प्रतिनिधि सस्थाकी कल्पना द्वारा दूर करनेकी चेष्टाकी थी। इस सस्थाको प्राप्त होनेवाले लाभको उस उद्योग धन्धेमें मिलनेवाला सामान्य लाभ मानना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह कहदेना अनुचित न होगा कि बाकरकी लाभ-वंचित सस्याका अस्तित्व भी इतना असम्भव नही जितना कि प्राचीन अर्थशास्त्री और उनके अर्वाचीन अनुयायी मानते है। किसी सस्थामें एकबार नियुक्त पूजीको, विशेषकर स्थायी रूपमें नियुक्त पूजीका किसी अन्य उद्योग धन्धमें परिवर्तन कठिन होजाता है। इसकारण लाभ के अभावकी स्थितिमें भी कई सस्थाए उत्पादन कार्य बन्द नही करती। इसी प्रकार कई व्यवस्थापक केवल अपनी नियुक्त पूंजीपर ब्याज प्राप्त करकेही सन्तुष्ट होजाते है। इसके अतिरिक्त यहभी आवश्यक नही कि कोई सस्था सदैवके लिए लाभ-वंचित सस्थाही रहे। प्रत्यक उद्योग धन्धमें नित नयी सस्थाए स्थापित होती रहती हैं। बहुतसी सस्थायें सकटो से ग्रस्त होजाती है, बहुतसी पतनोन्मुख होती है। ऐसी सस्थाओको लाभ प्राप्त नही होता परन्तु कालान्तरमें इनमें से बहुतसी कुछ लाभ उपार्जन करने योग्य होजायेंगी और अन्य अपना अस्तित्व ही खो बैठेंगी और उनका स्थान अन्य सस्थाए ग्रहण करलेंगी।

किन्तु मार्शलके अनुसार किसी उद्योग धन्धेमें पूजीका विनियोग उस उद्योग धन्धे की प्रतिनिधि-सस्थाके उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है। इस उत्पादन-व्यय मे उस प्रतिनिधि सस्थाको प्राप्त होनेवाला सामान्य लाभभी सम्मिलित होता है और मूल्यभी इसी प्रतिनिधि सस्थाके उत्पादन व्यय द्वाराही निर्धारित होता है। इसकारण सामान्य लाभभी मूल्य में शामिल होता है। प्रतिनिधि सस्थासे अधिक कुशल सस्थाओको प्राप्त अतिरिक्त लाभका मूल्यमें समावेश सम्भव नहीं।

जोखिम और लाभ

एक और सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध लाभ केवल वह पुरस्कार है जो उद्योगपतिको सस्था स्थापित करनेकी जोखिम उठानेके लिए प्राप्त होता है। नाइट ने जोखिम

भी दो प्रकारकी बताई है। एकतो वह जोखिम जिसके कारण होनेवाली हानिकी गणना गणितशास्त्रके नियमो द्वारा निश्चित रूपसे की जासकती है और इस कारण उससे बचनेके लिए बीमा इत्यादि साधनोंका उपयोग किया जासकता है। बीमाके कार्यके लिए विशेष संस्थाए होतीहै और उनको दियागया अधिक शुल्क व्यवस्थापकके उत्पादन-व्ययमें सम्मिलित करलिया जाता है। परन्तु दूसरी जोखिम इस प्रकारकी होती है कि उसके कारण होनेवाली हानिकी गणना असम्भव होतीहै क्योंकि मनुष्य त्रिकालदर्शी तो है नही कि भविष्यमें होनेवाली सब घटनाओं का पूर्णरूपसे वर्तमान में ही ज्ञान प्राप्त करले। इस प्रकारकी जोखिमसे होनेवाली हानि की गणना करनेमें गणितशास्त्रभी असमर्थ है और इसकारण उससे बचाव का कोईभी साधन नहीं। नाइटने इस प्रकारकी जोखिमको अनिश्चतताका नाम दियाहै और उसका मतहै कि शुद्ध लाभ व्यवस्थापकको इस अनिश्चितता रूपी जोखिम उठानेका पुरस्कार मात्र है। यदि अनिश्चितता न होती तो लाभका अभाव होता।

ब्याज का प्रगतिशील सिद्धान्त

इस सिद्धान्तका जन्मदाता प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री क्लार्क था। उसने अर्थ व्यवस्थाके दो भेद किये हैं। एकतो स्थिर और दूसरा प्रगतिशील। स्थिर अर्थ-व्यवस्था वहहै जिसमें जनसख्या और पूजीमें किसीभी प्रकारकी वृद्धि नही होती; नये आविष्कारोंका अभाव रहता है; उत्पादन रीतियां ज्यों की त्यों रहती हैं। संक्षेपमें स्थिर अर्थ-व्यवस्थामें परिवर्तनोंका अभाव रहता है। यद्यपि ऐसी व्यवस्था मे पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितिमें उत्पादनके साधन गतिशील होतेहैं फिरभी गतिका अभाव रहताहै क्योंकि प्रत्येक व्यवसायमें श्रम और पूजीकी उत्पादन-शीलता सम होती है। इस प्रकार की स्थिर अर्थ-व्यवस्था में क्लार्कके मतानुसार शुद्ध लाभका अस्तित्व असम्भव है और सम्पूर्ण उत्पत्ति श्रम और पूजी द्वाराही होतीहै और श्रमजीवियों एवं पूजीपतियोंमें उसका वितरण होजाता है। ऐसी स्थितिमें लाभ का प्रश्नही नही उठता। पूर्ण प्रतिस्पर्धाके कारण मजूरी और ब्याज श्रम और पूजी द्वारा प्राप्त सीमान्त उत्पत्तिके बराबर होते हैं। श्रमजीवियो और पूजीपतियो

में वितरित होनेके अनन्तर राष्ट्रीय आयका कोईभी अतिरिक्त भाग शेष नही रहता जिसका कि लाभके रूपमें वितरण किया जासके। परन्तु क्लार्कका मत था कि कोईभी अर्थव्यवस्था स्थिर नही होती। जनसख्या और पूंजीमें वृद्धि, उत्पादन रीतियोंमें उन्नति, औद्योगिक व्यवस्थाके रूपोंमें और उपभोक्ताओंकी आवश्यकता-ओंमें परिवर्तन प्रत्येक अर्थव्यवस्था को प्रगतिशील बनाये रखनेके मुख्य कारण है। उद्योगपति का कर्तव्य अर्थ-व्यवस्था में होनेवाले इन्ही परिवर्तनोंसे सम्बन्धित है। उसे अपने कर्तव्य-पालनके लिए साधारण श्रमिकोंके समान श्रम नही करना पड़ता वरन् उसका अस्तित्व श्रम और पूंजीको उत्पादनशील बनानेके लिए आवश्यक होता है। श्रम और पूंजीको उचित अनुपातमें सयोजित करनेसे ही उनकी उत्पादनशीलतामें वृद्धि होजाती है और यही बढ़ीहुई उत्पत्ति उद्योगपति को उसके साहसके बदले लाभके रूपमें प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए नये नये आविष्कारो को उत्पादन कार्यमें प्रयुक्त करनेके लिए साहसकी आवश्यकता होती है। जो उद्योगपति किसी नवीनताका सर्वप्रथम प्रयोग करनेके लिए उद्यत होजाता है वह उस प्रयोग द्वारा प्राप्त अधिक उत्पत्तिकी मात्राको लाभके रूपमें पाता है। शनै. शनै अन्य लोगभी उस नवीनताका प्रयोग करने लगतेहै और इससे प्राप्त होनेवाला लाभ न्यून अथवा शून्य होजाता है।

२२

द्रव्य

द्रव्य की आवश्यकता

आधुनिक आर्थिक व्यवस्थामें द्रव्यका एक विशेष स्थान है। यह कहना अति-शयोक्ति न होगा कि यदि हमारे बीचसे द्रव्यको उठालिया जाय तो हमको अपने आर्थिक कार्योंके सम्पादनमें बहुत कठिनाइयोका सामना करना पडेगा और आर्थिक व्यवस्थाभी अव्यवस्थित होजायगी। कुछ साधारण उदाहरणोंसे हम इस स्थितिको समझ सकतेहै। अनेक लोग अपनी आजीविकाके लिए वृत्ति करते है और उनको द्रव्यके रूपमें आय मिलतीहै। यदि द्रव्यका प्रयोग समाजमें न होता तो यह आय वस्तुओके रूपमें दी और लीजाती। इससे लेनवाले और देनेवाले दोनोंको परेशानी उठानी पडती। यदि कोई मजदूर कपडेके कारखानेमें कार्य करताहै तो कारखानेका मालिक उसकी मजदूरी कपडेके रूपमें देसकता है। परन्तु मजदूरोंको कपडेके अति-रिक्त भोजन की सामग्री, रहनेका स्थान इत्यादि अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता है। अतएव उसको अतिरिक्त कपडेके बदले इन वस्तुओको प्राप्त करना पडेगा। स्थिति औरभी विषम होजाती है जबकि हम एक अध्यापकका मामला लेते है। विश्व विद्या-लय का अध्यापक कारखानेके मजदूरकी तरह कोई ऐसी वस्तु तो बनाता नही जो उसको पारिश्रमिकके रूपमें दी जासके। तब फिर रजिस्ट्रार अथवा कोषाध्यक्ष किस प्रकार उसको पारिश्रमिक दे। यही होसकता है कि विद्यार्थियोसे कहाजाय और सरकारसे भी प्रार्थना कीजाय कि वह भिन्न भिन्न वस्तुओके रूपमें फीस और आर्थिक सहायता विश्वविद्यालयको दें और इन्हीका किसी प्रकार अध्यापकोमें तथा विश्व विद्यालयके अन्य कार्यकर्ताओंमें वितरण हो। द्रव्यके प्रयोगसे इसप्रकार की कठि-नाइया उत्पन्न नही होती है। इसीप्रकार उत्पत्तिके कार्यके लिए अनेक आर्थिक साधनो की आवश्यकता होती है। यदि उत्पत्ति का क्षेत्र बड़ाहो तो इन साधनोंकी बड़ी मात्रा

में आवश्यकता होती है। द्रव्यके द्वारा इन साधनोंके इकट्ठा करनेमें बहुत सुगमता होती है। यदि द्रव्य नहो तो उत्पादकको कच्चा माल, मशीन, मजदूर इत्यादि साधनोंको उपयुक्त मात्रामें कारखानामें एकत्र करनेमें बहुत असुविधा होगी। जब हम बाजार जाते हैं तो अपने साथ द्रव्य लेजाते हैं और भिन्न वस्तुओंको भिन्न भिन्न परिमाणमें मोल लेते हैं। यदि द्रव्य न हो तो इस कार्यमें बडी रुकावट पैदा होजाय। इसप्रकार हम आजकल अपनी बचतभी द्रव्यके रूपमें करते हैं और भविष्यमें इसके बदले आवश्यक वस्तुएं लेलते हैं। द्रव्यके अभावमें हमको इसप्रकार की वस्तुओंका ही संचय करना पडता। इनको रखनेका प्रबन्ध करना पडता, टूट, फूट, सडने-गलने और बिगडनेसे बचाना पडता अर्थात् बडी झंझट और उलझनमें फसना पडता। हमलोग आजकल द्रव्यके प्रयोगके इतने अभ्यस्त होगये हैं कि हम अनुमानही नहीं करसकते हैं कि द्रव्यके बिना हमको कितनी असुविधाएं होतीं। आर्थिक विकासमें एक समयथा, जबकि समाजमें द्रव्य नहीथा और आर्थिक कार्य बिना इसकी सहायता के होते थे।

वस्तु विनिमय की प्रथा

हम इसप्रकारकी आर्थिक व्यवस्थाकी कल्पना करसकते हैं जिसमें द्रव्यकी आवश्यकता ही न पडे। यदि किसी कुटुम्बके लोग स्वयंही अपनी आवश्यकताओंकी वस्तुओंको उत्पन्न करलें तो उनको द्रव्यकी आवश्यकता नहीं जान पडेगी। इसीप्रकार यदि समाजकी इस प्रकारकी व्यवस्था होजाय कि समाजके प्राणी अपनी अपनी योग्यता के अनुसार राज्यके अन्तर्गत उद्योग करें और राज्यके द्वाराही उनकी आवश्यकतानुसार वितरणहो तोभी शायद द्रव्यकी आवश्यकता न जानपडे। वास्तवमें इस प्रकारकी आर्थिक व्यवस्थाओंके उदाहरण बहुत कम पायेजाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अथवा कुटुम्ब अपनी आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए कम या अधिक मात्रा में दूसरोंपर निर्भर रहता है। उसको अपनी वृत्ति अथवा वस्तुओंके बदले दूसरोंकी वृत्ति और वस्तुएं प्राप्त करनी पडती हैं। इसप्रकार के आदान-प्रदानको हम विनिमय कहते हैं। द्रव्यके बिना जो विनिमय होताहै उसको अदल-बदलकी प्रथा कहते है। प्राचीनकाल में इसी प्रथा द्वारा लोग एक दूसरेसे वस्तुओं अथवा सेवाओंका

विनिमय करके अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति करलेते थे। आजभी अनेक असभ्य जातियां है जिनमें द्रव्यका चलन नहीहै और जो कुछभी विनिमयका कार्य उनमें पायाजाता है वह अदल बदलकी प्रथा परही निर्भर है। खेतीके कार्यमें कहीं कहीं अभीतक मजदूरको अनाजके रूपमें पारिश्रमिक दियाजाता है। विदेशी व्यापारमें भी राज्योंके बीच आपसमें इसप्रकार की स्वीकृतियां होतीहैं जिनके अनुसार एक राज्यकी कुछ वस्तुएं किसी निश्चित परिमाणमें दूसरे राज्यकी अन्य वस्तुओंके निर्धारित परिमाणमें बदल लीजाती है।

विनिमय का माध्यम

यदि हम अदल-बदलकी प्रथाका विश्लेषण करें तो हमको इसमें अनेक कठिनाइयां और असुविधाएं दिखलाई देती हैं। एक कठिनाई यहहै कि अदल-बदलकी क्रियाके चरितार्थ होनेसे पहिले इस प्रकारके दो व्यक्तियोंका मिलनहो जिनको एक दूसरेकी वस्तुओंकी आवश्यकता हो। उदाहरणार्थ मानलीजिए कि किसी किसानके पास गेहूंहै और वह उसके बदलेमें कपड़ा चाहता है। अब उसको एक ऐसे व्यक्तिको ढूंढना पड़ेगा जिसको गेहूंकी आवश्यकता हो और जिसके पास देनेके लिए अतिरिक्त कपड़ा हो। इस कार्यमें समयकी बरबादी होतीहै और परेशानीभी होती है। प्राचीनकालमें बड़े बड़े मेलोंके लगनेका शायद एककारण यहभी रहाहो कि मेलेमें सभी तरहकी वस्तुएं एक स्थानपर इकट्ठा होतीहै और इससे अदल बदलके कार्यमें सुविधा होजाती है। अबहम यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि द्रव्यके प्रयोगसे किस प्रकार इस असुविधाको दूर कियागया है। पूर्वलिखित उदाहरणका विस्तार करतेहुए कल्पना कीजिए कि जिस जुलाहेके पास कपड़ाहै उसको किसानके गेहूंकी आवश्यकता नहीहै परन्तु उसको तेल चाहिए। यहभी मानलीजिए कि तेलीको गेहूं चाहिए। स्पष्टहै कि यदि किसान अपने गेहूंके बदले तेलीसे तेल प्राप्त करले तो वह तेलको पुन: जुलाहेको देकर कपड़ा प्राप्त करसकता है। यह एक गेहूंके बदले तेल प्राप्त करनेकी बीचकी विनिमयकी क्रिया बड़े महत्वकी है। गेहूं और कपड़ेका एक दूसरेसे प्रत्यक्ष विनिमय न होकर तेलके माध्यम द्वारा हुआ। किसानको तेलकी सहायतासे कपड़ा प्राप्त करनेमें सुविधा प्राप्त हुई। विनिमयके यहांपर दो भाग

होजाते हैं। पहिला गहूका तेलमें विनिमय और दूसरा तेलका कपडेमें विनिमय। तेल यहापर विनिमयके माध्यमका काम कररहा है। किसानको तो तेलकी आवश्यकता नहीहै परन्तु वह उसको कपडा प्राप्त करलेनेके लिएही लेता है। यही क्रिया आजकल द्रव्य द्वारा होती है। इसको क्रय-विक्रय कहाजाता है। किसान अपने गेंहू को द्रव्यमें विनिमय (विक्रय) करता और द्रव्यको पुन: कपडेमें विनिमय (क्रय) करता है। आजकल हम द्रव्यको मुद्रा नोट और बेंक-धरोहरके रूपमें पाते हैं। परन्तु एक व्यापक अर्थमें कहा जासकता है कि पूर्वोक्त उदाहरणमें तेलसे भी द्रव्य का ही काम लिया जारहा है। अत. जिससमय समाजने किसी माध्यम द्वारा विनिमय करना आरम्भ किया उसी समयसे द्रव्यका सूत्रपात होगया। बादमें द्रव्य कई रूपमें भिन्न भिन्न समाजोमें प्रयोगमें आया और विकसित होकर आजकल मुद्रा, नोट और बेंक धरोहरके रूपको प्राप्त हुआ। इस विकासकी कथाको हम आगे लिखेंगे।

मूल्य का माप-दंड

वस्तु-विनिमयकी प्रथामें एक कठिनाई औरभी है। कितने तेलके लिए कितना गेहू दियाजाय और कितने तेलके बदले कितना वस्त्र मिल सकताहै इस हिसाबके बिना अदलबदलकी क्रिया सम्पादित नही होसकती है। एक वस्तुके एक इकाईके परिमाण के विनिमयमें जितनी परिमाणमें दूसरी वस्तु मिल सकतीहै उसको हम पहिली वस्तुका अर्थ कहेंगे। यदि एकसेर गेहूके बदले आधासेर तेर मिलसकता है तो गेंहूका अर्थ आधासेर तेल हुआ और यदि एकसेर तेलके विनिमयसे दो गज कपडा मिल सकताहै तो तेलका अर्थ दो गज कपडा हुआ इत्यादि। स्पष्टहै जितनी भी वस्तुए विनिमयके निमित्तहै उन सबके सम्बन्धमें प्रत्यक वस्तुका अर्थ स्थापित कियेबिना अदलबदलका कार्य पूरा नही होसक्ता है। हम इस कठिनाईके गुरुत्वको आजकल की व्यवस्थामें अनुमानही नही करसकते है क्योकि आजकल प्रत्येक वस्तुके अर्थको हम द्रव्यके रूपमें प्रकट करतेहै जिसको हम उस वस्तुका मूल्य कहते हैं। जैसे एक सेर गेहूका मूल्य आठआना, एकसेर तेलका मूल्य दोरुपया, एकगज कपडेका मूल्य एकरुपया इत्यादि। परन्तु जिस समाजमें द्रव्यका प्रयोग न होताहो उसमें तो

प्रत्येक वस्तुका अर्थ अन्य सभी वस्तुओंमें निर्धारित करना पडता है। इसमे विनिमयके कार्यमें असुविधा होजाती है। यह असुविधा दूर होसक्ती है यदि समाजके लोग किसी एक वस्तुको प्रामाणिक मानकर अन्य वस्तुओंका अर्थ उसी एक प्रामाणिक वस्तुके परिमाणमें प्रकट करें। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए किसी समाजने गेहूको प्रमाण-वस्तु मानलिया और अन्य वस्तुओके अर्थको गेहूके रूपमें प्रकट करने की प्रथाको स्वीकार करलिया। किसीसमय विशेषमें मान लीजिए एकसेर तेलका अर्थ दोसेर गेहू और एक गज कपडेका अर्थ एकसेर गेहूहै तो हम कह सकतेहैं कि एकसेर गेहूके बदले दोसेर तेल मिलसकता है अथवा एकसेर तेलके बदले आधागज कपडा मिलसक्ता है। इसीप्रकार यदि सभी वस्तुओका अर्थ गेहूके रूपमें ज्ञातहै तो बडी सुगमतासे एक वस्तुका अर्थ दूसरी वस्तुके परिमाणमें जाना जासक्ता है और वस्तु विनिमयके कार्य अधिक सुविधाके साथ होसकते हैं। यह आवश्यक नहीहै कि गेहू विनिमयका माध्यम हो। विनिमयकी प्रथा अदलबदलकी हीरहे परन्तु वस्तुओंका अर्थ गेहू द्वारा निर्धारित हो। यहापर गेहूसे मूल्य-दडका कार्य लिया जारहा है। आजकल भी द्रव्यसे यह कार्य लियाजाता है अतएव हम कहसकते हैं कि जब लोग एक वस्तुका अर्थ सीधे दूसरे वस्तुके परिमाणमें प्रकट न कर किसी अन्य प्रामाणिक वस्तुके व्यवधानसे निर्धारित करने लगतेहैं यह प्रमाणिक वस्तु द्रव्यका कार्य करने लगती है। यह कहना कठिनहै कि समाजमें द्रव्यका आगमन विनिमयके माध्यमके रूपमें हुआ अथवा मूल्यके माप-दण्डका कार्य सम्पादित करने के निमित्त हुआ। द्रव्यके दोनो धर्म बडे महत्त्वके हैं। ऐसाभी होसकता है कि किसी समाजमें द्रव्यका प्रयोग प्रारम्भमें विनिमयके माध्यमके लिए और किसीमें मापदण्ड के लिए हुआ हो। आधुनिक समाजमें द्रव्यके द्वारा दोनो कार्य साथ साथ सम्पादित होते हैं। द्रव्यके रूपमें किसीभी वस्तुका मूल्य प्रकट किया जाताहै और उसके माध्यमसे विनिमयका कार्यभी होता है। प्राचीन कालमेंभी तत्कालीन द्रव्यसे सम्भवहै दोनो कार्य एक साथही सम्पादित करनेकी प्रथा चल पडीहो उदाहरणार्थ गेहूके रूपमें मूल्य प्रकट कियाजाय और उसीके माध्यमसे वस्तु-विनिमयका कार्य हो।

जब किसी प्रामाणिक वस्तुके द्वारा अन्य वस्तुओंका मूल्य प्रकटकिया जाने लगता है तो इनका हिसाब-किताब उस प्रामाणिक वस्तुके रूपमें करने और रखनेसे बहुत सुविधा होती है। इस अर्थमें द्रव्य द्वारा वस्तुओंका मूल्याकन होताहै, हिसाब रखा

जाताहै और चुकता कियाजाता है। उपभोक्ताके सामने जब भिन्न भिन्न वस्तुओं का मूल्य द्रव्यके रूपमें रहताहै और द्रव्यके रूपमें ही उसको आय मिलतीहै तो उसको भिन्न भिन्न वस्तुओंके मूल्योंकी तुलना करके उनको भिन्न भिन्न मात्रामें मोल लेनेकी सुगमता रहती है। इसीप्रकार से यदि उत्पादकको उत्पत्तिके साधनोंका मूल्य मालूम हो और उनकी सहायतासे बनायीहुई वस्तुओंका मूल्यभी, तो वह इनके आधारपर अपने उद्योग धन्धोंकी उत्पत्तिकी मात्रा और उत्पादनकी रीतिको इसप्रकार से निश्चित करनेका प्रयत्न करेगा जिससे उसको अधिकतम लाभ हो। द्रव्यकी सहायताके बिना इसप्रकारके गणित करनेमें बहुत असुविधा होजाती है।

कालयापन माप-दण्ड

मूल्यके माप-दण्डका कार्य करनेके कारण द्रव्य द्वारा ऋण और उधार सम्बन्धी कार्य भी सुगम होजाते हैं आजकलकी आर्थिक व्यवस्थामें ऋण और उधारके बिना काम नहीं चलता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेनेसे बड़ी सुविधा होती है। मानलीजिए किसी किसानको बैल खरीदना है। द्रव्यके रूपमें ऋण पानेसे वह बैल खरीदसकता है और उसकी सहायतासे उसको जो आय होतीहै उससे ऋण चुकता करसकता है। यदि द्रव्यका प्रयोग न रहता तो किसी बैलवालेसे उसको बैल उधार मांग लेनापड़ता और यहभी निश्चय करनापड़ता कि भविष्यमें किस वस्तुको कितने परिमाणमें देकर वह उऋण होसकता है। यह झंझटका काम है। अतएव द्रव्यहीन समाजमें लेनदेन का काम सीमित मात्रामें ही होसकता है। द्रव्यके रूपमें ऋण लेने और वापस करनेमें सुभीता रहता है। इसीप्रकार हम दुकानदारोंसे अनेक वस्तुएं उधार लेतेहैं और भविष्यमें द्रव्य द्वारा उसका भुगतान करते हैं। दुकानदारोंको भी भरोसा रहताहै कि उनको जो द्रव्य मिलेगा उससे वह बिक्रीकी अथवा अपनी उपभोगकी वस्तुएं प्राप्त करसकेंगे। इसप्रकार द्रव्यके द्वारा भविष्यके लेनदेन सम्बन्धी कार्य सुगमतासे सम्पादित होतेरहते हैं। लोग समझतेहैं कि अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा द्रव्यके अर्थमें परिवर्तन कम होता है। अतएव द्रव्यसे कालयापन माप-दण्डका कामभी लिया जासकता है। यहांपर हम यहभी कहदेना चाहतेहैं कि द्रव्यके अर्थमें सदैव स्थिरता नहीं रहती है। समय समयपर परिवर्तन होनेसे भिन्न भिन्न व्यक्तियोंको आर्थिक

लाभ अथवा हानि होती रहती है। इस विषयपर हम आगे के अध्यायों में अधिक प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

द्रव्य और बचत

हमलोग अपनी आयका कुछ भाग विविध प्रयोजनोंके निमित्त बचाना चाहते हैं। इस बचतका भूमि, मकान, आभूषण, शेयर और उपकरणोंके रूपमें भी परिवर्तन किया जासकता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति अथवा संस्थाको बचतका कुछ न कुछ भाग अवश्यही द्रव्य-रूपमें रखना पड़ता है। इसका प्रधान कारण द्रव्यकी सुलभ क्रय-शक्ति है। बचतको द्रव्यके रूपमें रखनेसे उसको किसीभी मदमें सुगमतासे व्यय किया जासकता है। यदि बचतको अन्य किसी रूपमें रखाजाय तो उसको सुगमता से अन्य कार्योंमें नहीं लगाया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि मनुष्यने अपनी बचतसे भूमि मोल लेली। अब यदि तीर्थयात्रा करनेके लिए रुपयोंकी आवश्यकता पड़े तो उसको भूमि बेचनी पड़ेगी और सम्भवहै कि जिस कालमें उसको भूमि बेचनी पड़े उस अवसरपर भूमिका मूल्य गिर गयाहो और उसको हानि उठानी पड़े। यदि वह अपनी बचतको द्रव्यके रूपमें बैंकमें रखे होता तो उसको अधिक सुविधा होती। भिन्न भिन्न प्रकारकी सम्पत्तियोंमें भिन्न भिन्न मात्रामें सुलभ क्रय-शक्ति होती है। द्रव्य ही एक ऐसी सम्पत्ति है जिसमें यह गुण सबसे अधिक मात्रामें पायाजाता है। इसको हम द्रव्यही का द्रवत्वगुण भी कहसकते है।

द्रव्य के प्रकार

आर्थिक इतिहाससे ज्ञात होताहै कि भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न समयोंपर भिन्न भिन्न वस्तुएं द्रव्यका काम करचुकी हैं। गाय, बकरी, खाल-तम्बाकू, चाय, कौड़िया, सोना और चांदी इत्यादि अनेक पदार्थोंका प्रयोग द्रव्यके लिए हुआ है। जिस समाजमें जो वस्तुएं अधिक लोकप्रिय हुई होंगी, उन्हींमे द्रव्यका कार्य लेनेकी प्रवृति हुई होगी। कारण स्पष्ट है। यदि कोई व्यक्ति ऐसी वस्तु बनाताहै जिसकी मांग सीमितहो तो उसको वस्तुके विनिमय कार्यमें कठिनता होगी। परन्तु यदि

वह पहिले उस वस्तुको किसी लोकप्रिय वस्तुसे विनिमय करले तो लोकप्रिय वस्तु की सहायतासे उसको अपनी आवश्यकताकी वस्तुओंको प्राप्त करनेमें सुविधा होगी और यह लोकप्रिय वस्तु विनिमयके माध्यम अर्थात् द्रव्यका कार्य करने लगेगी।

शनैः शनैः कुछ वस्तुएं अनुभवसे द्रव्यके कार्योंके लिए अधिक उपयुक्त ज्ञात होने लगी। यदि अन्नको द्रव्य मानागया तो अनावृष्टिके वर्ष द्रव्यके परिमाणमें कमी होजाती है और सुवृष्टिके वर्ष प्रचुरता। इसप्रकार द्रव्यके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होने लगताहै जोकि वाञ्छनीय नही होता। इसके अतिरिक्त अन्न द्रव्यको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करनाभी एक समस्या होजाती है। इसीप्रकार यदि गाय, बकरी इत्यादि पशुओंसे द्रव्यका कार्य लियाजायें तबभी अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। यदि किसी संक्रामक रोगके कारण पशु मरने लगें तो द्रव्यके परिमाणमें भी क्षति होती जायगी। इसके अतिरिक्त गाय अथवा बकरी भिन्न आकार प्रकार और रूपरंग की होती है। किसप्रकार की प्रामाणिक माना जाय? इसीप्रकार अन्य वस्तुओंमें भी द्रव्यके रूपमें काममें लानेके लिए कुछ न कुछ त्रुटियां ज्ञात होने लगी। अनुभवके आधार पर धातुएं उनमें भी सोना और चांदी द्रव्यके कार्यके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हुई। अतएव अन्ततोगत्वा सभी समाजोंमें इन्हीं वस्तुओंसे द्रव्यका काम लियाजाने लगा।

धातु-द्रव्य

सोने और चांदीमें अनेक गुणहैं जिनके कारण इन धातुओंका प्रयोग द्रव्यके लिए होता आया है। इनमें एक प्रधान गुण यहहै कि ये सभीको प्रिय पदार्थ हैं। हम पहिले ही बताचुके हैं कि जो पदार्थ लोकप्रिय होगा उसमें द्रव्यका कार्य लेनेमें सुगमता होगी। सोने और चांदीमें एक गुण यहभी है कि ये बहुमूल्य धातुएं हैं अतएव इनके छोटे परिमाणमें अधिक मूल्य निहित रहता है। इससे यह लाभ होता है कि अधिक परिमाणमें द्रव्य संचय करनेके लिए अधिक स्थानकी आवश्यकता नहीं होतीहै और एक स्थानसे दूसरे स्थानको द्रव्य भेजनेमें भी सुगमता होती है। सोना और चांदी बहुत टिकाऊ पदार्थ हैं। ये बहुत धीरे धीरे घिसते हैं और युगों तक रखे रहनेपर भी इनमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न नहीं होता है। अतएव भविष्य

के लिए इनके रूपमें बेखटके मूल्य सचित रखा जासकता है। सोने चादीके छोटे छोटे टुकडे किये जासकते है। सभी टुकडोमें सादृश्य होताहै और छोटे छोटे टुकडो का कुल मूल्य उस बडे टुकडेके बराबर होताहै जिसके वे टुकडे है। यह गुण प्रत्येक वस्तुमें नही पायाजाता है। उदाहरणके लिए यदि बकरीको द्रव्य मानाजाय तो उसके अलग अलग हिस्सोमें अर्थात् टाग, पूछ, सिर, इत्यादिमें बहुत असमानता पायीजाती है। सोने और चादीको पिघलाकर मुद्राके रूपमें परिवर्तित किया जासकता है, सोने चादीमें एक गुण यहभी है कि ये न तो इतने बडे परिमाणमें पाये जातेहैं कि इनके बडे मूल्यकी मुद्रा इतनी बडीहो कि उसको लेजानेमें असुविधाहो और न इतने कम परिमाणमें पायेजाते है कि कम मूल्यकी मुद्रा इतनी छोटीहो कि उसको जेबमें ढूढनाभी एक समस्या होजाय। अधिक टिकाऊ होनेके कारण सोने चादीकी किसी समय विशेषकी, उत्पत्तिकी मात्रा उनके कुल सचित परिमाणका एक छोटा सा भाग होती है। अतएव यदि किसी वर्ष खानोंसे अधिक और किसी वर्ष कम सोना चादी प्राप्तहो तो इसके कारण सोने चादीके कुल परिमाणमें अधिक अन्तर नही पडता है। कुछ अर्थशास्त्रियोके विचारमें इस गुणके कारण इन धातुओके और इन धातुओसे बनी मुद्राओंके मूल्यमें कम अस्थिरता रहती है।

मुद्रा

प्रारम्भ में समाजमें सोने चादी सभी प्रकारके छोटे बडे टुकडोंसे विनिमयका कार्य कियाजाता था। इनमें धातुकी शुद्धता और टुकडोके तौलको ज्ञात करनेकी समस्या होती थी। इस समस्याका समाधान राज्यकी ओरसे हुआ। राज्य द्वारा इस बात का निश्चय हुआ कि किन किन धातुओंमे द्रव्यका कार्य लियाजाना चाहिए। तत्पश्चात् राज्य की ओरसे टकसालें खोलीगयी जहा इन धातुओकी निर्धारित तोलो की मुद्रायें ढाली जाने लगी। इनमें धातुकी शुद्धता और तौलको प्रमाणित करनेके लिए राज्यकी मोहर लगायीगयी और बनावटी नकली मुद्रासे लोगोको सावधान करनेके लिए वास्तविक मुद्राओं को विशेष आकार प्रकारसे बनानेकी चेष्टा कीगयी।

दो प्रकारकी मुद्राओंका प्रयोग हुआ जिनको हम प्रामाणिक और साकेतिक मुद्रा कहेंगे। प्रामाणिक मुद्रा वहहै जिसका अर्थ उस मुद्रामें (वर्तमान) स्थित धातुके परि-

माणके अर्धके बराबर हो। यदि मुद्राको गला दियाजाय तो धातुके टुकडेका उतना ही क्रय होगा जितना कि उस मुद्राका था अर्थात् दोनोंकी क्रयशक्ति समान होगी। इसका प्रधान कारण यहहै कि प्रामाणिक मुद्राके सम्बन्धमें लोगोंको स्वतन्त्रता रहती है कि वह किसी परिमाणमें प्रामाणिक धातुको टकसालमें लेजाकर उसकी प्रामाणिक मुद्राए ढलवा सकतेहैं और उनको गलाकर फिरसे अमुद्रित रूपमें परिवर्तन कर सकते है। अब यदि प्रामाणिक मुद्राकी क्रय शक्ति उसमें स्थित धातुकी क्रय शक्ति से अधिक हो तो लोग उस धातुको मुद्राके रूपमें रखना चाहेंगे और यदि मुद्राकी अपेक्षा धातुका क्रय अधिकहो तो मुद्राका गला डालेंगे। इसप्रकारके अदलाव-बदलाव से दोनोंका मूल्य समान रहेगा।

इसके प्रतिकूल साकेतिक मुद्राका अर्घ उसमें स्थिति धातुके अर्घसे कहीं अधिक होता है। यदि हम साकेतिक मुद्राको गलाडालें तो उससे जो अमुद्रित धातु प्राप्त होगी उसका अर्घ उतना नहीं होगा जितना कि उसका मुद्राके रूपमें था। साकेतिक मुद्राका प्रयोग अधिकतर छोटे मूल्यके विनिमय कार्योंके लिए होता है। अतएव इन मुद्राओंको तांबा, गिलट जैसे अल्पार्घ धातुसे बनाते हैं। इसप्रकार की मुद्राओंकी ढलाई राज्य स्वयं करताहै जिससे कि इनके परिमाणपर नियन्त्रण रहे और मुद्राका अर्घ धातुके अर्घसे अधिक बना रहे।

राज्य द्वारा निर्मित और अंकित मुद्राको चलनमें एक विशिष्ट स्थान प्राप्त हो जाता है। इस द्रव्यको लेनेमें इन्कार नहीं किया जासकता। इसप्रकार के द्रव्यको हम राज प्रामाणिक ग्राह्य द्रव्य कहेंगे अर्थात् ऐसा द्रव्य जो कि राज्यसे प्रमाणित होने के कारण सभीको ग्राह्य होजाता है। यदि हमें किसी महाजन या दुकानदारको ऋण अथवा मूल्य चुकानाहै तो हम इस प्रकारके द्रव्य द्वारा चुका सकतेहैं और दुकानदार अथवा महाजन उसको अंगीकार करनेको न्यायतः बाध्य किया जासकता है, हाँ, एकबात यहहै कि प्रामाणिक मुद्राए किसीभी परिमाणमें दी जासकती है और सांकेतिक मुद्राए एक सीमित परिमाण तक। भारतमें रुपया प्रारम्भमें प्रामाणिक मुद्राथा अतएव यह अपरिमित मात्रामें ग्राह्य था। सन् १८९३ के पश्चात इसका पद साकेतिक मुद्रा होगया परन्तु यह अभीतक अपरिमित मात्रामें ग्राह्य है। अठन्नी से नीचेकी जितनीभी मुद्राएहै वे एक रुपयेकी सीमा तकही वैध रूपमें ग्राह्य हैं। साकेतिक मुद्राको सीमित मात्रामें ग्राह्य करनेका कारण यहहै कि अधिक मूल्यके

लिए साकेतिक मुद्रा देने और लेनेमें असुविधा होती है।

प्रामाणिक मुद्रा द्रव्यके सम्बन्धमें इस बातकी स्वतन्त्रता रहतीहै कि कोईभी व्यक्ति किसीभी परिमाणमें सोना अथवा चादी राज्यकी टकसालमें लेजाकर उनको प्रामाणिक मुद्राओंमें ढलवा सकता है। अतएव चलनमें प्रामाणिक मुद्राका परिमाण प्रधानतः देशवासियोंद्वाराही निश्चित होता है। परन्तु सांकेतिक मुद्राओंके सम्बन्ध में ऐसा नहीं होता है। इनका टंकन राज्य द्वाराही होता है। इसका कारण यहहै कि सांकेतिक मुद्राका मूल्य उसमें स्थित धातुके मूल्यसे अधिक होताहै और इस सम्बन्धको बनाये रखनेके लिए इसके परिमाणको सीमित रखनेकी आवश्यकता होती है। यदि लोगोंको इस बातकी स्वतन्त्रता ददी जाय कि वे जिस परिमाणमें चाहें उस परिमाणमें सांकेतिक मुद्राभी ढलवा सकतेहैं तो इन मुद्राओंके अंकित मूल्य और धातु मूल्यकी विषमताके अन्तर्गत लाभको प्राप्त करनेके लिए लोग बहुत बड़े परिमाणमें इस प्रकारकी मुद्राओंको ढलवाते जिससे इनकी क्रय शक्ति गिरने लगती। सांकेतिक मुद्राओंकी आवश्यकता कम मूल्यवाले व्यापारोंके सम्बन्धमें ही होती है। अतएव इनका एक बड़े परिमाणमें टंकन करना अपव्यय मात्रही है। चूंकि राज्य द्वारा सांकेतिक मुद्राओंका टंकन होताहै अतएव इस कार्यसे जो लाभ होताहै वह राज्यकोषमें ही जाता है।

मुद्रा-टंकनमें लागत लगती है। इस व्ययको जिसे मुद्राटंकन शुल्क कहतेहैं किन्हीं देशोंमें राज्यके कोषसे ही पूरा किया जाताहै अर्थात जो व्यक्ति सोना अथवा चादी मुद्रांकनके निमित्त लाताहै उससे कोई शुल्क नहीं लियाजाता है। किन्हीं देशोंमें मुद्रांकन-शुल्क लियाजाता है। यदि राज्य मुद्रांकन व्ययसे अधिक मात्रामें शुल्क लगाये तो इससे उसको जो प्राप्ति होतीहै उसको मुद्रांकन लाभ कहसकते है। प्राचीनकालमें राजा लोग कभी कभी मुद्रामें नियमित परिमाणसे कम धातु रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे। इस प्रकारकी मुद्राका पद प्रामाणिक मुद्रासे घटकर सांकेतिक मुद्राके समानही होजाता है। यह अवैध कार्य है।

एक बड़े कालतक मुद्रा रूपमें ही द्रव्य चलनमें रहा। परन्तु आधुनिक कालमें कुल द्रव्यकी तुलनामें मुद्रा द्रव्यका परिमाण बहुतही कम रहगया है। प्रामाणिक मुद्रा तो अब किसीभी देशमें चलनमें नहीं पायीजाती है। धातुका बना द्रव्य केवल सांकेतिक मुद्राके रूपमें ही चलनमें है और इसका परिमाण कुल द्रव्यके परिमाणके

सामने बहुत कम है। आधुनिक कालमें द्रव्य अधिकतर नोट और साख-द्रव्यके रूप में अधिक मात्रामें चलनमें पायाजाता है। अतएव अब हम इनका विवेचन करेंगे।

नोट

कागजपर छपेहुए द्रव्यको हम नोट कहते हैं। आधुनिक कालमें नोट छापनेका कार्य राज्य स्वयं करताहै अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा करवाता है। नोटोंको राज प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी प्राप्त है। नोटका इस पदतक पहुंचनेका एक बड़ा इतिहास है। संक्षेपमें प्रारम्भमें नोट धात्विक द्रव्यके स्थानापन्नके रूपमें काममें लायागया। धात्विक द्रव्यको बड़े परिमाणमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको लेजानेमें व्यय, असुविधा और भय रहता है। अतएव धात्विक द्रव्यको किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा संस्था के पास धरोहरके रूपमें रखकर उसके स्थानमें कागजकी रसीदों द्वारा विनिमयके माध्यमका कार्य लेनेकी प्रथा चलपड़ी। जिस व्यक्ति अथवा संस्थाके पास धात्विक द्रव्य रखा जाताथा वह धरोहर रखनेवालोंको एक लिखित पत्र देतेथे जिसके अनुसार वह पत्र-वाहकोंका उसपर लिखित धातु-द्रव्य देनेकी प्रतिज्ञा करते थे। आधुनिक नोटोंमें भी इस प्रकारका वाक्य लिखा रहताहै 'मैं वाहकको.. रुपये देनेकी प्रतिज्ञा करता हू और उसमें रिजर्व बैंक (जो भारतका केन्द्रीय बैंक है) के गवर्नरके हस्ताक्षर रहते हैं। इस प्रकारके लिखित प्रतिज्ञा-पत्र व्यापार और लेनेदेने की सुविधा के लिए भिन्न भिन्न मूल्योंवाले बनाये जानेलगे। आजकल भी एक रुपया, दो रुपये पाच रुपये, दस रुपये और सौ रुपयेके नोट चलनमें हैं। आधुनिक नोटोंके इतिहास का यही श्रीगणेश है।

जो व्यक्ति अथवा संस्था इस कार्यको करने लगी उसको अनुभवसे ज्ञान हुआ कि जो धात्विक द्रव्य उनके पास धरोहरके रूपमें रखा रहताथा उसका कुछ हिस्सा उनके पास निश्चेष्ट पड़ा रहताहै क्योंकि उनके दियेगये सभी प्रतिज्ञा-पत्र धात्विक द्रव्यमें परिवर्तन कराये जानेके लिए एक साथही नहीं समर्पित किये जातेथे। अर्थात् कुछ नोट (इन प्रतिज्ञा-पत्रोंका अब हम नोटके नामसे ही सम्बोधित करेंगे) बराबर चलनमें रहते थे। उदाहरणके लिए यदि किसी संस्थाने दस लाख रुपये (धात्विक) की धरोहरके स्थानपर दस लाख रुपयेके नोट चलनमें डालदिये तो इन नोटोंका

कुछ भाग तो चलनमें रहताथा और कुछ भाग धात्विक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए इस सस्थाके पास आताथा। यदि नोटोंका आधा भाग चलनमें रहे और आधा परिवर्तनके लिए लायाजाये तो सस्थाको पाच लाख रुपया तो परिवर्तनके कार्यके लिए अपने पास रखना पडेगा और दूसरे पाच लाख रुपये उसके पास निश्चेष्ट और निरर्थक पडे रहेंगे। इस बेकार पडेहुए द्रव्यसे सस्थाने (जिसको अब हम बैंक के नामसे सम्बोधित करेंगे क्योंकि जैसा आगे चलकर बताया जायगा कि इस प्रकारके कार्य करनेवाली सस्थायें बैंक बनगयी) अपना लाभ बनानेकी युक्ति ढूढ निकाली। हम जानतेहैं कि अनेक ऐसे व्यक्ति होतेहैं जिनकी चालू-आय चालू-व्यय को पूरा करनेमें पर्याप्त नही होती है। ऐसे व्यक्ति ऋण लेकर अपना काम चलाने का प्रयत्न करतेहैं और व्याज देनेको भी उद्यत रहते है। यदि इस प्रकारका कोई व्यक्ति बैंकके पास ऋण लेनेके लिए पहुचगया और बैंकने उसको ऋण देना स्वीकार करलिया तो उस व्यक्तिको व्यय करनेके लिए रुपया मिलगया और बैंकको भी व्याजके रूपमें आमदनी होगयी। अब हमको यह देखनाहै कि इसऋण लेन-देन के कार्यसे द्रव्यके परिमाणपर क्या प्रभाव पडा? मान लीजिए इस व्यक्तिको बैंकने १० हजार रुपया ऋण दिया। इस ऋणको दो प्रकारसे दिया जासकता है। एक रीति यहहै कि जो पाच लाख रुपया बैंकके पास निश्चेष्ट पडा हुआहै उसमें से १० हजार रुपया निकालकर देदिया जाय। ऐसा करनेसे यह रुपया चलनमें आजायगा और जो दसलाख रुपयेके नोट पहिलेसे ही चलनमें है, उनका धात्विक द्रव्यका आधार बैंकके पास १० लाख रुपयेसे कम होकर ९ लाख ९० हजार रुपया रहजायेगा अर्थात् नोटके परिमाणसे बैंकमें स्थित धात्विक द्रव्यका परिमाण कम होजायेगा। दूसरी रीति यहहै कि बैंक दसहजार रुपयोंकी नोटोंकी गड्डी उस व्यक्तिको दे। ऐसा करनेपर १० हजार रुपयोंके अतिरिक्त नोट चलनमें आजायेंगे जिनके आधारके लिए उस परिमाणका धात्विक द्रव्य बैंकके कोषमें नहीहै अर्थात् चलनमें इस बैंक द्वारा प्रचलित १० लाख १० हजार रुपयेके नोट होंगे और बैंकके पास धात्विक द्रव्य केवल १० लाख रुपया होगा। दोनो रीतियोंके अन्तर्गत मुख्यबात यहहै कि ऋण देनेके फलस्वरूप चलनमें १० हजार रुपयेकी वृद्धि होजाती है और नोटोंका आधार धात्विक कोषगत प्रतिशतक अनुपातसे कम होजाता है। यहांपर हमको बैंककी एक शक्तिका पता चलताहै कि वह अपनी ऋण नीतिसे द्रव्यके परिमाणमें परिवर्तन कर

सकता है। अनेक बैंकोंने अपनी इस शक्तिका दुरुपयोग किया। उन्होंने अपने लाभ के लिए इतनी प्रचुरतासे नोट चलनमें डालदिया कि उनको बदलनेके लिए उनके पास धात्विक द्रव्य बहुत अपर्याप्त मात्रामें रहगया। नोटोंके बदल धात्विक द्रव्य न देसकने के कारण अनेक बैंक फेल होगये और उनको अपना व्यवसाय बंद करना पड़ा। बैंकोंके फेल होनेसे आर्थिक कार्योंमें भी गड़बड़ी आजाती है। समाजको इस गड़बड़ीसे बचानेके लिए नोट छापने और प्रचलित करनेका काम राज्यने अपने हाथमें ले लिया अथवा केन्द्रीय बैंकको सौंप दिया। इन नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका पदभी मिलगया।

विनिमय साध्य नोट

प्रारम्भमें नोट विनिमय साध्य थे अर्थात् उनको प्रचलित करनेवाले बैंकोंको मांगने पर उनके बदले धात्विक द्रव्य देनेको बाध्य रहना पड़ता था। इन बैंकों द्वारा प्रचलित नोटोंको राज-प्रमाणित ग्राह्य द्रव्यका स्थान तो प्राप्त था नहीं। अतएव इन नोटोंको विनिमय-साध्य बनाये रखनेके लिए इनको पर्याप्त मात्रामें मुद्राकोष रखना पड़ता था। जब राज्य अथवा केन्द्रीय बैंक द्वारा नोटोंका प्रचलन होनेलगा और इन नोटोंको राजप्रमाणित ग्राह्यताका पदभी प्राप्त होगया इसपरभी प्रारम्भमें ये नोट प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातुमें एक निश्चित दरपर विनिमय साध्य बने रहे। राज्य अथवा केन्द्रीय बैंकोंको अपने मुद्रा अथवा धातुकोष को इतने परिमाणमें रखना पड़ता था जिससे नोटोंका इनमें विनिमय करनेकी मांग को वे पूरा कर सकें।

नोटोंके पीछे कितना कोष रखाजाय इस सम्बन्धमें दो प्रधान मत रहे हैं। एक मतको करेंसी सिद्धान्त और दूसरेको बैंकिंग सिद्धान्त कहते हैं। करेंसी सिद्धान्त के अनुसार नोटोंके पीछे शत-प्रतिशत प्रामाणिक द्रव्यका कोष रहना चाहिए जिससे नोटोंपर जनताका विश्वास बनारहे और प्रत्येक अवस्थामें नोटोंके बदले प्रामाणिक द्रव्य दियाजासके। बैंकिंग सिद्धान्तके अनुसार प्रामाणिक-द्रव्य कोषका परिमाण संचित नोटोंके परिमाणके बराबर होनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी नोट एकबारगी ही प्रामाणिक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए नहीं लायेजाते

है। इसके अतिरिक्त आंशिक कोष रखनेसे द्रव्यके परिमाणमें लोच रहती है। व्यवहारमें नोटोंके प्रचलनका आधार बैंकिंग सिद्धान्त ही है।

नोटोंके परिमाणका कुछ भाग प्रामाणिक द्रव्यके आधारपर स्थित रहता है। कितना भाग किसके आधारपर रहे इस सम्बन्धमें दो मुख्य रीतियां व्यवहारमें लायीजाती हैं। एक रीति जिसका प्रमुख उदाहरण इंगलैंड रहाहै, यहहै कि साख द्रव्यके आधारपर जितने नोट प्रचलित कियेजाय, उनका परिमाण राजनियमसे निश्चित करदिया जाय। उसके ऊपर जितनेभी नोटहों उतनेही परिमाणमें प्रामाणिक मुद्रा अथवा धातु रखा जाय। इस नियमके अनुसार वर्तने से जबतक साखपत्र के आधार पर प्रचलित नोटोंका परिमाण निर्धारित सीमातक न पहुंचजाय तबतक इसका परिमाण बड़ी सुगमताके साथ बढ़ाया और घटाया जासकता है। परन्तु जब इसका परिमाण निर्धारित सीमापर पहुंच जाताहै तो उसके पश्चात नोट-द्रव्य के परिमाणको बढ़ानेकी आवश्यकता होनेपर उसी परिमाणमें प्रामाणिक धातु-द्रव्य की आवश्यकता होजाती है जिसके फलस्वरूप द्रव्यमें लोच कम होजाती है। दूसरी रीति प्रधानतः संयुक्त राज्य अमेरिकामें वर्ती गयी है। इसके अनुसार जितनाभी नोट-द्रव्य संचालित कियागया है उसके एक निर्धारित भागसे कम अनुपातमें प्रामाणिक द्रव्य कोष न रहे और शेषभाग साख-पत्रके आधारपर रहसकता है। इसको आनुपातिक-कोष-पद्धति कहते हैं। उदाहरणके लिए यदि २५ प्रतिशत नोट द्रव्यके पीछे प्रामाणिक द्रव्य-कोष रखना अनिवार्यहो तो ७५ प्रतिशत साख-पत्रके आधार पर संचालित किया जासकता है। इस पद्धतिके अनुसार नोट संचालित करनेसे नोटोंके परिमाणमें अधिक सुगमतासे वृद्धिकी जासकती है। प्रामाणिक द्रव्यकी एक इकाई कोषमें आनेपर चार इकाई तक नोट संचालित किये जासकते हैं परन्तु साथ ही साथ उस आधारपर कोषसे एक इकाई प्रामाणिक द्रव्यके ह्रास होनेपर चार इकाई नोटोंको चलनसे वापिस लेना पड़ेगा।

अविनिमय-साध्य नोट

आधुनिक कालमें नोट अविनिमय-साध्य होगया है अर्थात् इसके बदलेमें राज्य प्रामाणिक धात्विक द्रव्य देनेको बाध्य नहीं है। प्रारम्भमें जब नोट चलनमें आया

उस समय नोटमें जनताका विश्वास उत्पन्न करने और बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक प्रतीत होता था कि उनको सचालित करनेवाली सस्था उसके बदले एक निर्धारित मात्रा सोने अथवा चादीकी प्रामाणिक मुद्राओ अथवा अमुद्रित रूपमेंही सोना चादी देनेको बाध्य हो। मानो-चादीका द्रव्य सम्बन्धी मूल्यके साथ साथ स्वाभाविक मूल्यभी होता है। अतएव लोगाकी ऐसी धारणा होगयी थी कि नोटकी क्रय शक्ति उस प्रामाणिक मुद्राके अन्तर्गत है जो उसके बदलेमें प्राप्त होसकती है। इसी धारणाके अनुसार प्रारम्भमें नोट विनिमय-साध्य बनाये गये। कभी कभी युद्धकाल में नोटाकी इसप्रकारकी विनिमय साध्यता हटाभी लीजाती थी परन्तु अनुकूल अवस्था लौट आनेपर विनिमय साध्यता पुन. स्थापित करदी जाती थी। शनै: शनै: लोगाकी यह धारणा बदलने लगी कि नोट की क्रय-शक्ति सोने-चादीके अधीन है जब उन्होंने देखाकि धात्विक द्रव्यमें अविनिमय साध्य नोटसे भी वस्तुए और सेवाए प्राप्त की जासकती है तो उनकी समझमें आनेलगा कि नोटमें विश्वास बनाये रखनेके लिए मूल बात यह है कि वह अन्य वस्तुओमें विनिमय साध्य बना रहे-अर्थात् उसके विनिमयमें अन्य वस्तुए प्राप्त होती रहें। द्रव्यसे हम यही चाहते है कि उसकी सहायतासे हमको वाछित वस्तुओको प्राप्त करनेमें सुविधा हो। जबतक द्रव्य से यह कार्य होता रहताहै तबतक द्रव्य किस पदार्थ का बना हुआहै इसका विशेष महत्व नही है। वह चाहे सोने का, चाहे चमडेका और चाहे कागजका ही बना हुआ क्यो नहो, यदि उसके बदलेमें हमको अन्य वस्तुए मिल सकतीहैं तो द्रव्यका कार्य चलता रहता है। इस विवेचनाके आधारपर हम एक महत्वपूर्ण निर्णयपर पहुचते हैं। वह यहकि द्रव्यकी क्रय-शक्ति अर्थात् अन्य वस्तुओंको प्राप्त करनेकी शक्ति उस पदार्थपर अवलम्बित नहीहै जिससे उसका निर्माण हुआ है। दस रुपये का नोट जिस कागजपर छापा गयाहै उसकी निजी क्रय-शक्ति लगभग कुछभी नहींहै परन्तु नोटकी क्रय-शक्ति तो बहुत है। कागज का नोट जिसकी स्वयकी कोई क्रय शक्ति नही और जिसके बदलेमें द्रव्याधिकारी सोना-चादी देनेको उद्यत नही किस कारणसे क्रय-शक्तिशाली होजाता है, उसका विवेचन बहुत महत्वपूर्ण है। एक कारण यहहै कि हम द्रव्यको अपने आर्थिक कार्योमें लानेके इतने अभ्यस्त होगये है और हमारी आर्थिक पद्धति इतनी द्रव्यमयी होगयी है कि विना द्रव्यके हम एक पगभी आगेको नही बढसकते हैं। अतएव किसी प्रकारकीभी द्रव्यमयी नहो

हमको उसका प्रयोजन है, उसका मूल्य और उसकी क्रय-शक्ति इस प्रयोजनसे उत्पन्न होजाती है। इसके अतिरिक्त राज्य-नियमोंके द्वारा प्रमाणित होनेके कारण हम इसको अस्वीकार नहीं करसकते हैं। अतएव जबतक राज्यकी प्रतिष्ठाहै और उसका दबदबा है तबतक उसके द्वारा प्रमाणित द्रव्य मूल्यवान रहेगा। यह दूसरी बातहै कि उसका क्या मूल्य होगा परन्तु कुछ न कुछ मूल्य अवश्यही रहेगा। इस प्रसगमें यह बातभी समझमें आजाती है कि द्रव्यमें विश्वास बनाये रखनेके लिए आवश्यकता इस बातकी है कि उसकी क्रय-शक्ति बनीरहे और उसमें स्थिरताभी रहे। यदि नोट द्रव्यमें इनदोनों बातोंका समावेश रहे तो इससे अधिक नोटसे प्राप्त करनेके लिए कुछ और बाकी नहीं रहजाता है। द्रव्यके मूल्यमें स्थिरताका महत्त्व और अस्थिरताके उत्पन्न होजानेके कारणोंकी विवेचना हम द्रव्यके अर्थके अध्यायमें करेंगे। यहापर इतना लिखदेना पर्याप्तहै कि अविनिमय-साध्य नोट द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनेके लिए द्रव्याधिकारियों को विशेष प्रबन्ध और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता होती है।

विनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्याधिकारियोंकी आर्थिक स्थितिके अनुसार द्रव्यके परिमाणको व्यवस्थित करनेमें कठिनता पडती है, अविनिमय-साध्य नोट पद्धतिमें द्रव्यके परिमाण को उत्पत्ति, व्यापार इत्यादिके अनुकूल बनानेमें सुविधा रहती है। परन्तु इस पद्धतिमें एक आशका यहहै कि सोने चादीकी शृंखलासे मुक्त होकर द्रव्य का परिमाण इतनी प्रचुरतासे बढादिया जाय जिससे द्रव्य स्फीतिकी अवस्था उत्पन्न होजाय। आर्थिक इतिहाससे पता चलताहै कि युद्धकालमें और अन्य आर्थिक सकटोंके अवसरोंपर प्राय: राज्य बहुत बडे परिमाणमें अविनिमय साध्य नोट छापकर चलनमें डालदेते हैं जिससे द्रव्यकी क्रय-शक्ति का ह्रास हो जाता है और आर्थिक अव्यवस्था उत्पन्न होजाती है। इससे इस निर्णय पर नहीं पहुचना चाहिए कि यह पद्धति ही दोषयुक्त है। आवश्यकता इस बातकी है कि बहुत सोच समझकर इस द्रव्य-पद्धतिको व्यवहारमें लाया जाय।

साख-द्रव्य

साख-द्रव्यसे हमारा अभिप्राय उस द्रव्यसे है जिसको चैकके द्वारा हस्तान्तरित किया

जाता है। इस द्रव्यका सम्बन्ध बैंकोंसे है। हम बैंकमें रुपया जमा करते हैं। वह हमारी धरोहर है जिसको हम बैंकसे वापस लेसकते हैं। एक धरोहर चालू-हिसाब वाली है तोहै जिसको कभी भी बिना पूर्वसूचनाके वापस लिया जासकता है। दूसरी प्रकारकी धरोहर एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास जमाकी जातीहै जिसको साधारणत. उस समयके बीतने परही वापस मांगाजा सकता है। इस धरोहरको द्रव्यके रूपमें काममें लाने का क्रिया चेक द्वारा होती है। चेकके द्वारा धरोहर रखने वाला बैंकको आदेश देताहै कि वह उसके धरोहरमें से चेकमें लिखी रकम नामांकित व्यक्तिको अथवा उसके आदेशानुसार किसी अन्य व्यक्तिको दे दे। चेकके द्वारा धरोहरके अन्तर्गत कोईभी रकम सुविधापूर्वक दी जासकती है। इसप्रबन्धमें धनको खोनेकी आशंकाभी नहीं रहतीहै क्योंकि वहतो बैंकमें सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त चेकबुक सरलतासे जेबमें लजायी जासकती है। यदि कोई व्यक्ति चेकके रूपमें अपना पावना स्वीकार करताहै तो उसके मूलमें साख और विश्वास रहता है। चेक तो राज-प्रमाणित द्रव्य नहीं है। यहभी होसकताहै कि जिस व्यक्तिने चेक दियाहै उसके नामपर बैंकमें धरोहर जमा न हो अथवा उपयुक्त मात्रामें नहो। अतएव जब हम चेक स्वीकार करतेहैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम चेक देनेवालेकी साखपर विश्वास रखते हैं। इसी कारणसे हमने इस द्रव्यको साख-द्रव्यका नाम दिया है।

साख-द्रव्य का सृजन

हम चेक द्वारा केवल उतनेही द्रव्यके परिमाणको हस्तान्तरित नहीं करसकते हैं जितना हमने धरोहरके रूपमें रखा है। यदि हम बैंकोंके लेनीदेनी के लेखोंको देखें तो हमको पता लगताहै कि इनमें दीगयी धरोहरका कुल परिमाण राज्यद्वारा प्रचलित द्रव्यके परिमाणसे कईगुना अधिक पाया जाताहै जबकि उस द्रव्यका एक बडा हिस्सा बैंकोंमें जमा नहीं कियाजाता है। इससे यह ज्ञात होताहै कि बैंक स्वयं भी साख-द्रव्यका सृजन करते हैं। यह कार्य दोप्रकार से होता है। जब बैंक ऋण देतेहैं तो ऋण लेनवालेको अधिकार देदेते हैं कि वह बैंकपर ऋणके परिमाण तक चेकलिख सकताहै और बैंक उनचेकोंका भुगतान करदेगा। जिसप्रकार बैंकमें धरोहर रखनेवाला अपनी धरोहरको बैंक द्वारा वापस लेसकता है अथवा हस्तान्तरित

करसकता है उसीप्रकार ऋण लेनेवाला भी ऋणकी मात्रा तक चेक द्वारा रुपया प्राप्त करसकता है। कल्पना कीजिए मोहनको इलाहाबाद बैंकने ५०००, रुपया ऋण देना स्वीकार किया। अब मोहन ५००० रुपया तकका भुगतान चेकके रूपमें करसकता है। इस द्रव्यसे भी विनिमयके माध्यमका कार्य उसीप्रकार सम्पादित होताहै जिसप्रकार धात्विक अथवा नोट-द्रव्य द्वारा होता है। ऋण देनेसे बैंकने ५००० रुपयके परिमाणका साख-द्रव्य चलनमें डालदिया और जब इस ऋणका भुगतान होजायगा तो यह द्रव्य चलनसे हट जायगा। ऋण देनेसे बैंकको ब्याज मिलताहै अतएव बैंक ऋण देकर अपने ऊपर देनीका भार बढाते हैं। इसप्रकार हम देखतेहैं कि जब जब बैंक नया ऋण देतेहैं तब तब साख-द्रव्यकी सृष्टि होती है। यदि पुराने ऋणके भुगतानसे नये ऋणका परिमाण अधिकहो तो चलनमें साख-द्रव्य की वृद्धि होगी। इसके प्रतिकूल यदि नये ऋणसे पुराने ऋणकी भुगतानकी मात्रा अधिकहो तो साख-द्रव्यका सकुचन होगा।

सिक्यूरिटिया मोल लेकरभी बैंक, साख-द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करसकते हैं। जिस मूल्यकी सिक्यूरिटिया हो उतनाही हिसाब सिक्यूरिटिया बेचनेवाले व्यक्तियो अथवा सस्थाओंके नाम अपने खातेमें जमाकर बैंक उनको अधिकार देतेहै कि वे उस परिमाण तक बैंकपर चेक लिख सकते है। इसीप्रकार अन्यकी सम्पत्ति मोल लेकर भी बैंक सम्पत्तिके बेचनेवालोके नाम बैंकमें धरोहर जमा करदेते है जिसको चेक द्वारा हस्तान्तरित किया जासकता है। जब जब बैंक सिक्यूरिटिया अथवा अन्य प्रकारकी सम्पत्तिका सग्रह करते है तब तब साख-द्रव्यकी सृष्टि होती है।

अब प्रश्न यह होताहै कि जितना धात्विक और नोट-द्रव्य बैंकके पास जमा किया जाताहै उससे अधिक मात्रामें बैंक किसप्रकार साख-द्रव्यको अवलम्बन देसकते है। हम पहिलेही लिखआये हैं कि साख-द्रव्य राज-प्रामाणित द्रव्य नहीहै और बैंकोंको सदैव इसके बदले राज-प्रामाणित द्रव्य देनेको प्रस्तुत रहना पडता है। वास्तवमें बात यहहै कि बैंकोंके द्वारा जिस परिमाणमें साख-द्रव्यका सृजन होताहै वह सबका द एक साथही राज-प्रामाणिक द्रव्यमें परिवर्तित होनेके लिए नही लायाजाता है। बैंकोमें जो धरोहर रखा जाताहै उसका साधारणत. केवल कुछही भाग राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें वापस कियाजाता है शेष भाग बैंकोमें ही पडा रहता है। इसीप्रकार ऋण देकर और सिक्यूरिटिया मोल लेकर जिस साख-द्रव्यकी सृष्टि होतीहै उसका

भी कुछ भाग तो राज-प्रामाणित द्रव्यमें मागा जाताहै और शेष भाग बैंकोमें ही एक आसामीसे दूसरे आसामियोंके नामपर जमाहोता है। उदाहरणके लिए मोहनने येजो ५००० रुपये इलाहाबाद बैंकसे ऋण लियाथा उसमेंसे यदि वह चेक द्वारा ५०० रुपये रामको हस्तान्तरित करताहै और राम उस चेकको अपने नामपर बैंकमें जमा करताहै तो रामके नाममें ५०० रुपयेकी धरोहर जमा होजाती है। अब यदि इस धरोहरमें से राम ५० रुपयेका चेक श्यामको देताहै और श्याम उस चेकको बैंकमें जमा करनेके लिए भेज देताहै तो बैंकके खातेमें रामकी धरोहरमें ५० रुपये को घटाकर श्यामकी धरोहरमें ५० रुपये जोड दियाजाता है। इसप्रकार राज-प्रामाणिल द्रव्यको बैंकोके कोषसे निकाले बिनाही लेन-देन का काम चलता रहता है।

इस विवेचनसे यह नही समझलेना चाहिए कि कुल साख-द्रव्य इसीप्रकार एक व्यक्ति अथवा सस्थाके नामसे अन्य व्यक्तियों अथवा सस्थाओके नामपर बैंकोके खातो में विचरता रहता है। इसका कुछ अशतो अवश्यही राज-प्रामाणिन द्रव्यके रूपमें मागा-जाता है। अनेक व्यक्तियोका बैंकोमें हिसाब नही रहता है। अतएव इनको जो चेक मिलतेहै उनको येलोग भुनालते है। इसके अतिरिक्त सभीलोग चेक लेना स्वीकार नही करते है। जैसे धोबी, नाई, सेवक, दूधवाला। इस प्रकारके लोगोको धात्विक अथवा नोटके रूपमें ही इनका पावना देना पडता है। इन कार्योंके लिए बैंकोसे राज-प्रामाणिन द्रव्य लेना पडता है।

अनुभवके द्वारा बैंकोको पता चलजाता है कि समय समयपर कुल साख-द्रव्यका कितना भाग राज-प्रामाणिल द्रव्यके रूपमें मागाजाता है। यदि पाचवा भाग मागा जाय तो बैंकोको कुल साख-द्रव्यका २० प्रतिशत राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें रखना पडेगा और यदि दसवा भाग मागाजाय तो बैंकोको केवल १० प्रतिशत इस रूपमें रखना होगा। इस विवेचनसे हमको यहभी ज्ञात होजाता है कि बैंक किस सीमातक साख-द्रव्यकी सृष्टि करसकते हैं। बैंक जिस परिमाणमें साख-द्रव्यकी वृद्धि करतेहैं उसी परिमाणमें वे अपने को राज-प्रामाणिल द्रव्य देनेका देनदार बनाते रहते है। अब चूंकि बैंकोंके पास राज-प्रामाणित द्रव्य सीमित परिमाणमें रहता है अतएव वे अपरिमित परिमाणमें साख-द्रव्य चलनमें नही डालसकते है। यदि साख-द्रव्यके स्वामी उसका दसवा भाग राज-प्रामाणित द्रव्यमें मागतेहै तो जितना राज-प्रामाणित

द्रव्य बैंकोंके पासहै उसके दसगुने तक साख-द्रव्यके सृजनकी सीमा होजायगी। इससे अधिक सृजन करनेपर बैंक राज-प्रामाणित द्रव्य देनेमें असमर्थ होजायगे। इससे यह परिणाम निकलताहै कि बैंकोंकी साख द्रव्य सृजनकी शक्ति दो मुख्य बातोंपर निर्भर रहती है। एकतो यहहै कि उनके पास राज-प्रामाणित द्रव्यका कोष कितनाहै और दूसरा इस द्रव्यका साख-द्रव्यसे क्या अनुपात आवश्यक है।

किसी समयविशेषमें साख-द्रव्य किस परिमाणमें होगा यह केवल पूर्वोक्त दो बातोंपर ही निर्भर नही करता है। यदि आर्थिक अवस्थामें मन्दी छायीहो तो ऋणकी माग घटजाती है अतएव साख-द्रव्यका परिमाणभी घटजाता है आर्थिक सकटकाल में बैंकभी ऋणदेना पसन्द नही करते हैं। केन्द्रीय बैंकभी अपने उपकरणोंके प्रयोग से साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रित करते रहते है।

२३

द्रव्य पद्धतियां

द्रव्य पद्धतियों के प्रकार

भिन्न भिन्न देशोंमें भिन्न भिन्न समयोंमें भिन्न भिन्न द्रव्य-पद्धतियोंका चलन रहा है। इनको हम दो मुख्य विभागोंमें बाट सकते है। पहिले विभागमें धात्विक द्रव्य-पद्धतिया है और दूसरे विभागमें अविनिमयमाध्य द्रव्य-पद्धतिया। धातु-पद्धति में केवल एक धातु सोना अथवा चादी प्रामाणिक माना जासकता है अथवा दोना धातु साथ साथ प्रामाणिक माने जासकते हैं। पहिलेको एक धातु-पद्धति और दूसरेको द्विधातु-पद्धति कहते हैं। एक धातु पद्धतिमें सोना अथवा चादी प्रामाणिक द्रव्यके काममें लायेजाते हैं। इनमेंसे स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वय तीन रूपमें रही है:

१ स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति।

२ अमुद्रित स्वर्ण-पद्धति।

३ स्वर्ण-विनिमय-पद्धति।

चादीवाली द्रव्य-पद्धतिके भी इसीप्रकार तीनरूप होसकते है। परन्तु व्यवहारमें यह मुद्रा पद्धतिके रूपमें ही रही है। भारतमें १८३५ से १८६२ तक यही पद्धति रही है। द्विधातु पद्धतिके भी दोभाग किये जासकते है। एक स्थिति तो शुद्ध द्विधातु-पद्धतिकी है जिसमें सोना और चादी दोनोंकी मुद्राओंको प्रामाणिक मानाजाता है और दोनोंकी ढलाई अमर्यादित परिमाणमें होती है, दूसरी अवस्था वैहहै जिसमें दोनों धातुओंकी मुद्रायें चलनमें तो रहतीहै किन्तु केवल सोनेकी मुद्राओंको अमर्यादित परिमाणमें ढलवाया जासकता है। चादीकी मुद्राओंका स्वतन्त्र रूपसे ढलवाना बन्द करदिया जाता है। इस प्रकारकी द्विधातु-पद्धतिको हम अपूर्ण द्विधातु-पद्धति कहेंगे।

द्विधातु-पद्धति

किसी समय यूरोप और सयुक्तराज्य अमेरिकामें द्विधातु-पद्धतिको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। परन्तु अब इसका द्रव्य सम्बन्धी विवेचनमें नामभी नही लियाजाता। अतएव हम इस पद्धतिका विवेचन सक्षेपमें ही करेंगे। इस पद्धतिमें राज्यकी ओर से दोनो धातुओंकी प्रामाणिक मुद्राओंको अमर्यादित रूपमें ढलवानेका प्रबन्ध रहता है और दोनोकी टकसाली दरभी राज्यद्वारा निर्धारित रहती है। द्विधातुवादी लोगोंके अनुसार सोने और चादीकी सम्मिलित वार्षिक उत्पत्तिमें इतनी घटबढ नही होती जितनीकि केवल चादी अथवा सोनेकी उत्पत्ति में। अतएव द्विधातु द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यके परिमाणमें और उसके विनिमय-मूल्यमें भी इतनी अस्थिरता नही होनेपावेगी जितनीकि एकधातु द्रव्य पद्धतिमें। यह तर्क ठीक नही है। पहिलेतो सोनेचादी की उत्पत्तिमें एकही दिशामें परिवर्तन होनेकी सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त द्रव्यके मूल्यमें परिवर्तन केवल सोने अथवा चादीके परिमाण परही अवलम्बित नही रहता और जैसा हम 'द्रव्यका विनिमय-मूल्य' नामक अध्यायमें बतायेंगे, द्रव्यके विनिमय-मूल्यका आधार केवल उसका परिमाण ही नही होता।

कहाजाता है कि द्विधातु-पद्धतिमें सोनेचादीके पारस्परिक मूल्यमें स्थिरता लानेकी सम्भावना रहतीहै जिसके फलस्वरूप सोनेवाली द्रव्य-पद्धतिके देशों और चादीवाले द्रव्य-पद्धतिके देशोंकी विदेशी विनिमयकी दरमें स्थिरता आनेकी सम्भावना होजाती है। इस प्रभावको द्विधातुवादी क्षतिपूरक सिद्धान्त द्वारा सिद्ध करते है। मानलीजिए द्विधातु पद्धतिके अन्तर्गत किसी कालमें सोने और चादीकी पारस्परिक दर इस प्रकारकी है कि सोनेकी एक मुद्राका मूल्य उसी तोलकी २० चादी की मुद्राओंके बराबर है, और यहभी मानलीजिए कि उस कालमें बाजारमें भी यही दर है। अब यदि बाजारमें चादीके प्रचुर मात्रामें आजानेके कारण सोने और चादीके मूल्यका अनुपात १:२० से घटकर १:२१ होगया तो क्षतिपूरक सिद्धान्तके अनुसार यह बदलाव टिकाऊ नही होगा। चूकि चादी अमुद्रित रूपकी अपेक्षा मुद्रित रूपमें अधिक मूल्यवान होगयी है और सोना मुद्रित रूपकी अपेक्षा अमुद्रित रूपमें अधिक मूल्य रखता है, अतएव लोग चादीको तो मुद्राओंके रूपमें परिवर्तित करने लगेंगे और सोनेकी मुद्राओंको पिघलाकर अमुद्रित रूपमें रखेंगे। इसका परिणाम

यह होगा कि बाजारमें चादीका परिमाण कम और सोनेका अधिक होनेसे उनमें १:२० का अनुपात पुन: स्थापित होने लगेगा। इस तर्कमें कुछ सार अवश्यहै परन्तु सोने और चादीके पारस्परिक मूल्यको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि अनेक देशोमें द्विधातु-पद्धति चलनमें हो और ये देश सहकारितासे सोने और चादीकी टकसाली दर नियत करें और उसको बनाये रखनके लिए चेष्टा करें। यदि विशेष कारणसे किसी एक धातुका मूल्य और उसकी माग गिरती जारही है, तो टकसाली दरमें भी परिवर्तन करना आवश्यक होजायेगा।

द्विधातुवादमें एक विशेष त्रुटि यहहै कि जब जब सोने और चादीके टकसाली और बाजार दरमें भिन्नता आजाती है तब तब उस धातुकी मुद्रा जिसका बाजारमें अधिक मूल्य रहता है, चलनसे लुप्त होनेलगती है और चलनमें वही मुद्रा रहजाती है जिसका बाजारभाव गिरगया हो। इसप्रकारकी परिस्थितिमें चलनमें कभी केवल चादीकी ही और कभी केवल सोनेकी ही मुद्रायें पायीजाती है।

ग्रेशम-नियम

इगलैंडके एक वाणिज्य-मत्री सर टौमस ग्रेशमने इस सम्बन्धमें एक सिद्धान्त प्रतिपादित कियाहै जिसको ग्रेशम-नियम कहते है। इसके अनुसार जब अच्छी और बुरी दोनों प्रकारकी मुद्राओंका चलन हो, तो अच्छी मुद्राए चलनसे लुप्त होने लगतीहैं और बुरी मुद्राए चलन में रहजाती है। यहबात प्रत्यक्ष देखीगयी है कि लोग पूरी तौलवाली नयी मुद्राओंका सग्रह करतेहै, उनको पिघलातेहै अथवा दूसरे देशोंमें भेजते है जहा उनमें स्थित धातुका मूल्यही मान्य होता है और चलनमें पुरानी, घिसी अथवा कटीहुई मुद्राए रहजाती है। द्विधातुवादमें जिस धातुकी बाजार दर गिरजाती है उस धातुकी मुद्रातो चलनमें रहतीहै और जिस धातुकी दर टकसाली धातुसे अधिक रहतीहै उसकी मुद्राए चलनमें लुप्त होने लगती है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति

एक धातु-पद्धतिमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। २० वर्ष

पहिले तक यह पद्धति प्राय: सभी उन्नतिशील देशोंमें किसी न किसी रूपमें व्यवहार में रही है। आजभी अनेक व्यक्ति इसके समर्थक है। अतएव हम इस पद्धतिकी विवेचना कुछ विस्तारसे करेंगे। वैसेतो सोनेकी मुद्राए प्राचीन कालमें भी अनेक देशोमें रहीहै परन्तु पद्धतिके रूपमें इसका विकास इगलैडमें १९वी शताब्दीके पूर्वार्द्धमें हुआ और इस शताब्दीके समाप्त होते होते ससारके अनेक देशोने इसे अपना लिया।

स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति

प्रारम्भमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-मुद्रा-पद्धतिके रूपमें चलनमें रही। ऐसी पद्धति में राज्य द्वारा निर्धारित तौलकी सोनेकी मुद्रा प्रामाणिक निश्चित करदी जातीहै और जनसाधारण को स्वाधीनता रहतीहै कि वे किसीभी परिमाणमें राज्यकी टकसालमें अमुद्रित सोनेकी प्रामाणिक मुद्राए ढलवा सकते है। इन मुद्राओंको पिघला कर अमुद्रित रूपमें रखनेकी और सोनेके आयात निर्यातकी स्वतन्त्रता रहती हैं। चलनमें जो अन्य प्रकारका राज्य प्रमाणित द्रव्य, साकेतिक मुद्रा अथवा नोटके रूपमें रहताहै, इसके बदलेमें राज्य एक पूर्वनिर्धारित दरसे स्वर्णमुद्रा देनेको बाध्य रहता है जिसके लिए उसे स्वर्णमुद्राकोष रखना पैड़ता है।

इस प्रकारकी पद्धतिका काल प्रथम महायुद्धके पहिलेका मानाजाता है। युद्ध कालमें सयुक्त राज्य अमेरिका के अतिरिक्त प्राय सभी राज्योंने स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति के चलनको स्थगित करदिया था। नोट और साकेतिक मुद्राए अविनिमय-साध्य होगयी। युद्धकालमें और युद्धके पश्चात् अनेक देशोकी द्रव्य-पद्धतिया भिन्न भिन्न होगयी थी। अतएव इनके पुनर्निर्माण कार्यकी आवश्यकता पडी। दो अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्मेलन सन् १९२० और सन् १९२२ में ब्रुसेल्स और जिनेवामें हुए जिनमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का पुनरुद्धार करना निश्चित हुआ।

अमुद्रित-स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति

युद्धकालकी एव युद्धपूर्वकी स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें कुछ त्रुटिया पायीगयी थी। एकतो यहकि सोनेकी मुद्राओंको ढलवानेमें व्यय होता है। आर्थिक साधनोको इस कार्यमें

लगाना पडता है। दूसरे, चलनमें रहनेके कारण, घिसनेसे भी धातुकी हानि होती है। तीसरे, यहकि इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनानेमें कठिनाई होती है। अनुभवसे यहभी ज्ञात हुआ कि देशके भीतर चलनके कार्यके लिए स्वर्ण-मुद्राकी कोई आवश्यकता नही होती, विनिमयके कार्यके लिए कागजकी बनी मुद्रा अर्थात् नोटसे भी काम चलसकता है जैसाकि युद्धकालमें हुआ था। अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन की विषमता दूर करनेके लिए धातुकी मुद्राकी कोई आवश्यकता नही होती। अतएव युद्धकालके बाद जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित हुई उसको अमुद्रित स्वर्ण-पद्धतिका नाम दिया गया। इसके अन्तर्गत चलनमें तो नोट और साकेतिक मुद्राए रही, परन्तु इनके बदलेमें द्रव्याधिकारी स्वर्ण-मुद्राए देनेको बाध्य नही थे। स्वर्ण मुद्राके स्थानपर अमुद्रित स्वर्ण एक निर्धारित दरसे दियाजाता था। किसी किसी देशमें इसप्रकार का प्रबन्ध हुआ कि स्वर्ण एक विशेष परिमाणसे कम परिमाणमें नही दियाजाता था। इसका यह उद्देश्य था कि द्रव्याधिकारियोके पासजो स्वर्णकोष जमा रहताथा उसका प्रयोग देशके भीतरके कार्योंके लिए नही बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय कार्योंके लिए कियाजाये। अमुद्रित स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति से कम व्ययवाली हुई। परन्तु स्वर्णकोष की आवश्यकतातो इसमेंभी बनी रहती है और द्रव्यका परिमाणभी इस कोषसे सलग्न रहता है।

स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति

युद्धकालके बाद कुछ देशोने स्वर्ण-विनिमय-पद्धतिको ग्रहण किया। इस पद्धतिवाले देशोको न तो स्वर्ण मुद्राओको चलनमें लाना पडता है और न अन्य प्रकारके द्रव्यके बदलेमें अमुद्रित सोना देना पडता है। देशके द्रव्यके बदलेमें राज्य किसी ऐसे देशके द्रव्यको देनेकी प्रतिज्ञा करताहै जिसमें स्वर्ण-मुद्रा अथवा अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धतिका चलन हो। भारतमें प्रथम महायुद्धके पूर्व एक प्रकारसे स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धति थी। रुपयेके बदले भारत सरकार १ शि० ४पे० की दरसे स्टर्लिंग (इगलैंडका द्रव्य) देनेको उद्यत रहतीथी और स्टर्लिंग सोनेकी मुद्रामें परिवर्तनशील था। इसप्रकार की द्रव्य-पद्धतिमें अप्रत्यक्ष रूपसे स्थानीय द्रव्यके बदलेमें एक निर्धारित दरपर सोना मिल सकताथा। इस पद्धतिको कार्यान्वित करनेके लिए राज्यको स्वर्ण-पद्धति

वाले देशके द्रव्यका कोष उस देशमें जमा करना पडताहै जिसमेंसे अपने देशवासियो को स्थानीय द्रव्यके बदलेमें विदेशी द्रव्य दिया जासके। भारत सरकार इस कार्यके लिए इगलैंडमें एक स्टर्लिग-कोष रखती थी।

स्वर्ण-विनिमय द्रव्य-पद्धति अन्य दोप्रकार की स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतियोंसे कम व्यय वालीहै क्योंकि इसमें सोनेकी मुद्राओंके ढलवानेका व्यय नही होता और मुद्राके धिसनसे धातुकी हानिभी नही होती। अतएव इस पद्धतिको पिछडेहुए अथवा हारे हुए देशोंने ग्रहण किया। मितव्ययिता ही इसका एकमात्र गुण है। इसके अतिरिक्त इसमें अनेक त्रुटिया एव आपत्तिया है। पहिल तो, जबतक कोईभी देश स्वर्ण-द्रव्य अथवा समुचित स्वर्ण-पद्धतिवाला न हो, तबतक स्वण-विनिमय-द्रव्य पद्धतिको चलनमें लायाही नही जासक्ता। इसीसे पता चलजाताहै कि यह पद्धति स्वतन्त्र नही होसक्ती। इसकी पराधीनता उस द्रव्यसे होजाती है जिसको इसके द्रव्याधिकारी देनेका वचन देते है। यदि विदेशी पद्धति स्वर्ण-पद्धतिसे अलग करदी गयी तो स्वर्ण-विनिमय द्रव्य-पद्धतिका स्वयमेव अन्त होजाता है। इसके अतिरिक्त यदि विदेशी द्रव्य-पद्धतिके स्वर्णाधारको छोडनेके कारण उसके द्रव्यके मूल्यमें ह्रास होजाय, तो स्वर्ण-विनिमय-मुद्रा-पद्धतिवाले देशमें जो विदेशी द्रव्यका कोष रहताहै, उसके मूल्य में भी ह्रास होजाता है। सन् १९३१ में जब इगलैंडने अमुद्रित-स्वर्ण-पद्धतिका त्याग किया उसी समयसे भारतकी द्रव्य-पद्धति स्वर्ण-विनिमय-द्रव्य-पद्धतिमे बदल कर केवल स्टर्लिग-विनिमय-द्रव्य-पद्धति रहगयी और स्टर्लिगके मूल्यमें ह्रास होने के कारण हमारे स्टर्लिग कोषको भी भारी क्षति पहुची।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के गुण और दोष

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका एकगुण यह बताया जाताहै कि चूकि इस पद्धतिमें द्रव्य या तो सोनेका बनाया जाताहै अथवा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपमें सोनेमें एक निर्धारित दर पर विनिमय शील रहताहै। अतएव जनताका इस पद्धतिपर विश्वास बना रहता है। पूर्वकालमें जबकि किसी मूल्यवान पदार्थसे बनेहुए द्रव्यकी ही अच्छा द्रव्य समझा जाताथा इस तर्कमें कुछ सार रहाहोगा परन्तु आधुनिककालमें तो हम देखतेहैं कि द्रव्यके कार्यको सम्पादित करनेके लिए यह आवश्यक नहींहै कि द्रव्य सोने जैसी बहु-

मूल्य धातुका बनाहो। जहांतक विश्वासका प्रश्नहै, जबतक द्रव्यके बदलमें अन्य वस्तुए और सेवाए मिलती रहेंगी, तबतक उस द्रव्यमें विश्वास बनारहेगा। अतएव विश्वास बनाये रखनेके लिए द्रव्यकी क्रय-शक्तिको बनाये रखनाहै न कि उसको सोनेका बनाना।

यहभी कहा जाताहै कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीतिका भय नही रहता और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें भी अधिक परिवर्तन नही होता। चूकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके परिमाणसे सलग्न रहताहै और सोनेका परिमाण सहसा प्रचुरतासे बढाया नही जासकता, अतएव यह ठीक प्रतीत होताहै कि इस पद्धतिमें एकबारगी द्रव्य-स्फीतिकी आशका नही रहती। परन्तु यदि सभी स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश सोनेका भाव बढादें तो उतनेही परिमाणके स्वर्ण-कोष के आधारपर वह अधिक नोट प्रचलितकर द्रव्य-स्फीतिकी अवस्था उत्पन्न करसकते है। जहातक इस पद्धतिमें द्रव्य-मूल्यकी स्थिरताका प्रश्नहै उसका खडन हम १९२९-१९३२ के विश्वव्यापी आर्थिक सकटके उदाहरणसे करसकते है। सन् १९२९ के बाद मूल्य-स्तर गिरनेलगा और द्रव्यका विनिमय-मूल्य बढनेलगा जबकि ससारके सभी राज्योंमें स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रचलित थी। इससे हम इस परिणामपर पहुचतेहै कि द्रव्यका विनिमय मूल्य केवल द्रव्यके परिमाणपर ही अवलम्बित नही रहता बल्कि इसको निर्धारित करनेमें अन्य कारणोंका भी हाथ रहताहै जिनका विवेचन हम 'द्रव्य का विनिमय-मूल्य' वाले अध्यायमें करेंगे।

इस पद्धतिमें एक बडा लाभ यहहै कि विदेशी-विनिमयकी दरमें स्थिरता आजाती है। यदि अनेक राज्य अपने अपने द्रव्यमें सोनेका भाव निर्धारित करदें और इस भावपर बरोकटोक सोना बेचने और मोल लेनेको बद्ध हो और सोनेके आयात-निर्यातपर कोई प्रतिबन्ध न लगायें, तो ऐसी स्थितिमें स्वर्ण-द्रव्यवाले देशोंके द्रव्यमें विदेशी विनिमयकी दर स्वयमेव निर्धारित होजायेगी और उसमें बहुत कम परिवर्तनकी आशका रहेगी। उदाहरणके लिए मान लीजिए भारत और इगलैंडमें स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिका चलनहै और भारत सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १०० रुपया निर्धारित करतीहै और इगलैंडकी सरकार एकतोले सोनेका मूल्य १५० शि०। ऐसी अवस्थामें स्वयमेव भारत और इगलैंडकी विदेशी विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ६ पे० हुई। इस दरको 'टकसाली विनिमय-दर' कहते हैं। जबतक भारत और

इगलैडकी सरकार सोनके इस निर्धारित भावको बनाये रखेंगी, तबतक विदेशी विनिमय-दर १ रु० = १ शि० ६ पे० के आसपास रहेगी। आसपास इसलिए कहा गयाहै कि व्यवहारमें एक सङ्कुचित सीमाके अन्तर्गत जिसको स्वर्ण-आयात और स्वर्ण-निर्यात मर्यादा कहतेहैं, इस दरमें परिवर्तन होसक्ता है। सोनेको एक देशसे दूसरे देश भेजनेमें जो व्यय होताहै और उस अवधिमें जो ब्याजकी हानि होती है, उससे इस मर्यादाकी सीमा निर्धारित होती है। उदाहरणके लिए यदि १ रु० के मूल्यके सोनेको भारतसे इगलैड भेजनेमें १/४ पे० व्यय होताहै तो स्वर्ण-आयात और निर्यातकी मर्यादा १ शि० ६ १/४ पे० और १ शि० ५ ३/४ पे० हुई और इन दो देशोंमें विनिमयकी दर इस मर्यादाके बाहर नही जासकती।

विदशी विनिमयके प्रकरणमें स्वर्ण-पद्धतिको अन्तर्राष्ट्रीय कहाजाता है क्योकि जो जो राष्ट्र इस पद्धतिको ग्रहण करतेहैं उनमें वस्तुत: एकही प्रकारका द्रव्य हो जाता है, चाहे विभिन्न देशोंमें उस द्रव्यके भिन्न भिन्न नाम हो (सावरिन, फ्राक, डालर आदि)। अब हम यह बतानका प्रयत्न करेंगे कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशोंके द्रव्योंकी विनिमय-दर स्वर्ण-आयात और निर्यातकी मर्यादाके अन्दरही क्यो रहती है। मान लीजिए इस द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीके सम्बन्ध में भारत इगलैडका ऋर्णा बनजाता है और तदनुसार भारतवासियो की इगलैडके द्रव्य स्टर्लिंगकी माग बढजाती है। यदि माग इतनी बढीहुई है कि १ शि० ६ पे० प्रति रु० के हिसाबसे उसकी पूर्ति नही होपाती तो विदेशी-विनिमयके विक्रेता एक रु० के बदलेमें १ शि० ६ पे० से कम परिमाणमें स्टर्लिग देने लगेंगे। जब यह दर गिरते गिरते १ शि० ५ ३/४ पे० पर पहुच जातीहै तो इससे नीचे जानेपर भारत से सोनेका निर्यात प्रारम्भ होजायेगा। इसका कारण यहहै कि भारत-सरकार एक रु० के बदलेमें इतने परिमाणमें सोना देनेकी बाध्यहै कि जिसमें से भारतसे इगलैड भेजनेका व्यय निकालकर इगलैडमें १ शि० ५ ३/४ पे० मिलसकते है। अब यदि विदेशी विनिमयके विक्रेता एक रु० के बदलेमें उक्त स्टर्लिंगसे कमदें तो यहाके ऋणी वर्गको सरकारसे सोना लेकर इगलैड भेजनेमें अधिक लाभ होगा। अतएव १ शि० ५ ३/४ पे० से नीची विदेशी-विनिमय-दर नही होने पायेगी।

इसके प्रतिकूल यदि लेनी देनीके मदोके सम्बन्धमें इगलैडका भारतके प्रति दायित्व अधिकहै तो रु० की माग अधिक होने लगेगी और रु० की विदेशी-विनिमय दर

१ शि० ६ पे० से ऊची उठने लगेगी। परन्तु १ शि० ६ १/४ पे० पर पहुचनेपर यह वृद्धि रुकजायेगी, क्योंकि इससे ऊचीदर होनेपर इगलैडसे भारतको सोना भेजना सस्ता पडेगा इसका कारण यहहै कि इगलैडसे भारतको सोना भेजनेका व्यय जोडकर १ शि० ६ १/४ पे० में इतना सोना इगलैड वासियोको अपनी सरकारसे मिलजाता है जिससे उनको भारतमें १ रु० प्राप्त होजाता है। अतएव वे एक रु० प्राप्त करने के लिए १ शि० ६ १/४ पे० से अधिक स्टर्लिंग नही देंगे। १ शि० ६ १/४ पे० की मर्यादा भारतके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा हुई।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति के व्यावहारिक नियम

उपरोक्त व्याख्यासे यह सिद्ध होजाता है कि स्वर्ण-द्रव्य पद्धति वाले देशोकी विदेशी विनिमय-दर स्वर्ण-आयात-निर्यात मर्यादाके अन्तर्गत रहती हैं। इस पद्धतिके अनुयायी यहभी बताते है कि सोनेके आयात और निर्यातसे अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीका सन्तुलनभी यथार्थ होजाता है। इस सन्तुलनको पुन प्राप्त करनेके लिए जो आर्थिक क्रियाए इन देशोमें चरितार्थ होती है, उनके आधारपर स्वर्ण द्रव्य पद्धति के व्यावहारिक नियम बनाये गये है जिनका पालन करना इन देशोका धर्म होजाता है। मान लीजिये भारतको लेनीदेनी की विषमताके कारण इगलैडको पर्याप्त मात्रा में सोना भेजना पडा। चूकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें द्रव्यका परिमाण सोनेके कोष से सम्बद्ध रहताहै, अतएव सोनेके आधारकी क्षति होनेके कारण चलनमें द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। यह कमी निर्यात किये सोनेके मूल्यसे कही अधिक होगी क्योंकि प्रचलित द्रव्यका आशिक मूल्यही स्वर्णके रूपमें कोषमें रहता है। यदि कोषमें एक स्वर्ण मुद्राके आधारपर चलनमें पाच नोट प्रचलितहै तो कोषमे एक मुद्राकी क्षति होनेपर सोना और चलनमें स्थित द्रव्यका अनुपात बनाये रखनेके लिए पाच नोटोको चलनसे निकालना पडेगा। (यहापर हमने यह मानलिया है कि कोषमें अतिरिक्त सोना नही है) अब यदि भारतसे इगलैडको सोना निर्यात होने लगा तो यहा चलनमें द्रव्यका सकुचन होने लगेगा। इसके फलस्वरूप यहाके आय-स्तर और मूल्य-स्तर गिरने लगेंगे। आयका स्तर गिरनेसे यहाके लोग इगलैडसे उतने परिमाणमें सामान नही मोल ले सकेंगे जितना पहिले लिया करते थे। अतएव भारतमें

इगलेंड की वस्तुओंका आयात कम होजायेगा। इसके अतिरिक्त मूल्य-स्तरमें कमी आनेके कारण भारतकी वस्तुओंकी माग इगलेंडमें बढने लगेगी। भारत अधिक मात्रा में स्टर्लिंग उपार्जन करने लगेगा और उसकी स्टर्लिंगकी मागमें कमी आने लगेगी। इसप्रकार भारत और इगलेंडके बीच लेनीदेनी का सन्तुलन ठीक होने लगेगा। इस सन्तुलनेको वापस लानेकी क्रियाके विवरणको पूरा करनेके लिए हमको, इगलैंडमें सोनेके आयातका क्या आर्थिक प्रभाव पडा इसका भी विश्लेषण करना पड़ेगा। इगलैंडमें जो सोना पहुचा उसके आधारपर चलनमें द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि आ जायेगी। इसके परिणामस्वरूप वहाके आय-स्तर और मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगेगी। आय-स्तरमें वृद्धि होनेसे इगलेंड वाले भारतसे अधिक मात्रामें सामान मोल लेने लगेंगे और मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेके कारण इगलैंडकी वस्तुओंका निर्यात भारत को कम मात्रामें होगा। इससेभी भारत और इगलैंडके बीच लेनीदेनीके सन्तुलनको पुन: प्राप्त होनेमें सहायता मिलेगी।

अब हम स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके व्यावहारिक नियमोंका प्रतिपादन करसकते हैं। पहिला नियम यहहै कि जिस देशसे द्रव्य-सम्बन्धी सोनेका निर्यात होताहै, उस देश केद्रव्य-प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणको सकुचित करनेकी नीतिका अवलम्बन करें और जिस देशमें इस सोनेका आयात होताहै वहाके द्रव्य-प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणका विस्तार करें। दूसरा नियम यहहै कि जिस देशसे सोना बाहर गयाहो, उस देशमें लागत आय और मूल्य-स्तरोंमें कमी आने दीजाये और जिस देशमें सोना आयाहै उस देशमें लागत, आय और मूल्य-स्तरोंमें वृद्धि होने दीजाये। इस प्रवृत्तिको कार्यान्वित करनेके लिए स्वर्ण निर्यातवाले केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दर बढा देते हैं और स्वर्ण-आयात वाले देशके केन्द्रीय बैंक ब्याजकी दर कम करदेते हैं।

उपरोक्त विवेचनसे एकबात तो स्पष्ट होजाती है कि स्वर्ण द्रव्यवाले देशोको विदेशी विनिमयकी दरकी स्थिरता को बनाये रखनेके लिए और लेनीदेनीके सन्तुलनको प्राप्त करनेके लिए अपनी आर्थिक व्यवस्थामे द्रव्य-सकुचन और द्रव्य स्फीति का प्रादुर्भाव और उससे उत्पन्न आर्थिक अस्थिरता को स्वीकार करना पडता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके गुणोकी विवेचना करनेपर पता चलताहै कि इन गुणोमें अपवादभी विद्यमान हैं। इन अपवादोंके अतिरिक्त इस पद्धतिमें प्रधान त्रुटि यह

है कि इसके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणको बदलती हुई आर्थिक स्थितिके अनुकूल करनेमें सुविधा नही रहती है। हम ऊपर बताचुके है कि इस पद्धतिवाले देशोको विदेशी विनिमयकी दर बनाये रखनेके लिए एक बडा मूल्य देना पडताहै और यह मूल्य आन्तरिक आर्थिक व्यवस्थामें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति का अन्त

सन १९३१ में इंगलैडने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका परित्याग किया और धीरे धीरे सभी देशोंने इसका अनुसरण किया। इसके तीन प्रधान कारण है। एक कारण यहहै कि इस पद्धतिके निर्बाधित रूपसे चलनेके लिए जिस आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता होतीहै, वह वातावरण प्रथम महायुद्धके बादकी आर्थिक पद्धतिमें न प्राप्त होसका। दूसरा कारण यहहै कि इस कालमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी की विषमता इतनी अधिक होगयी कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति उसके भारको सहन करनेमें असमर्थ प्रतीत होनेलगी और तीसरा कारण यहथा कि कोईभी देश अपनी आर्थिक व्यवस्थाको अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण-पद्धतिके नियमोके आधीन करनेको प्रस्तुत नही था।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके ठीक प्रकारसे कार्य करसकनेके लिए यह आवश्यकहै कि सोनेके आयात और निर्यातका पूरा प्रभाव इन देशोंकी आन्तरिक आर्थिक स्थितिपर पडने दियाजाये और आय, लागत तथा मूल्यके स्तरोको तदनुसार बढाया अथवा घटाया जाये। परन्तु इस कालमें जिन देशोंसे सोना बाहर जाने लगा, उन देशोने इस आशका से कि उनमें बेकारी और आर्थिक मन्दी न आजाये द्रव्यके परिमाण और मूल्य-स्तरोमें कमी नही आने दी। और जिन देशो को सोना प्राप्त हुआ, उन देशोने भी द्रव्य-स्फीति की आशका से द्रव्यके परिमाण एव मूल्य-स्तरोमें वृद्धि नही होने दी। इसके अतिरिक्त आर्थिक व्यवस्थामें भी महायुद्धके पहिलेकी स्थिति नही रह गयीथी जिसमें लागत व्यय और मूल्योको सुगमतासे बदला जासके। मजदूर सघ और एकाधिकारियोका प्रभुत्व बढता जारहा था। स्वर्ण-पद्धतिमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनी का सन्तुलन बनायेरखने का मार्ग केवल मुक्त-द्वार व्यापार-नीति है। परन्तु इस कालमें साहूकार देशो ने ऋणी देशोंसे वस्तुओके रूपमें अपना पावना लेनेसे इन्कार कर दिया और सोनेके रूपमें लेनेका आग्रह किया। ऋणी देशोने

अपनी विदेशी देनदारी कम करनेके लिए आयात-कर लगाकर आयातका परिमाण घटानेकी चेष्टाकी और साहूकार देशोने भी इसके प्रत्युत्तरमें आयात-करोकी स्थापना और वृद्धि करदी। इसके फलस्वरूप एक देशसे दूसरे देशोको आयात निर्यातके परिमाणोमें परिवर्तन होनेसे जो सन्तुलन होनेकी प्रवृति होतीथी, उसका विरोध होने लगा।

इस कालमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देनके परिमाणमें भी बहुत वृद्धि हुई। इसका एक कारण यहथा कि यूरोपके कई देशोको जो युद्धके कारण गिरी अवस्थामें थ, सम्पन्न राज्योने (जैसे सयुक्त राज्य अमेरिका) आर्थिक निर्माण कार्यके लिए ऋण दिया। इसका कारण यहथा कि अल्पकालीन पूजीमें ब्याजकी दरमें असमानताके कारण अथवा आर्थिक दुरावस्थासे रक्षाके निमित्त बहुत शीघ्रतासे बडी मात्राम एक देश से दूसरे देशको भेजी जानेकी प्रवृत्ति होन लगी थी। इसके अतिरिक्त युद्ध सम्बन्धी ऋण और क्षतिपूरक धनको देनेका परिमाणभी बहुत बढगया था। इन कारणोसे स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिपर बहुत भार पडने लगा जिसका वहन करना उसके लिए दुष्कर होगया।

युद्धके पश्चात् प्रत्येक देशको अपने स्वार्थकी ही चिन्ता थी। सभीको आर्थिक साधनोको पूर्ण रूपसे काममें लाकर राष्ट्रीय आयको बढाना और जीवन-स्तरको ऊचा करना था। अतएव विदेशी विनिमयकी दरकी स्थिरताकी अपेक्षा आर्थिक स्तरकी स्थिरताको अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जानेलगा था। यही कारणथा कि जिसके परिणाम स्वरूप स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके व्यावहारिक नियमोकी अवहेलना होने लगी। अर्थशास्त्रियो और राज्य-प्रबन्धको को यह विश्वास होगया कि स्वर्ण पद्धति प्रतिबन्धोके अन्तर्गत आर्थिक विकास और स्थिरता प्राप्त करनेमें बहुत कठिनाइया है।

अविनिमय-साध्य प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति

द्रव्य-पद्धतिमें एक विशेष गुण यह होना चाहिए कि उसको सुगमतासे आन्तरिक आर्थिक व्यवस्थाके अनुकूल बनाया जासके। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें यह बात पर्याप्त मात्रामें नही पायी जाती। इसीकारण अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिको अधिक

महत्त्व दिया जाने लगा। इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्यका परिमाण सोनेके कोषके परिमाणसे सम्बन्धित नहीं रहता। यह सोनेकी शृंखलाओंसे मुक्त होजाती है, सन् १९३१ से पहिलेभी युद्ध इत्यादि आर्थिक संकटोंके अवसरोंपर अनेक देशोंने स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिका त्याग करदिया था। परन्तु यह त्याग संकटकालीन ही था। सन् १९३१ के बाद सदैवके लिए इस पद्धतिका त्याग करदिया गया है। जब द्रव्य के परिमाणको इसप्रकार स्वतन्त्र करदिया गया तो उसका प्रबन्ध और नियन्त्रण अन्य आर्थिक उद्देश्योंके अन्तर्गत करना आवश्यक होजाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति प्रबन्धित नहीं थी। प्रबन्ध तो उसमेंभी करना पड़ता था परन्तु आधुनिक प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिकी अपेक्षा उसमें प्रबन्धकी मात्रा और उद्देश्यमें अन्तर है। स्वर्ण द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत इस प्रकारका प्रबन्ध करना पड़ताथा कि द्रव्यका परिमाण सोनेमें विनिमयसाध्य बना रहे और विदेशी विनिमयकी दरमें स्थिरता बनी रहे। इन्हीं उद्देश्योंके आधारपर द्रव्य-नीति का प्रयोग कियाजाता था। प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिमें प्रबन्धके उद्देश्य दूसरे प्रकारके है। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध कियाजाये कि वह आर्थिक क्रियाओं एवं सम्बन्धोंमें विकार न उत्पन्न करे अर्थात् वह तटस्थ रहे। यह निर्विवादहै कि आर्थिक कार्योंमें द्रव्यका उपयोग होनेसे आर्थिक व्यवस्थाके भिन्न भिन्न अवयवोंका सम्बन्ध उसी प्रकारका नहीं रहसकता जैसाकि अदल-बदल प्रथाके अन्तर्गत रहता था। अर्थात् द्रव्यका अपना निजी प्रभावभी आर्थिक सम्बन्धोंपर पड़ता है। तटस्थ द्रव्य-नीतिके मतावलम्बियोंका कहनाहै कि आर्थिक अस्थिरताओंका प्रधान कारण यहीहै कि द्रव्य और विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण आर्थिक सम्बन्धोंमें व्याघात पहुंचाकर आर्थिक प्रगतिमें अस्थिरता उत्पन्न करदेता है। अतएव यदि द्रव्यका प्रबन्ध इसप्रकार कियाजाये कि द्रव्यसे आर्थिक कार्य लेते रहनेपरभी आर्थिक सम्बन्ध उसी प्रकारके बनेरहें जैसाकि द्रव्यहीन आर्थिक पद्धतिमें होतेतो इसप्रकार द्रव्यकी तटस्थता बनी रहेगी। सैद्धान्तिक रूपमें यदि हम द्रव्यकी तटस्थता की नीतिको महत्त्वपूर्ण मानभी लें तो भी व्यवहारमें द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध करना कि वह पूर्ण रूपसे तटस्थ रहे, बहुत कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त यह मानलेना भी असंगत जानपड़ता है कि द्रव्य-हीन आर्थिक व्यवस्थामें जो सम्बन्ध उसके विविध अवयवों में स्थापित होजाते थे, उनको बनाये रखनेसे आर्थिक प्रगति अविरोध रूपसे होती रहेगी।

प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिके कुछ अनुयायी चाहते हैं कि द्रव्यका प्रबन्ध इसप्रकारसे कियाजाये कि उससे आर्थिक साधनोको पूर्णरूपसे बराबर काममें लगाकर पूर्ण नियोग की स्थितिमें स्थिरताका समावेश कियाजाये। यह एक महत्त्वाकाक्षा है। परन्तु दुख इस बातका है कि हमारी सारी आर्थिक व्याधियां और अस्थिरताए द्रव्य जनित नही है। अतएव यह आशा करना कि द्रव्यका इसप्रकार प्रबन्ध किया जासकता है कि सभी आर्थिक क्रियाए अविरोध रूपसे अग्रसर होती रहें, मृग मरी-चिकाके समान ही है। तथापि प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिसे आशा कीजाती है कि यह अपनी अस्थिरताओ को आर्थिक अस्थिरताओ के ऊपर न लाददे और जहातक सम्भव हो, अपनेको आर्थिक अवस्थाके अनुकूल रखतेहुए अन्य आर्थिक उपचारोको कार्यान्वित करनेमें सहायता प्रदान करे।

कुछ अन्य अर्थशास्त्री प्रबन्धित द्रव्य-पद्धतिसे यह आशा करतेहै कि इसके अन्तर्गत मूल्य-स्तरोको स्थिर बनानेकी सुविधा होगी। येलोग यह मानलेते है कि द्रव्यके विनिमय मूल्य और वस्तुओके मूल्य-स्तरोंमें स्थिरताका समावेश होनेपर आर्थिक स्थिरता प्राप्त करनेमें सहायता मिलेगी। इनके मतमें एक अच्छी द्रव्य-पद्धतिसे यही आशा करनी चाहिए। अब हमको यह विचार करनाहै कि मूल्य-स्तरोंमें स्थिरता लाना कहातक वाछनीयहै और यदिहै तो क्या यह स्थिरता द्रव्य-नीति द्वारा प्राप्त होसकती है।

यहतो सभी लोग माननेको तैयार होंगे कि वस्तुओंके मूल्य-स्तरोमें अधिक मात्रामें उलटफेर होनेके कारण आर्थिक विषमताए उत्पन्न होजाती हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य हमारा मापदड भी है। अतएव इसके विनिमय-मूल्यमें अधिक मात्रामें अस्थिरता उत्पन्न होजाना (जो कि मूल्य-स्तरोमें बदलाव हो जानेपर अवश्यम्भावी है) भी हमको वाछित नही है। परन्तु इससे इस परिणामपर नही पहुचजाना चाहिए कि हमको प्रत्येक अवस्थामें मूल्य-स्तरकी स्थिरता वाछनीय है। सन् १९२९-३२ के विश्वव्यापी आर्थिक अपकर्षसे पूर्व कुछ वर्षोतक मूल्य-स्तर में स्थिरता वर्तमान थी। फिरभी यह आर्थिक सकटको न रोक सकी। इसका प्रधान कारण यहथा कि इस कालमें नवीन आविष्कारो और वैज्ञानिक प्रबन्धके प्रयोगसे उत्पादन-व्यय गिरने लगाथा और मूल्योंमें स्थिरताके कारण लाभकी मात्रा बढने से पूजीका लगाव अत्यधिक मात्रामें होने लगा। इससे हम इस परिणामपर

पहुचते हैं कि जब पूर्वोक्त कारणोसे उत्पादकता की वृद्धि हो और प्रति इकाई लागत व्यय कम होजायें, तो मूल्य-स्तरमें भी कमी आनी चाहिए। ऐसा न होनेपर आर्थिक सम्बन्धोंमें अन्तर होजाता है जिससे आर्थिक व्यवस्थामें गडबडी पैदाहो जाती है। इसके अतिरिक्त यहभी कहाजाता है कि जिन लोगोकी बधी हुई आय होतीहै उनको वैज्ञानिक उन्नतिमे उत्पादकतामें जो वृद्धि होतीहै उसका लाभ तभी मिल सकताहै जब मूल्य-स्तरमें कमी आये।

यदि इस बातको मानभी लियाजाये कि मूल्य-स्तर को द्रव्य-नीति द्वारा स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिए तो प्रश्न यह होताहै कि किस स्तरपर स्थिर रखना चाहिए। भारतमें मूल्य-स्तर इससमय बहुत ऊचा है। सभी लोग चाहतेहैं कि इसमें कमी हो, परन्तु यह बताना बहुत कठिनहै कि किस स्तर तक कमी कीजानी चाहिए जिससे समाजका अधिकतम क्षेम हो। इसीप्रकार जब १९२९-३२ की आर्थिक मन्दीके अवसरपर प्रबन्धित द्रव्य-पद्धति द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका और इगलैंड मूल्य-स्तरको बढानेका प्रयत्न कररहे थे, इस बातपर एकमत नही था कि मूल्य-स्तरको किस स्तरतक चढाकर स्थिर करना चाहिए। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम अगले अध्यायमें बतावेंगे, मूल्यस्तर अनेक मूल्योका औसत मात्र है। अतएव प्रश्न यह होताहै कि क्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेसे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो जायगा। सूचक अक (जिससे द्रव्य-स्तर का गणित किया जाता है) बनानेमें ही अनेक कठिनाइयाका सामना करना पडता है। इसके अतिरिक्त सूचक अकोंके समान रहनेसे यह परिणाम नही निकलता कि मूल्य-स्तरोमें और उनके आपसके सम्बन्धोंमें कोई परिवर्तन नही हुआ है। उदाहरणके लिए यदि एक वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत बढगया और दूसरी वस्तुका मूल्य २५ प्रतिशत घटगया तो औसत मूल्य-स्तर तो समान रहेगा परन्तु इन दो वस्तुओंके मूल्योंके सम्बन्धमें परिवर्तन होनेसे इनके उत्पादन और मागमें परिवर्तन की प्रवृत्ति होजायेगी। वास्तवमें समस्या औसत मूल्य-स्तरको स्थिर रखनेकी नही है, बल्कि भिन्न भिन्न मूल्योका आपसमें ठीक ठीक सम्बन्ध ज्ञात करना और उस सम्बन्धको स्थिर बनाये रखना है। आर्थिक विषमताओ और अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण यहीहै कि भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओके मूल्य असम्बन्धित होजाते हैं। इनके कारणोको जानना और इनको ठीक प्रकारसे सम्बन्धित करनाही सबसे कठिन कार्य है।

अब प्रश्न यह है कि क्या हम एक विशिष्ट द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा मूल्य-स्तरमें स्थिरता लासकते हे। पहिली बाततो यहहै कि मूल्य-स्तर केवल द्रव्य द्वाराही निर्धारित नही होता है। जैसाकि 'हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य' नामक अध्यायमें बतायेंगे, द्रव्यके अतिरिक्त औरभी अनेक विचारणीय विषय है जिनसे मूल्य-स्तर सम्बन्धित है। उदाहरणके लिए, यदि मूल्य-स्तरमें गिरनेकी प्रवृत्ति देखकर द्रव्यके प्रबन्धकर्ता द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करें परन्तु जिनको इस द्रव्यकी प्राप्ति होतीहै वेलोग अथवा सस्थाए इस द्रव्यको काममें न लाकर सचित करने लगें तो इससे मूल्य-स्तरके ह्रासमें रोकथाम नही हो सकेगी, अतः हम इस परिणाम पर पहुचतेहै कि केवल द्रव्यके सचालनमें ही परिवर्तन करनेसे मूल्य-स्तरमें परिवर्तन अथवा स्थिरता आना अनिवार्य नही है। और जब हम मूल्य-स्तरमें नहीं बल्कि विविध मूल्योंके सम्बन्धोंको ठीक करके उनमें स्थिरता लाना चाहते है तबतो द्रव्य द्वारा यह कार्य औरभी कठिन होजाता है।

अभीतक द्रव्य-शास्त्रियो और द्रव्य-प्रबन्धको ने द्रव्यके आर्थिक अवस्थाके सम्बन्ध और क्रिया-प्रतिक्रियाके विषयमें पूर्ण ज्ञान प्राप्त नही करपाया है। विशेष कर केन्द्रीय बेंक जिसे द्रव्य-नीतिको आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेका भार सौंपा गयाहै, अभीतक द्रव्य-नियन्त्रणके उपकरणो को इस अवस्थातक नहीं ला सकाहै जिससे उसको इस महत्वपूर्ण कार्यमें पूर्ण सफलता प्राप्त होसके। परन्तु प्रत्येक देशके केन्द्रीय बैंक अपने उत्तरदायित्व को समझनेकी चेष्टा कररहे है और अनेक उपकरणाकी कार्यक्षमता भी बढ़ारहे हैं और आशा कीजाती हैं कि निकट भविष्यमें यह सस्था जहातक द्रव्य-पद्धति और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक स्थिरता की समस्याका समाधान होसकता है, वहातक यथाशक्ति सहायता करनेका प्रयत्न करेगी।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिके सम्बन्धमें अनेक आलोचनाए सुनीजाती है। यह खेदका विषयहै कि भूतकालमें सकटकालके समयही द्रव्य-पद्धतिया अविनिमय-साध्य बनायी गयी और अनेक देशोमें इस पद्धतिके अन्तर्गत द्रव्य-स्फीति की समस्या उत्पन्न हुई। अतएव यह कोई आश्चर्यकी बात नहीहै कि इस पद्धतिको जन-साधारण आर्थिक सकट और द्रव्य-स्फीतिसे सम्बन्धित करता है। यही कारणहै कि इसप्रकार की पद्धतिमें वह विश्वास नही रहता जो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिमें रहता है।

परन्तु इसमें द्रव्य-पद्धतिका दोष नही है, यदि दोषहै तो द्रव्य-प्रबन्धकोका जिन्होंने इसका दुरुपयोग किया। उचित प्रकारसे प्रबन्ध होनेपर इस पद्धतिमें अनेक गुण पाये जाते हैं। एकतो यहहै कि इस पद्धतिमें लागत-द्रव्य बहुत कम रहता है। सोना चादी बहुमूल्य वस्तुए है। इनकी अन्य आर्थिक कार्योमें भी आवश्यकता रहती है। इस पद्धतिके अन्तर्गत बहुतसा सोना चादी जो द्रव्यके काममें आता था अब दूसरे कामामें लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस पद्धतिको आर्थिक अवस्थाओ के अनुकूल बनानेमें अधिक सुविधा और स्वतन्त्रता रहती है। हम देखचुके है कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति वाले देशको इस प्रकारकी सुविधा और स्वतन्त्रता बहुत कम मात्रामें रहती है।

२४

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

मूल्य और विनिमय-मूल्य

एक वस्तुमें अन्य वस्तुओंको बदलेमें प्राप्त करनेकी जो शक्ति होती है उसको हम उस वस्तुका विनिमय-मूल्य कहेंगे। यदि एक सेर गहूके बदलमें दोगज कपडा मिल सकताहै तो एकसेर गहूका विनिमय-मूल्य दोगज कपडा और एकगज कपडेका विनिमय-मूल्य आधासेर गहू हुआ। हम पहिले अध्यायमें बता चुकेहैं कि यदि सभी वस्तुओंके विनिमय-मूल्यका एकही वस्तुके परिमाणमें प्रकट किया जासके, तो इससे आर्थिक क्रियाओंमें बहुत सुविधाए प्राप्त होजाती है। आर्थिक विकासमें यही हुआभी है। समाजने द्रव्यके रूपमें वस्तुओंका विनिमय-मूल्य प्रकट करना प्रारम्भ करदिया। इसप्रकार जो सम्बन्ध स्थापित हुआ उसको हम मौद्रिक मूल्य कहते हैं अर्थात विनिमय-मूल्य द्रव्यके रूपमें प्रकट कियाजाता है तो वह मौद्रिक मूल्य कहलाता है। जिस वस्तुने द्रव्यका काम लियाजाता है उसको एक ऊचा पद प्राप्त होजाता है। द्रव्यके विकासके सम्बन्धमें हम देखचुके हैं कि किसप्रकार सोनेचादी ने द्रव्यके रूपमें काममें लायजानके कारण एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करलिया। आधुनिक कालमें तो अधिकतम द्रव्य कागजका बना हुआहै अथवा केवल बैंकोंके खातोंमें दर्ज है। उसका कोई निज का मूल्य नहीं है। फिरभी उसकी इतनी मान्यता है। अन्य आर्थिक वस्तुओं और द्रव्यके बीच एक बड़ा भद यहहै कि अन्ततोगत्वा अन्य आर्थिक वस्तुओंके अन्तर्गत कुछ एसे गुण निहितहैं जिनमें हमारी कोईन कोई आवश्यकताको तृप्त करनेकी शक्ति होती है। गेहू, दूध, लकडी इत्यादि वस्तुए इसका उदाहरण है, जिनमें कुछ ऐसे नैसर्गिक गुण वर्तमानहैं जिनके उपभोगसे हमको तृप्ति मिलती है। इन्ही गुणोंके आधारपर उनकी उपयोगिता टिकीहुई है। परन्तु आधुनिक द्रव्यमें कोई इस प्रकारकी तात्विक विशेषता नहींहै जिसके कारण

हम उसको उपयोगी समझते हैं। हम द्रव्यकी मान्यता तभीतक करेंगे जबतक उसके विनिमयसे हमको अन्य उपयोगी वस्तुएं प्राप्त होसकें अर्थात् जबतक द्रव्यकी क्रय-शक्ति बनी रहे। इससे यह तात्पर्य निकलताहै कि द्रव्यकी कोई स्वत: उपयोगिता नहीहै बल्कि उसकी उपयोगिता उन वस्तुओंकी उपयोगितापर निर्भरहै जो उसके विनिमयसे प्राप्त होसकती हैं। यही एक प्रधान भिन्नता द्रव्य और अन्य आर्थिक वस्तुओंके बीचहै, जिसके कारण हम द्रव्यको एक पृथक वर्गमें रखते हैं।

द्रव्य का विनिमय-मूल्य

अभी हमने बताया कि अन्य वस्तुओंके विनिमय-मूल्यको द्रव्यके रूपमें प्रकट किया जाताहै और उसको उन वस्तुओंका मौद्रिक मूल्य अथवा केवल मूल्य कहाजाता है। द्रव्यका भी विनिमय-मूल्य होता है। द्रव्यकी इकाईसे जिस परिमाणमें वस्तुए और सेवाए प्राप्त होसकती हैं, वही द्रव्यका विनिमय-मूल्य है। द्रव्यके विनिमय-मूल्यसे जो वस्तुए प्राप्त होतीहै, उसको हम द्रव्यका विनिमय-मूल्य कहेंगे। संक्षेपमें हम कहसकते हैं कि द्रव्यका विनिमय-मूल्य उसकी क्रय-शक्ति है। द्रव्यकी एक इकाई से हमें किस परिमाणमें अन्य वस्तुए मिलसकती हैं, यह उन वस्तुओंके मूल्य-स्तरपर निर्भर करता है। यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होजाये तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी और यदि मूल्य-स्तरमें कमी होजाये, तो द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें वृद्धि होजायेगी। अर्थात् मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें प्रतिलोम सम्बन्ध है।

यदि हम ध्यानसे देखेंतो हमको ज्ञात होताहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यका निर्धारण इतनी सरलतासे नही होता है। उदाहरणके लिए, यदि सूचक-अंकोंकी सहायतासे हमें यह ज्ञात होताहै कि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी तो क्या इससे यह परिणाम निकाला जासकता है कि सभी मनुष्योंके लिए द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें उसी अनुपातमें कमी होगयी। वास्तवमें ऐसा नही होता है। प्रत्येक वस्तुका मूल्य किसी समय विशेषमें एकही अनुपातमें नहीं घटता बढता और प्रत्येक मनुष्य एकही प्रकारके वस्तु-समुच्चयको नही मोल लेता। अतएव ऐसा होसकता है कि जब सूचक-अंक मूल्य-स्तरमें वृद्धि बतातेहैं तो सभी मनुष्योंके द्रव्यका विनिमय-मूल्य एकही अनुपातमें नही घटता। यदि कोई मनुष्य केवल उन्ही वस्तुओंको मोल लेता

है जिनका मूल्य राज्य द्वारा निर्धारित और नियन्त्रित है तो उसके लिए द्रव्यका विनिमय-मूल्य पूर्ववत्‌ही रहेगा और एक दूसरा व्यक्ति जो अनियन्त्रित वस्तुओंको भी मोल लेताहै जिनके मूल्यमें वृद्धि आगयी हो, तो उसके द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी आजायेगी। इसप्रकार हम देखतेहैं कि द्रव्यका कोई ऐसा एकाकी विनिमय-मूल्य नहीं होसकता जो सभी व्यक्तियोंके द्रव्यके सम्बन्धमें समान रूपसे लागू हो। सैद्धान्तिक रूपसे कहा जासकता है कि द्रव्य द्वारा अनेक प्रकारकी वस्तुएं और सेवाएं मोलली जासकती हैं, अतएव द्रव्यका विनिमय-मूल्य उन सभी वस्तुओंके मूल्यपर अवलम्बित रहना चाहिए। इस प्रकारके सूचक-अंक प्राप्तभी कियेजाते हैं जो सभी वर्गोंकी प्रतिनिधि वस्तुओंके आधारपर गणित कियेजाते हैं। परन्तु इस प्रकारके सूचक-अंकोंसे जो द्रव्यका विनिमय-मूल्य इंगित होताहै उसका व्यवहारमें अधिक महत्त्व नहीं होसकता क्योंकि भिन्न भिन्न व्यक्ति भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुओं और वस्तु-समुच्चयोंके मूल्यसे प्रभावित होते हैं। अतएव व्यावहारिक उपयोगिता और आर्थिक विश्लेषणके लिए भी द्रव्यका विनिमय-मूल्य हमको भिन्न भिन्न वस्तु-वर्गों और सेवा-वर्गोंके रूपमें निकालना पड़ेगा।

सूचक-अंक

किसी समय विशेषमें द्रव्यका विनिमय-मूल्य क्याहै उसको व्यक्त करना दुष्कर कार्यहै क्योंकि द्रव्यसे विविध प्रकारकी वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त होसकती हैं। परन्तु द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें सापेक्ष परिवर्तनको जानना सम्भव है। उदाहरणके लिए यदि हम यह जानना चाहें कि सन्‌ १६४८ की तुलनामें सन्‌ १६४६ में द्रव्यका विनिमय कमहै या अधिक, और कितनी मात्रामें तो इसका हिसाब सूचक-अंकोंकी सहायतासे लगाया जासकता है। सूचक-अंकोंसे मूल्य-स्तरोंमें औसत अदलाव मापा जाताहै और इसके अनुलोम-अंकोंसे द्रव्यके विनिमय-मूल्यके परिवर्तनको गणित करलिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि १६४२ की अपेक्षा १६४४ में मूल्य-स्तर दुगना होगया है (यदि १६४२ के सूचक-अंकको १०० मानलिया तो १६४४ का सूचक २०० होगा) तो हम कहसकते हैं कि १६४४ में १६४२ की अपेक्षा रुपयेका विनिमय-मूल्य आधा रहगया (यदि १६४२ में रुपयेका मूल्य १०० मान

लियाजाय, तो १९४४ में ५० रह जायेगा)।

सूचक-अंक निकालनेके पूर्व इस बातका निश्चय करलेना पडताहै कि किस काल को प्रामाणिक काल मानाजाये जिससे अन्य कालोंकी तुलनाकी जासके। कुछ काल स्वयमेव प्रामाणिक प्रतीत होनेलगते हैं। उदाहरणके लिए सन् १९३९ (सितम्बर से पूर्व) प्रामाणिक बनगया है क्योकि इसके बादही द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होगया था। प्रामाणिक काल ऐसा होना चाहिए जिसमें युद्ध, आर्थिक उत्कर्ष-अपकर्ष आदि प्रकारकी असाधारण घटनाए न घटी हों। आधुनिक कालमें ४-५ वर्षोंके औसतको प्रामाणि ाल माननेकी प्रथा चलपडी है। प्रामाणिक काल स्थिरकर लेनेके पश्चात् हमको उन वस्तुओं और सेवाओंकी एक ऐसी सूची बनानी पड़नीहै जिसके आधारपर सूचक-अंक बनाये जायेंगे। जिस प्रयोजनके लिए सूचक-अंक और तत्सम्बन्धित द्रव्यके विनिमय-मूल्यको जाननेकी आवश्यकता हो, उसीसे सम्बन्धित वस्तुएभी होनी चाहिए। उदाहरणके लिए यदि हम किसानोंके द्रव्य विनिमय-मूल्यमें बदलाव जानना चाहते हैं, तो हमें उन्ही वस्तुओंको सूचीमें रखना पडेगा जिनका उपयोग किसान लोग साधारणत: करते हैं। इन वस्तुओं और सेवाओंकी एक लम्बी सूची होगी। अतएव सूचक-अंकोंको प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक होजाता है कि इन वस्तुओंमें से कुछ ऐसी छांट लीजायें जो सबका प्रतिनिधित्व करसकें। इन वस्तुओंकी संख्या बहुत कम नही होनी चाहिए, नहींतो इनको प्रतिनिधित्व प्राप्त नही होसकेगा। जितनी अधिक संख्याहो, उतना अच्छा है। परन्तु इतनी अधिक भी न हो कि कार्य सामर्थ्यके बाहर होजाये। अब इन छंटीहुई वस्तुओंका मूल्य मालूम करना है। यदि पूर्वोक्त उदाहरणके अनुसार हमें १९४४ की १९४२ से तुलना करनीहै तो हमको इन दोनो वर्षोंमें जो इन वस्तुओंका मूल्य रहाहो, उसको मालूम करना पडेगा। इसमें बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। पहिलेतो हमें किसीभी वस्तुके जिस प्रकारको एक वर्षमें लते हैं, उसी प्रकारको दूसरे वर्षमें भी लेना चाहिए। ऐसा नही होना चाहिए कि १९४२ में तो शुद्ध घी का मूल्य लियाजाये और १९४४ में वनस्पति घी का। इसके अतिरिक्त जिस प्रकारका मूल्य एक वर्षमें लियागया हो, उसी प्रकारका मूल्य दूसरे वर्षभी लेना चाहिए। एक वर्षमें थोक भाव और दूसरे वर्षमें फुटकर भाव लेनेपर सूचक-अंकोंमें अशुद्धता आजायेगी। साधारणत. सूचक-अंक थोक मूल्योंके आधारपर बनाये जाते

है क्योंकि इन मूल्योंका इकट्ठा करना सुगम होता है। परन्तु जीवन-स्तरके सम्बन्ध *में जाननेके लिए फुटकर भाव अधिक उपयुक्त होताहै क्योंकि उपभोक्ता वर्ग इसी* भावपर सामान मोललेता है। जब इसीप्रकार छँटी हुई वस्तुओंके दोनो वर्षोंके मूल्य ज्ञात होगये, तो इसके पश्चात् गणितका कार्य आरम्भ होजाता है। पहिला काम है, प्रत्येक वस्तुका सापेक्ष मूल्य गणित करना। इसके लिए, प्रामाणिक वर्षमें प्रत्येक वस्तुका मूल्य १०० इकाई मानकर दूसरे वर्षमें उस वस्तुके भावका सापेक्ष अक प्राप्त कियाजाता है। उदाहरणके लिए, यदि लकडीका भाव १६४२ में २ रुपये मन हो और १६४४ में बढकर २ रुपये ८ आने मन होगया हो, तो २ रुपयेको १०० इकाई मानकर २ रुपये ८ आनेको १२५ इकाईसे सूचित करेंगे। इसीप्रकार सभी वस्तुओंके सापेक्ष मूल्यके अक निकाल लिये जायेंगे। इन सापेक्ष-अकोमे भिन्न भिन्न वस्तुओंके मूल्योंमें बदलाव जानाजाता है। परन्तु हमको औसत बदलाव मालूम *करनाहै अतएव हम इनका औसत निकाल लेते है। यही औसत सूचक-अक है।* नीचे दीगयी तालिकामें सूचक-अकोको गणित करनेकी रीति दीगयी है

सन् १६४२				सन् १६४४		
१	२	३	४	५	६	७
मान अक	वस्तुए	मूल्य	गुण	मूल्य	सापेक्ष मूल्य गुण	१.×६.
१०	चना	४ आ. सेर	१००	६ आ सेर	१५०	१५००
६	बाजरा	५ ,,	१००	५ ,,	१००	६००
५	लकडी	२ रु मन	१००	२ १/२ रु मन	१२५	६२५
१	गुड	३ आ सेर	१००	६ आ सेर	२००	२००
३	धोतीजोडा	५ रु	१००	६ रु	१२०	३६०
२५	५			कुल	६६५	३२८५

$$\text{साधारण सूचक-अक } \frac{६६५}{५} = १३६$$

$$\text{सप्रभाव सूचक-अक } \frac{३२८५}{२५} = १३१$$

इस उदाहरणमें १३६ साधारण सूचक-अकहै अर्थात् १६४२ की अपेक्षा १६४४ में मूल्य-स्तरमें ३६ प्रतिशत वृद्धि हुई। साधारण सूचक-अकोको प्राप्त करनेमें हम प्रत्येक वस्तुको समान मानलेते है। परन्तु वास्तवमें प्रत्यक वस्तुका मान हमारे लिए बराबर नही होता और प्रत्येक वस्तुमें बदलाव होनेसे हम समान रूपसे प्रभावित नही होते। उदाहरणके लिए यदि दियासलाईका मूल्य ५० प्रतिशत घटजाये और गेहूका मूल्य ५० प्रतिशत बढजाये तो औसत मूल्य-स्तर तो इनदो वस्तुओका समानही रहेगा परन्तु जितना व्यय हमारा गेहूमें अधिक होगा उतनी बचत दियासलाईके मूल्यमें कमी होनेसे नही होगी। इस दोषको दूर करनेके लिए सप्रभाव सूचक-अकको गणना कीजाती है। ऊपरके उदाहरणमें कोष्ठक (१) में पाचो वस्तुओं का मान-अक दिया है। यह मान अक साधारणत, अनुमानके आधारपर निर्धारित किया जाताहै और कभी कभी प्रत्येक वस्तुपर व्ययके अनुपातसे निर्धारित किया जाता है। सप्रभाव सूचक-अक प्राप्त करनेके लिए सापेक्ष मूल्य-गुणो (कोष्ठक ६) को प्रत्येक वस्तुके मान-अकसे गुणा कर गुणनफलोको जोडकर मान-अकोंके योग से भाग दियाजाता है। भजनफल सप्रभाव सूचक-अकहै। ऊपरके उदाहरणमें यह अक १३१ है। स्पष्टहै कि सप्रभाव सूचक-अक साधारण सूचक-अकसे अधिक उपयोगी होता है।

सूचक-अकोका प्रयोग सावधानीसे करना चाहिए। ये भिन्न भिन्न प्रयोजनोंके लिए बनाये जात है। प्रतिनिधि वस्तु-वर्गके बदलावसे, नवीन वस्तुओंके आजानेसे आय और रुचिमें बदलाव होनेसे, वस्तुओके महत्वमें बदलाव होजाने से, सूचक-अक यथार्थताको प्रकट करनेमें पूर्णरूपसे सफल नही होपाते। फिरभी आर्थिक विश्लेषणके कार्यमें और तुलनात्मक कार्यमें इनका बहुत महत्व है।

द्रव्य के विनिमय-मूल्य का पारिमाणिक सिद्धान्त

यहतो जानीहुई बातहै कि द्रव्यका विनिमय मूल्य कभी स्थिर नही रहता। यह कभी बढजाता है और कभी घटजाता है। ऐसा क्यो होताहै? इस सम्बन्धमें अनेक मत है। एक सिद्धान्त जो बहुत लोकप्रिय रहाहै और जिसको आधुनिक रूपमें प्रतिपादन करनेका श्रेय अमेरिकाके अर्थशास्त्री पोफेसर फिशरको प्राप्तहै, द्रव्यके

विनिमय-मूल्यमें बदलावको द्रव्यके परिमाणसे सम्बन्धित करता है। अतएव इस सिद्धान्तको द्रव्यका पारिमाणिक सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अन्य बातें समान रहनेपर, द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होनेसे मूल्य-स्तरमें वृद्धि और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें कमी होजायेगी और द्रव्यके परिमाणमें कमी होनेसे मूल्य-स्तर में कमी और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें वृद्धि होजायेगी। इस सिद्धान्तको निम्नलिखित समीकरणके रूपमें प्रदर्शित किया जाताहै :

द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेग

= मूल्य स्तर × कुल व्यापार।

द्रव्यके परिमाणमें धात्विक द्रव्य, नोट और साख-द्रव्य सभी सम्मिलित हैं। किसी समय विशेषमें द्रव्यका परिमाण स्थिर रहता है। परन्तु किसी कालावधिमें जैसे एक वर्ष, उसी द्रव्यमे अनेकबार काम लिया जासकता है। उदाहरणके लिए यदि किसी समाजमें चलनमें ३० करोड रुपयाहै और उसकी सहायतासे सालभरमें ३०० करोड रुपयेका आर्थिक व्यवसायोंमें लेनदेन हुआ, तो औसतन प्रत्येक रुपया १० बार चलनमें आया। इसको हम द्रव्यका चलन-वेग कहते हैं। पूर्वलिखित समीकरणमें द्रव्यका परिमाण × चलनका औसत वेगसे यह तात्पर्य निकला कि सालभर में कितना रुपया लिया और दियागया। जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह उस व्यापारसे सम्बन्धित होगा, जो द्रव्य द्वारा कार्यान्वित हुआ होगा और इसकुल व्यापारके एक औसत मूल्य अथवा मूल्य-स्तरकी कल्पना की जासकती है। अब यदि कुल व्यापारके परिमाणको औसत मूल्यसे गुणा करदें, तो कुल व्यापारका मूल्य निकल आयेगा। सालभर में जितना रुपया लिया और दियागया होगा, वह इसकुल व्यापारके सम्बन्धमें ही रहा होगा। अतएव इस समीकरणके दो भागोंका परिमाण अवश्यही बराबर होगा। इस समीकरणको सुगम भाषामें इसप्रकार कहसकते हैं: किसी कालावधिमें जितना द्रव्य लिया दिया जाताहै उसका परिमाण कुल द्रव्य सम्बन्धी व्यापारके मूल्यके बराबर होगा।

इस समीकरणसे एक दूसरा समीकरण प्राप्त होताहै जोकि महत्वपूर्ण है। उसका रूप निम्नलिखित है :

$$\text{मूल्य स्तर} = \frac{\text{द्रव्य} \times \text{वेग}}{\text{व्यापार}}$$

इस समीकरणसे यह तात्पर्य निकलताहै कि यदि मूल्य-स्तरमें परिवर्तन होगया हो, तो हमको उसके कारणोको खोजनेके लिए द्रव्यका परिमाण अथवा उसका वेग अथवा व्यापारकी मात्रा अथवा इन सभीके सम्बन्धोके परिवर्तनका अध्ययन करना पड़ेगा द्रव्यके पुराने पारिमाणिक सिद्धान्तके अनुसार मूल्य-स्तर केवल द्रव्यके परिमाणपर अवलम्बित मानाजाता था। परन्तु आधुनिक कालमें इस सिद्धान्तके अन्तर्गत द्रव्यके परिमाणके अतिरिक्त उसके चलनका वेग और उससे सम्पादित होनेवाले व्यापारके परिमाणको भी सम्मिलित कियाजाता है। परन्तु इस सिद्धान्त के कुछ अनुयायी यह मानलेते है कि दीर्घकालमें द्रव्यका औसत वेग और व्यापार की मात्रामें अधिक परिवर्तन नही होताहै और यदि होताभी है, तो उसका सीधा सम्बन्ध मूल्य-स्तरसे नही होता। अब यदि हम चलनके वेग और व्यापारकी मात्रा पर ध्यान न दें तो, यदि मूल्य-स्तरमें वृद्धि होगयी है तो उसका कारण द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिही होसकता है, इस प्रकारके तर्कमें अनेक त्रुटियां एव अपवाद है। पहिले तो यह मानलेना कि द्रव्यका वेग और व्यापारकी मात्रा समान रहेगी असंगत है। इन दोनोमें भी परिवर्तन होता रहताहै जिससे मूल्य-स्तर प्रभावित होता है और मूल्यके प्रभावित होनेसे ये दोनोभी प्रभावित होते है। इसके अतिरिक्त द्रव्य के परिमाणमें जो परिवर्तन होताहै उसका पूरा प्रभाव मूल्य स्तरपर न पड़ने देनेमें भी इनका हाथ रहता है। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए कि आर्थिक मन्दीका अवसरहै तथा मूल्य-स्तर नीचे गिरगया है और इसलिए आवश्यकता इस स्तरको ऊंचा करनेकी है। अब यदि द्रव्य प्रबन्धक द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि करदें तो यह अनिवार्य नहीहै कि मूल्य-स्तर अवश्य ऊंचा होजायेगा। आर्थिक मन्दीके अवसर पर निरुत्साहकी भावना रहती है। अतएव यह होसकता है कि नया द्रव्य क्रियाशील न बनकर बेकार संचित पड़ारहे। यदि ऐसा हुआ तो द्रव्यके प्रसारसे मूल्य-स्तर ऊंचा नही उठने पायेगा। इसके अतिरिक्त यदि समाजके साधन बेकार पड़ेहों तो जैसे जैसे नया द्रव्य पूंजीके रूपमें लगाया जायेगा वैसे वैसे उत्पादन कार्यमें भी वृद्धि होने लगेगी। यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होती रहे तो मूल्य-स्तरमें अधिक वृद्धि नही होने पायेगी। जब सभी आर्थिक साधन पूर्णरूपसे काममें नियुक्तहो, तभी द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिके फलस्वरूप उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि न होनेके कारण मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगेगी।

यदि द्रव्यके प्रसारसे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होजाती हैं तो मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कारण उत्पत्तिकी मात्राको बढ़ानेमें प्रोत्साहन भी मिलता है। मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेके कारण चलनके औसत वेगमें भी वृद्धि होसकती है। इसका प्रधान कारण यहहै कि जब मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कारण लाभकी मात्रा बढ़ने लगतीहै तो उत्पादक वर्ग अपने संचित द्रव्यको भी पूंजीके रूपमें लगाने लगते हैं। उपभोक्ताभी इस आशकासे कि कहीं भविष्यमें अधिक मूल्य-वृद्धि न होजाये, वर्तमानकालमें ही अपने द्रव्यको वस्तुओंमें बदलनेकी चेष्टा करते हैं। इसप्रकार हम देखतेहै कि व्यवसायका परिमाण और द्रव्यके चलनका वेग दोनोका मूल्य-स्तरसे घनिष्ट सम्बन्ध है। कभी कभी ऐसाभी होताहै कि व्यवसायकी वृद्धिके कारण व्यवसायी वैकोसे अधिक परिमाणमें द्रव्यकी प्रार्थना करतेहै और यदि उनकी प्रार्थना स्वीकार हुई, तो इससे द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाती है। इसप्रकार हम देखतेहै कि द्रव्यका परिमाण कारण न होकर कार्य बनजाता है।

वास्तवमें बात यहहै कि मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन करने में पूर्वोक्त समीकरणके चारो अवयवोंका हाथ रहता है। प्रत्येक अवयव एक दूसरे से घनिष्ट रूपसे सम्बन्धित हैं, वह उनपर अपना प्रभाव डालताहै और स्वय उनसे प्रभावित होता है। यह प्रभाव भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। प्रत्येक अवयवमें बदलावके अपने निजी कारणभी होते हैं। उदाहरण के लिए, उत्पत्तिकी मात्रा बढानेके लिए, उत्पत्तिके साधन चाहिए, धन चाहिए, लाभ की आशा होनी चाहिए इत्यादि।

सक्षेपमें हम यह कहसकते है कि फिशरके समीकरणसे हमको इतना तो अवश्य ही ज्ञात होजाता है कि यदि मूल्य-स्तरमें कमी या वृद्धि हुई, तो हमको कारणकी खोज कहा करनी चाहिए। परन्तु जिन चार बडे आर्थिक अवयवोंकी ओर सकेत मिलताहै, वे वास्तवमें किसप्रकार एक दूसरेको प्रभावित करतेहुए द्रव्यका विनिमय-मूल्य निर्धारित करतेहै, इस विषयपर अधिक प्रकाश नही पडता। इसके अतिरिक्त यहभी कहा जाताहै कि द्रव्यका जो विनिमय-मूल्य इस समीकरणमें निहितहै वह द्रव्य की वास्तविक क्रय-शक्ति नहींहै क्योकि द्रव्यका लेनदेन केवल उपभोगकी वस्तुओं और सेवाओंके लिएही नही बल्कि ऋणकी अदायगी, सिक्यूरिटी इत्यादि साख-पत्रोंको मोल लेनेमें और सट्टेके काममें भी होता है। अतएव इस समीकरणके

अन्तर्गत जो मूल्य-स्तर है उसमें प्रत्येक प्रकारके द्रव्य-विनिमय-सम्बन्धी व्यवसाय निहितहै जैसाकि पहिले बताया जाचुका है, इस प्रकारके मूल्य-स्तरमें कोई वास्तविकता नही होती है।

द्रव्य का सचयन सिद्धान्त

केम्ब्रिज विश्वविद्यालयके कुछ अर्थशास्त्रियोंने द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तको दूसरेही रूपमें प्रतिपादित किया है। इनके विचारमें द्रव्यकी माग उसको अपने पास रखनेके लिए होतीहै। द्रव्यको अपने पास रखनेसे वस्तुग्रो और सेवाग्रोपर अपना अधिकार बना रहता है। व्यक्ति और सस्थाए अनेक प्रयोजनोंके लिए द्रव्य का सचय करतेहै और इस सचयकी मात्रा आर्थिक अवस्थाके अनुसार घटती और बढती रहती है। यदि द्रव्यके परिमाणमें परिवर्तन न हुआहो तो द्रव्यको अधिक मात्रामें सचय करनेका अभिप्राय हुआ कि उसके व्ययको कमकरना अर्थात् चलनके वेगमें कमी आजाना। इसके प्रतिकूल सचयकी मात्रामें कमी करने से अभिप्राय होताहै व्यय अधिक मात्रामें करना अर्थात् चलनके वेगको बढाना। इसप्रकार हम देखतेहै कि चलनके वेगमें और सचयकी मात्रामें अनुलोम सम्बन्ध है।

जितना द्रव्य चलनमें रहताहै, वह किसी न किसीके पास रहताही है। किसी समय विशेषमें जो मूल्य-स्तर रहताहै उसके हिसाबसे इस द्रव्यके परिमाण द्वारा वस्तुग्रो और सेवाग्रोके कुछ परिमाण पर अधिकार रहता है। सुविधाके लिए हम मान लेतेहै कि वस्तुग्रो और सेवाग्रोका वह परिमाण जिसपर समाजका अधिकार द्रव्यके रूपमें रहताहै वार्षिक उत्पत्तिका एक अशहै। इस अशको हम 'अ' कहेंगे और कुल वार्षिक उत्पत्तिको 'उ' कहेंगे। स्पष्टहै कि कुल द्रव्यकी क्रयशक्ति 'अउ' होगी, द्रव्यकी एक इकाई का विनिमय-मूल्य अउ/द्रव्यका परिमाण होगा और मूल्य-स्तर द्रव्यका परिमाण/अउ होगा। इस सम्बन्धको एक समीकरणके रूपमें प्रकट कियाजाता है जिसको केम्ब्रिज-समीकरण कहते है। इस समीकरणके अनेक रूपहै। एक सुगम रूप निम्नलिखित है:

$$\text{मूल्य-स्तर} = \frac{\text{द्रव्य का परिमाण}}{\text{अ उ}}$$

यदि लोग यह चाहतेहैं कि वे द्रव्यके रूपमें अधिक मात्रामें वस्तुओ और सेवाओ पर अधिकार रखें, तो वे द्रव्यके सचयमें वृद्धि करने लगेंगे जिसके फलस्वरूप व्यय के परिमाणमें कमी आजानेके कारण मूल्य-स्तर नीचे गिरने लगेगा। और यदि वे द्रव्यके रूपमें पहिलेसे कम मात्रामें वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार रखना चाहतेहैं तो वे अपने सचयको व्यय करने लगेंगे जिससे मागमें वृद्धि होगी और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होने लगगी। साधारणत यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके समय द्रव्यके सचयकी मात्रामें कमी करनकी प्रवृत्ति होतीहै जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षके कालमें द्रव्यका सचय बढने लगताहै जिससे मूल्य-स्तर घटने लगता है।

यदि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाये परन्तु समाजके लोग पहिलके परिमाणमें ही द्रव्यके रूपमें वस्तुओ और सेवाओपर अपना अधिकार बनाये रखना चाहें तो तात्कालिक मूल्य स्तरके हिसाबसे उनकेपास अतिरिक्त द्रव्य जमाहो जायेगा जिस को वे व्यय करने लगेंगे जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धि होने लगेगी। यह वृद्धि तबतक होती रहेगी जबतक मूल्य-स्तर इतना ऊचा न होजाये जहापर बढेहुए द्रव्यके परिमाणसे पूर्वोक्त मात्रामें ही वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार हो। द्रव्यके परिमाणमें कमी होजानसे विपरीत प्रवृत्ति होगी। इसप्रकार द्रव्यके सचयन सिद्धान्तके अनुसारभी द्रव्यके परिमाणमें कमी और वृद्धि होजानेसे मूल्य-स्तर और उसके सम्बन्धित द्रव्यका विनिमय-मूल्य प्रभावित होता है।

इस सिद्धान्तके अनुयायी यह नही कहतेहैं कि द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होजाने से उसी अनुपातमें मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होजायेगी क्योकि यदि समाजमें बेकार आर्थिक साधन पडेहो तो उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिभी होसकती है और लोग द्रव्यके रूपमें कितने परिमाणमें वस्तुओ और सेवाओपर अधिकार रखना चाहतेहैं, इस निश्चयको भी बदल सकते है।

द्रव्यके पारिमाणिक सिद्धान्तका जो यह दूसरा रूप द्रव्य-सचयन सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित कियागया है इसमें एक विशेष बात यहहै कि यह हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट करताहै कि लोगोको द्रव्यकी माग क्यो होतीहै और इस मागमें परिवर्तन होनेसे किसप्रकार मूल्य-स्तर प्रभावित होताहै परन्तु इस प्रकारके प्रतिपादनमें उसी प्रकारकी त्रुटियाहैं जो फिशरके समीकरणके अन्तर्गत पायीगयी हैं। केम्ब्रिज समी-

करणभी मूल्य-स्तरके सम्बन्धमें उन अवयवोंकी ओर इंगित करताहै जिनपर मूल्य-स्तर निर्भर करता है। परन्तु विविध आर्थिक अवस्थाओंमें इन अवयवोंका सम्बन्ध किसप्रकार बदलताहै और एक दूसरेको प्रभावित करतेहुए द्रव्यके विनिमय मूल्यको निर्धारित करताहै इसका पर्याप्त विश्लेषण इस सिद्धान्तमें भी नहीं पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इस समीकरणवाला मूल्य-स्तरभी उपभोगकी वस्तुओं और सेवाओंके ऊपर द्रव्यके विनिमय-मूल्यका नहीं बनाता क्योंकि द्रव्यका संचय अन्य प्रयोजनाके निमित्तभी होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे हम इस परिणामपर पहुचतेहैं कि मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें क्यों और किसप्रकार परिवर्तन होजाता है। इसका पूरा पूरा पता लगाना एक गहन विषय है। आर्थिक अवस्था बदलती रहती है। लोगोंके निश्चय बदलते रहते हैं। उनकी बचतकी मात्रा और पूजीके प्रयोगकी मात्रामें भी परिवर्तन होते रहतेहैं अतएव उपभोगकी वस्तुओंकी और उत्पादक वस्तुओंकी माग और पूर्तिमें भी परिवर्तन होतेरहते हैं। द्रव्यका परिमाण और ब्याजकी दर जो उसको प्राप्त करनेके लिए देनी पडतीहै, इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। इन सभी परिवर्तनोंका प्रभाव मूल्य-स्तर और द्रव्यके विनिमय मूल्यपर भी पडता है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें इन आर्थिक अवयवोंमें किस प्रकार परिवर्तन होते हैं इसका विवेचन हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' नामक अध्यायमें करेंगे जिसमें आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारणोंका विश्लेषण किया जायेगा और तत्सम्बन्धी द्रव्यके विनिमय-मूल्य परभी अधिक प्रकाश पडेगा।

द्रव्यके विनिमय-मूल्यमे परिवर्तन का प्रभाव

हम ऊपर लिख आयेहै कि सभी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य समान परिमाणमें घटता और बढता नहीं है। जिस कालमें मूल्य-स्तर बढने लगताहै उससमय कुछ ऐसे मूल्य होतेहैं जो शीघ्रतासे और पर्याप्त परिमाणमें बढजाते है और कुछ ऐसे मूल्य होतेहैं जो कुछ समयावधिके बाद धीरे धीरे बढने लगतेहैं और कुछतो बिल्कुल नहीं बढते। इसीप्रकार जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो कुछ वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य तुरन्तही गिरजाता है और कुछ मूल्य धीरे धीरे गिरतेहैं और कुछ

पूर्ववत् रहते हैं। भिन्न भिन्न मूल्योंके इसप्रकार आचरणसे आर्थिक स्थिति तथा भिन्न भिन्न वर्गोंपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह देखागया है कि आर्थिक उत्कर्षके कालमें मूल्य-स्तर बढ़ा रहता है। प्रारम्भमें लागत-व्यय जिस में पारिश्रमिक, ब्याज, किराया आदि शामिल हैं, तुरन्तही नहीं बढ़ते हैं। अतएव उत्पादक वर्गोंकी लाभकी मात्रा बढ़ने लगतीहै, जिससे वे उत्पत्तिके कार्यमें अधिक पूंजी लगानेको उत्साहित होतेहैं और राष्ट्रीय आयमें वृद्धि होने लगती है। परन्तु इस कालमें जिन वर्गोंकी आयमें उस अनुपातमें वृद्धि नहीं हुईहो जिस अनुपातमें मूल्य स्तरमें वृद्धि हुईहै, उन वर्गोंके व्यक्तियोंकी वास्तविक आय कम होजाती है। उदाहरणके लिए यदि मजदूरोंके जीवन-स्तरवाली वस्तुओंके मूल्य-स्तरमें ७५ प्रतिशत वृद्धि हुई हो परन्तु उनके पारिश्रमिकमें केवल २५ प्रतिशत वृद्धिहो तो इस वर्गको आर्थिक क्षति होगी। इसके साथ एकबात और ध्यानमें रखने योग्यहै कि जिस कालमें मूल्य-स्तर में वृद्धि होनेके कारण लाभकी मात्रा बढ़ी रहतीहै उस कालमें उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धधोंमें भी वृद्धि करता है। अतएव मजदूरोंमें बेकारी कम होजाती है जिससे मूल्य-स्तरमें वृद्धिसे जो क्षति होजाती है उसकी कुछ अंशमें पूर्ति होजाती है। परन्तु जिन लोगोंकी आयमें कुछभी वृद्धि नहीं होतीहै जैसे वेतनवाले, इनकी आर्थिक क्षति सबसे अधिक होती है। लाभकी वृद्धिके कारण शेयरोंके मूल्यमें भी वृद्धि होजाती है। अतएव इस वर्गको भी मूल्य-स्तरमें वृद्धिके कालमें लाभ होता है। इस कालमें साहूकार वर्गको क्षति होतीहै और ऋणी वर्गके ऋणके भारमें कमी होजाती है। इसका कारण यहहै कि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें ह्रास होनेके कारण मूलधन और ब्याजकी क्रय-शक्ति कम होजाती है। ऋणी लोग अपनी वस्तुओं और सेवाओंको बढ़ेहुए मूल्यपर बेचकर अधिक सुगमतासे उऋण होसकते हैं। उदाहरणके लिए, यदि किसी किसानने १०० रु० ऋण ऐसे कालमें लियाहो, जब गेहूंका मूल्य २ रु० प्रतिमन हो तो उसको ५० मन गेहूं बेचनेपर १०० रु० प्राप्त होंगे। अब यदि ऋण चुकानेके समय गेहूंका भाव १० रु० प्रतिमन हो, तो वह केवल १० मन गेहूं बेचकर उऋण होसकता है। कहा जाताहै कि द्वितीय महायुद्धके समय और उसकेपश्चात्‌के कालमें वृद्धि होनेके कारण भारतवर्षमें अनेक किसानोंने अपने ऋणका भार बहुत कुछ हलका कर लिया है।

इसके विपरीत जब मूल्य-स्तर गिरने लगताहै तो उत्पादन वर्गकी लाभकी मात्रा

गिरने लगतीहै क्योंकि लागत-व्ययको तुरन्तही कम नही किया जासकता। जिन व्यक्तियों अथवा व्यक्तिवर्गों की आय उसी अनुपातमें नही घटतीहै जिस अनुपातमें मूल्य स्तरमें ह्रास होताहै, उनके आर्थिक क्षेममें वृद्धि होगी। परन्तु जब मूल्य-स्तर में अधिक कमी आनेलगती है तो उत्पादक वर्ग अपने उद्योग धन्धोंकी मात्रामें कमी करनेलगते है। अनेक आर्थिक साधन बेकार होजाते है। अतएव केवल उन्ही व्यक्तियोंको लाभ होसकता है जो पुराने पारिश्रमिकके हिसाबसे काममें बने रहे, जैसेकि स्थायी राज-कर्मचारी, कल कारखानोंके इजीनियर इत्यादि जिन्हें कम मात्रा में उत्पत्ति होनेपर हटाया नही जासकता। इस कालमें शेयरोंके मूल्य गिरजानेसे शेयरपतियोंको हानि होतीहै। ऋणका भार बढजाता है। साहूकार वर्गको लाभ होता है।

इसप्रकार हम देखतेहै कि द्रव्यके विनिमय मूल्यमें अधिक मात्रामें कमी अथवा वृद्धि होनेसे भिन्न भिन्न वर्गोंपर भिन्न भिन्न प्रकारका प्रभाव पडताहै जिससे वास्तविक आयके वितरणमें भी परिवर्तन होजाता है। इस परिवर्तन का ठीक ठीक अनुमान लगाना कठिनहै क्योकि एकही व्यक्ति अनेक वर्गोंका सदस्य रहता है। एक सरकारी कर्मचारी एकही साथ शेयरपति और साहूकारभी होसकता है और भिन्न भिन्न वृत्तियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे प्रभावित होता है। हम केवल इतनाही कहसकते है कि पूजीवादके अन्तर्गत आय और सम्पत्तिके वितरणमें बहुत असमानता होनेके कारण यदि द्रव्यके विनिमय-मूल्यमें परिवर्तन होनेके कारण इस असमानता में कमी आसके तो इसप्रकार का परिवर्तन समाजके हितके निमित्त होगा। उत्पत्ति के परिमाण और आर्थिक साधनोंकी पूर्ण नियुक्तिके दृष्टिकोणसे कहाजाता है कि मूल्य-स्तरमें वृद्धिकी प्रवृत्ति अधिक वाछनीयहै क्योंकि यदि मूल्य-स्तरमें कमी आगयी तो इससे आर्थिक अपकर्ष और मन्दीका सचार होनेलगेगा जिससे राष्ट्रीय आयमें कमी और बेकारी उत्पन्न होजाती है। यह एक बहुत गहन और पेचीला प्रश्नहै कि समाजके हितके लिए मूल्य-स्तरमें ह्रास, वृद्धि अथवा स्थिरता रहनी चाहिए। हम इतना कहना चाहेंगे कि भिन्न भिन्न आर्थिक अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकारका मूल्य-स्तर वाछनीय रहेगा। इस विषयपर भी हम 'आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष' वाले अध्यायमें कुछ प्रकाश डाल सकेंगे।

२५

बैंक

साख और साख-पत्र

वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें बैंकोंको एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। पाश्चात्य देशोंमें तो बैंकोंका और आर्थिक कार्योंका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होगया है कि कुछ अर्थ-शास्त्रियोंके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण बैंकजनित होता है। प्राचीनकालमें उद्योग धन्धे छोटे परिमाणमें किये जातेथे और व्यापारभी सीमित रहता था। अतएव बैंकोंका अधिक कार्य और महत्व नहीं था। परन्तु श्रमविभागमें वृद्धि होनेसे, आर्थिक क्रियाओंके विशिष्टीकरणसे कल-कारखानों, विद्युत्शक्ति और यातायातके त्वरितगामी साधनोंके प्रयोगसे उत्पत्ति और व्यापार की मात्रामें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योंको सुगमतासे सम्पादित करवानेके लिए विशिष्ट संस्थाओंकी भी आवश्यकता होने लगी। इसी सम्बन्धमें बैंकों और अनेक प्रकारके साख-पत्रोंका भी विकास होने लगा।

उत्पत्ति और व्यापारके कार्य साखके बिना चल नहीं सकते हैं। किसीभी किसान, दूकानदार और कारखानेके मालिकको लेलीजिए। हम देखतेहैं कि अपने कार्यके निमित्त उनको प्रथम ऋण लेना पडताहै और अपनी बनायीहुई वस्तुओंको भी साख के आधारपर (अर्थात् उधार) बेचना पडता है। भारतवर्षमें अनेक प्रकारके लोग उधार देनेका कार्य करतेहैं जिनको महाजन, साहूकार, सर्राफ, चेटी, नानावती और काबुली इत्यादि नामोंसे पुकारा जाताहै। जमीन्दार और दुकानदार भी इस कामको करते है। आधुनिक कालमें यह कार्य अधिकतर बैंकों द्वारा सम्पादित होने लगा है।

उधार चाहे द्रव्यके रूपमें अथवा वस्तु रूपमें दियाजाय, साखपर ही अवलम्बित रहता है। बिना साखके कोई व्यापारी बिना तत्काल मूल्य लिये अपना सामान

हस्तान्तरित नही करेगा और न कोई बैंक अथवा महाजन उधार देगा। साख-सम्बन्धी कार्योकी वृद्धिके कारण अनेक प्रकारके साख-पत्रोकी सृष्टि होगयी है। नोट-द्रव्यभी एक प्रकारका साख-पत्रही है। यदि हम नोटोपर लिखा लेख पढ़ें तो उसमें केन्द्रीय बैंककी ओरसे उसके गवर्नरका हस्ताक्षरयुक्त प्रतिज्ञापत्र रहताहै कि वह मागनेपर नोट-वाहकको उसपर लिखाहुआ रुपया देगा। आधुनिक कालमें नोट के अविनिमय साध्य होनेके कारण इस प्रतिज्ञाका कोई महत्व नही रहगया है परन्तु पूर्वकालमें नोटोंके बदले चादीके रुपये दियेजाते थे। आजकल भी नोटोंके अन्तर्गत सरकार और केन्द्रीय बैंककी साख है। चेकभी एक महत्वपूर्ण साख-पत्र है। इसके द्वारा बडीसे बडी रकमभी स्थानान्तरित अथवा हस्तान्तरित की जासकती है। जिस व्यक्ति अथवा सस्थाकी बैंकमें धरोहर जमा है अथवा जिसको बैंकने ऋण देना स्वीकार करलियाहै वह चेक द्वारा बैंकको आदेश देताहै कि बैंक चेकपर लिखीहुई रकमको चेकपर नामाकित व्यक्ति अथवा उसके द्वारा अधिकृत व्यक्तिको देदे। चेक तो द्रव्य नही है। इसको जो व्यक्ति द्रव्यके स्थानमें स्वीकार करताहै उसका आधारभी साखही है। कभी कभी बैंक चेकके बदलेमें रुपया देनेसे इन्कार करदेते है क्योंकि चेक लिखनेवाले की बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें धरोहर नही रहती है।

हुंडी एक विशेष प्रकारका साख-पत्रहै जिसका प्रयोग देशी और विदेशी व्यापार में होता है। इसके द्वारा वस्तुओका विक्रेता उनके मोल लेनेवाले को आदेश देताहै कि वह उनका मूल्य एक निर्धारित काल (साधारणत: तीन महीने) के बाद उसको अथवा उसके बैंकके पास जमा करदे। जब क्रेता इस हुडीपर अपने-हस्ताक्षर करके उसको स्वीकार करलेताहै तब इस स्वीकृत हुडीको बैंकमें भुनाया जासकता है। आगे चलकर हम बतायेंगे कि बैंक किसप्रकार इन हुडियोंको भुनाकर अपनीभी आय करतेहै और व्यापारके लिए द्रव्य प्रदान करते है। कभी कभी जब एक बैंक दूसरे बैंकसे ऋण लेताहै अथवा सकटके समय एक बैंक दूसरे बैंककी सहायता करता है तो इस सम्बन्धमें जिस प्रकारके साख-पत्रका प्रयोग होताहै उसको हम बैंककी हुडी कहसकते है।

दीर्घकालके लिए पूजी प्राप्ति करनेके लिएभी अनेक प्रकारके साख-पत्रोका सृजन हुआ है। इनमेंसे मुख्य विविध प्रकारके शेयर, बौड और डिबेंचर कहलाते हैं। बौड और डिबेंचर ऋण-सूचक साख-पत्र है। यदि किसी कम्पनी अथवा सरकार

को दीर्घकाल के लिए ऋणकी आवश्यकता होतीहै तो वह इनको बेचती है। इनको मोल लेनेवालोंको एक निर्धारित दरसे ब्याज दियाजाता है। शेयर स्वामित्व-सूचक साख-पत्र है। इनको मोल लेनेवालो को शेयर बेचनेवाली कम्पनियोंमें स्वामित्व का अधिकार रहताहै और इनको लाभांश मिलता है।

बैंकों का विकास और उनके कार्य

आधुनिक बैंकोंके-व्यापारी, स्वर्णकार और साहूकार-ये तीन पूर्वज बताये जाते हैं। प्राचीन कालमें बड़ी बड़ी व्यापारी कोठिया हुडियोका व्यापार करतीथी और विदेशी व्यापारकी व्यवस्था करती थी। कुछ पाश्चात्य देशोंमें लोग धात्विक द्रव्य स्वर्णकारोके पास सुरक्षाके लिए जमा करतेथे जिसके आधारपर शनैः शनैः नोट और साख-द्रव्यकी सृष्टि हुई। साहूकार ऋण देनेका कार्य करते हैं। आधुनिक बैंकोमें यह तीनो कार्य निहित है। इन प्रधान कार्योके अतिरिक्त अन्य कार्योके द्वाराभी बैंक समाजकी सेवा करते हैं। वैसेतो बैंकोके अनेक प्रकार हैं। परन्तु इनके दो बड़े वर्गीकरण किये जासकते हैं। एकको तो हम व्यापारिक बैंक कहेंगे जो अल्पकालीन ऋणसे सम्बन्धित हैं। दूसरे वर्गका सम्बन्ध दीर्घकालीन पूंजी इकट्ठा करने और उसको उत्पत्तिके कार्योंके लिए प्रस्तुत करनेमें हैं। इनमें व्यापारिक बैंकोंमें अधिक प्रगतिशीलता होती है।

प्राय: यह देखाजाता है कि व्यक्तियो और संस्थाओके पास चालू-व्यय करनेके बाद कुछ द्रव्य बचजाता है जिसको उनको वर्तमान कालमें आवश्यकता नही रहती हैं। इसके कुछ भागकी उनको निकट भविष्यमें आवश्यकता पड़तीहै और कुछ भागकी दीर्घकाल तक आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसीप्रकार ऐसे व्यक्ति और संस्थाएं होतीहैं जिनको अपने आर्थिक कार्योंके लिए अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन ऋणकी आवश्यकता रहती है। बैंकके द्वारा इन दोनो प्रकारके लोगोका कार्य सिद्ध होजाता हैं। छितरी हुई छोटी मोटी सभी प्रकारकी बचत बैंकोमें धरोहरके रूपमें जमा होती है। सबको चालू हिसाब कहतेहैं जिसका धन कभीभी बिना पूर्व सूचना के चेक द्वारा वापस लिया जासकता है अथवा हस्तान्तरित किया जासकता है। इसपर बैंक साधारणत. ब्याज नही देतेहैं फिरभी लोग चालू हिसाबमें धरोहर इस

लिए रखतेहैं कि भुगतान सम्बन्धी अनेक सुविधाओंके साथ साथ रुपया बैंकमें सुरक्षित रहता है। दूसरी प्रकारकी धरोहरको हम दीर्घकालीन धरोहर कह सकतेहैं जो कि एक निर्धारित समयके लिए बैंकके पास छोड़दी जातीहैं और उस समयमें पूर्व वापस मांगनेके लिए बैंककी स्वीकृतिकी आवश्यकता होती है। इस प्रकारके धरोहरपर बैंक ब्याज देते हैं। धरोहर रखनेका कार्य बैंकोंका एक प्रधान कार्य है। इस कार्यके सम्पादनसे बैंक बचत करनेमें प्रोत्साहन देतेहैं और बचत करनेवालों को ब्याज देकर उनकी आयमें भी वृद्धि करते हैं। बैंकोंके न होनेपर समाजकी बचतका कुछ हिस्सा अवश्यमेव बेकार घरोंमें पड़ा रहता जो न बचत करनेवालोंकी आय में वृद्धि करता और न समाजके आर्थिक कार्योंमें लगने पाता। बैंकोंके द्वारा बेकार संचित पड़ाहुआ द्रव्य प्रचालित होता है। इस प्रचालनका कार्य बैंक विविध प्रयोजनों के लिए व्यक्तियों अथवा संस्थाओंको ऋण देकर हुंडिया भुनाकर और सिक्यूरिटिया खरीदकर सम्पादित करते हैं। इससे उत्पादन कार्य और व्यापारमें वृद्धि होती है। ऋण देकर और अन्य प्रकारसे भी धरोहर द्रव्यको आर्थिक कार्योंमें लगवाना यह बैंकोंका दूसरा प्रधान कार्य है।

बैंक केवल दूसरोंकी धरोहरको ही प्रचालित नहीं करतेहैं परन्तु जैसाकि हम साख-द्रव्यके सम्बन्धमें लिख आयेहैं वे एक नये प्रकारके द्रव्यका भी सृजन करतेहैं और उसकोभी आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध करते हैं। हम देखचुके हैं कि इस साख-द्रव्यके प्रयोगसे धात्विक द्रव्यकी बचत होजाती है और सोने चादीका एक बड़ा भाग द्रव्यके कार्यसे निकलकर अन्य आर्थिक कार्योंके लिए उपलब्ध होजाता है। प्रगतिशील आर्थिक कार्योंके लिए प्रगतिशील द्रव्य-पद्धतिभी चाहिए। साख-द्रव्यका समावेश करनसे द्रव्य-पद्धतिमें यह गुण आजाता है। यहापर हम यहभी लिखदेना चाहतेहैं कि बैंकोंकी इस साख द्रव्य सृजन करनेकी शक्तिका बहुधा दुरुपयोगभी होजाता है। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार आर्थिक अस्थिरताओंका एक प्रधान कारण साख-द्रव्यकी अस्थिरतासे सम्बन्धित किया जासकता है। अतएव इस साख-द्रव्यमें प्रबन्ध और नियन्त्रणकी आवश्यकता रहती है। यह कर्तव्य केन्द्रीय बैंकका है और उस प्रकरणमें हम उन उपायों और उपकरणोंकी विवेचना करेंगे जिनका प्रयोग आधुनिक केन्द्रीय बैंक करते हैं।

बैंकोंके द्वारा द्रव्यको एक स्थानसे दूसरे स्थानोंमें भेजा जासकता है। बैंक अपने

आसामियोंकी विविध प्रकारसे सेवा और सहायताभी करते हैं। उनके चेक और साभादारा धन वसूलकर उनकेनामपर जमा करते हैं। उनके आदेशानुसार उनकी बीमा-किस्त अदा करते हैं। उनके शेयर, बौंड इत्यादि प्रकारके साख-पत्रोंको खरीदने और बेचनेका प्रबन्ध करते हैं। उनके आभूषण, जवाहिरात और वसीयत-नामा इत्यादि लेख्य पत्रोंको सुरक्षित रखनेका प्रबन्ध करते हैं। अपने साख-पत्र द्वारा विदेश-यात्रामें दूसरे देशोंके द्रव्यको प्राप्त करनेमें सहायता करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें विदेशी हुंडियोंको अपने आसामियोंकी ओरसे स्वीकार करके प्रोत्साहन देतेहैं। इन कार्योंके लिए बैंकोंको कमीशन मिलता है।

बैंकों की लेनी-देनी

बैंक समय समयपर अपनी आर्थिक स्थितिका विवरण एक लेख-पत्रके रूपमें देते हैं जिसके एक भागमें उसकी देनदारीकी भिन्न भिन्न मदें दीजाती है और दूसरे

देनी की मदें		लेनी की मदें और सम्पत्ति	
प्राप्त हिस्सा पूजी	२,००,००० रु	बैंकमें स्थित और केन्द्रीय बैंकमें स्थित धरोहर	२,४०,००० रु.
रक्षा कोष	२ ००,००० रु	अन्य बैंकोंमें जमा तथा वसूल न हुए चेक	१०,००० रु
धरोहर	२०,००,००० रु	तुरन्त देय और अल्प-कालीन ऋण	१,००,००० रु.
स्वीकृतिया	४० ००० रु	भुनाई हुडिया	२,००,००० रु
अन्य मदें	६०,००० रु	लगी पूजी	४,५०,००० रु
कुल	२५,०० ००० रु	उधार	१२,००,००० रु
		स्वीकृतिया	६०,००० रु.
		सम्पत्ति (मकान, फर्नीचर इत्यादि)	२,४०,००० रु.
		कुल	२५,००,००० रु.

भागमें बैंककी सम्पत्ति और पावनेकी मदें दीजाती हैं। इस लेनी-देनीके लेखेसे बैंककी आर्थिक-स्थिति और उसके कार्यका भी बोध होता है। पिछले पृष्ठपर दीगयी तालिकामें लेनी और देनीकी मुख्य मदें दीगयी हैं और उनके अपने कल्पित आंकड़ेभी दिये गये हैं:

अब हम इन मदोंका संक्षिप्त विवरण और उनके महत्वकी विवेचना करेंगे। प्राप्त-हिस्सा पूंजी बैंककी वह पूंजीहै जो उसके हिस्सेदारोंने शेयरके मूल्यके रूपमें दी है। यह देनदारी बैंकके अपनेही हिस्सेदारोंके सम्बन्धमें है। परन्तु यह तुरन्त देय देनदारी नहीं है। बैंकको खोलनेके लिए पर्याप्त पूंजीकी आवश्यकता होती है। इससे बैंकपर विश्वास रहता है। भारतवर्षमें एक निर्धारित पूंजी इकट्ठा किए बिना बैंक अपना कार्य आरम्भ नहीं करसकते हैं। रक्षा-कोष बैंकके लाभका वह संचित भागहै जो उसके हिस्सेदारोंको न देकर एक कोषके रूपमें बैंकमें जमा रहता है। यह देनदारीभी बैंककी अपने हिस्सेदारोंके प्रति है। संकटके समय और आसामियोंमें विश्वास बनाये रखनेके लिए इस कोषसे सहायता मिलती है। धरोहर देनदारीकी सबसे बड़ी मद होतीहै इसमें राज-प्रामाणित द्रव्यमें रखी धरोहर तथा बैंकों द्वारा सृजित साख-द्रव्य भी शामिल है। यह देनदारी बैंककी अपने धरोहर वालाके प्रति है। चालू धरोहरको मांगनेपर तत्काल राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें देना पड़ता है। अपनी इस ऋण-शोधन क्षमताको बनाये रखनेके लिए बैंकको पर्याप्त मात्रामें नकदी रखनी पड़ती है। हुंडियोंको अपने आसामियोंके निमित्त स्वीकार करनेके कारण बैंक हुंडियोंके मालिकका देनदार बनजाता है परन्तु अपने आसामियों से वह उतनीही रकमका लेनदार भी रहता है। अतएव यह मद लेनीकी मदोंके साथभी दिखायी गयी है। अन्य छोटी मोटी देनदारीकी मदें भी होतीहैं जो कि बैंकको अपने व्यवसायके सम्बन्धमें स्वीकार करनी पड़ती है।

बैंककी सम्पत्ति और लेनीकी मदोंमें नकदीको प्रमुख स्थान दिया जाता है। इसका लेखा राज-प्रामाणित द्रव्य-मुद्रा और नोटके रूपमें बैंकमें ही रहता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंकमें भी किसी बैंककी जो धरोहर है उसकोभी बैंक नकदी ही समझताहै क्योंकि वह इसी रूपमें मांगी जासकती है। अन्य बैंकोंमें जमा धरोहर और वह चेक जो अन्य बैंकोंसे वसूल करनेके निमित्त पड़ेहुए हैं, नकदीके ही रूपमें हैं। नकदी बैंककी सबसे अधिक द्रव्य-सम्पत्ति है। इसके परिमाणपर बैंककी ऋण-

शोधन क्षमता प्रधान रूपमें अवलम्बित रहती है। अतएव बैंकोको अपनी धरोहर की देनदारीका एकभाग इस रूपमें रखना पडता है। इसका परिमाण बैंक अपने अनुभवके आधारपर जानसकते है। बैंक इस मदको अधिक परिमाणमें नही रखना चाहतेहै क्योंकि इससे उनको कोई आय नही होती है। अतएव कुछ अदूरदर्शी बैंक नक्दी इतने कम परिमाणमें रखतेहै कि वे अपने धरोहर रखनेवालो को राज-प्रामाणित द्रव्य देनेमें असमर्थ होजातेहै जिसके फलस्वरूप उनको अपना व्यापार बन्द करनेको बाध्य होना पडता है। इस परिस्थितिसे बचनेके लिए अनेक देशोमें राज-नियम द्वारा इस मदका न्यूनतम परिमाण निर्धारित करदिया जाता है। यदि किसी बैंकमें नकदीका अनुपात कम होनेलगे तो लोग उसको सदिग्ध दृष्टिसे देखने लगते है।

बैंक कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियो और सस्थाओंको नाम-मात्र ब्याजपर इस शर्तपर ऋण देतेहै कि वह मागनेपर तुरन्तही अथवा कुछ दिनोकी नोटिस मिलनेपर (एक दिनसे सात दिनतक) इस रकमको लौटा देंगे। इस प्रकारका ऋण प्रधानत: स्टाक-एक्सचेन्जसे सम्बन्धित लेनदेनके कार्यमें लिया जाता है। इस प्रकारके ऋणमें बहुत द्रवता रहतीहै अर्थात् आवश्यकता पडनेपर थोडे समयके अन्दर बैंकको यह द्रव्य वापस मिल सकता है। बैंक, हुडी भुनानेका भी काम करते है। साधारणत: इन हुडियोकी अवधि तीन महीनेकी होती है। बैंक हुडीकी रकमका वर्तमान मूल्य हुडीके स्वामीको देतेहै और अवधि पूरी होनेपर पूरा मूल्य वसूल करलेते है। इन दो मूल्योंका जो अन्तर होताहै वही बैंककी आय है। इन हुडियोमें अपनी सम्पत्ति रखनेसे बैंकको एक यह सुविधा होतीहै कि आवश्यकता पडनेपर बैंक इन भुनायी हुई हुडियोको केन्द्रीय बैंकके पास दुवारा भुनाकर अपनी देनदारी पूरी करसकता है। लगी पूजीका आशय बैंक द्वारा मोल लीगयी सरकारी सिक्यूरिटिया, बौड, डिबेंचर और कभी कभी औद्योगिक सिक्यूरिटिया भी है। इन सिक्यूरिटियोंसे बैंक को पूर्वलिखित मदोंसे अधिक आय होतीहै और आवश्यकता पडनेपर इनको बेच कर अथवा केन्द्रीय बैंकके पास इनको बन्धकके रूपमें रखकर द्रव्य प्राप्त होसकता है। परन्तु इस मदमें एक त्रुटि यहहै कि इन सिक्यूरिटियोका मूल्य बदलता रहता है। अतएव कभी कभी मूल्य घटजाने से हानि होनेकी सम्भावनाभी रहती है। अधिकतर बैंककी लेनोकी मदका सबसे बडा परिमाण उधारकी मदका होता है।

अपने आसामियोको ऋण देकर बैंक उनसे ब्याज वसूल करते है। इस मदसे सबसे अधिक आय होती है। परन्तु इस मदमें सबसे कम द्रवता और सबसे अधिक खतरा भी रहता है। इसके अतिरिक्त जितने कालके लिए ऋण दियागया हो उससे पहिले आवश्यकता पडनेपर भी बैंकको धन वापस नही मिलसकता है। अवधि पूरी होने परभी प्राय ऋणी अवधि बढानेकी प्रार्थना करते है। कुछ ऋणी ऋण-शोधनमें असमर्थ होजाते है। साधारणत बैंक इस प्रकारके खतरेसे अपनी रक्षा करनेके लिए ऋणी लोगोंसे सोना, चादी, आभूषण और सिक्यूरिटी इत्यादि बन्धकके रूपमें रखवालेते है। व्यापारिक बैंक प्राय, थोडी अवधि (एक वर्षसे कम) के लिए ही ऋण देते है।

बैंकके लेनी-देनीके लेखेके दोनो भागोका योग बराबर होताहै क्योंकि इसका हिसाबही इस प्रकारसे रखाजाता है। परन्तु एक दूरदर्शी बैंकको अपनी सम्पत्ति और लेनीके मदोंके अनुपातपर दृष्टि रखनी पडती है। कुछ मदोसे आय नही होती है परन्तु उनको रखना बहुत आवश्यक है। कुछ मदोमें आय तो अधिक होनीहै परन्तु उनमें जोखिम अधिक रहता है। बैंकके प्रबन्धकको समय समयपर सभी मदोको इस अनुपातसे बदलते रहना पडताहै कि उनमें पर्याप्त मात्रामें द्रवता अर्थात् द्रव्य-विनिमय क्षमता रहे जिससे वह अपने देनदारोकी मांगोको पूरी करनेमें समर्थ रहे और साथही साथ उन मदोसे इतनी आयहो कि बैंक सम्बन्धी व्ययको चुकाकर हिस्सेदारोके लिए पर्याप्त मात्रामें लाभभी बचा रहे।

केन्द्रीय बैंक

आधुनिक कालमें प्राय सभी देशोंमें द्रव्य और बैंक पद्धतिका प्रबन्ध और नियन्त्रण करने और इनको आर्थिक स्थितिके अनुकूल बनाये रखनकी चेष्टा करनेका कार्य केन्द्रीय बैंकको सौंपागया है। प्रथम महायुद्धके पश्चात् इस प्रकारके बैंकोकी स्थापना शीघ्रतासे होनेलगी। प्रारम्भमें अनेक देशोंमें हिस्सेदारो वाले केन्द्रीय बैंको की स्थापना हुई। परन्तु अब इन बैंकोको राष्ट्रीय बैंकके रूपमें रखनेकी प्रवृत्ति होरही है। भारतके केन्द्रीय बैंक, रिजर्व-बैंक का भी राष्ट्रीयकरण होगया है। वैसे भी जब केन्द्रीय बैंक हिस्सेदारोके स्वामित्वमें थे उनके प्रबन्ध करनेमें राज्यका हाथ

सदैव रहता था। उसकी नीति राज्यकी नीतिके अनुसारही बनायी जातीथी और व्यवहारमें लायीजाती थी। राज्यके आर्थिक कार्योंमें अधिक भाग लेनेके कारण और आर्थिक योजनाके महत्वके कारणभी केन्द्रीय बैंकको राज्यका ही एक विभाग बनाना आवश्यक होगया।

केन्द्रीय बैंकसे यह आशा कीजाती है कि वह द्रव्य और बैंकोंके सम्बन्धमें इसप्रकार की नीतिको व्यवहारमें लाये जिससे द्रव्यका परिमाण आर्थिक अवस्थाके उपयुक्त हो, मूल्य-स्तरमें अधिक अस्थिरता न आने पावे और जहांतक होसके, विदेशी विनिमय की दरमें भी स्थिरता बनी रहे। इस कार्यके सम्पादनके हेतु केन्द्रीय बैंकोको नोटोंके छापने का एकाधिकार रहता है। आधुनिक कालमें राज-प्रामाणित द्रव्य अधिकांश मात्रामें नोटके रूपमें ही रहता है। अतएव नोटको चलनमें लाने पर अधिकार होनेसे और द्रव्य-पद्धतिके प्रबन्ध करनेका भार अपने ऊपर आजाने से केन्द्रीय बैंक का उत्तरदायित्व बहुत बढगया है। चूंकि वर्तमान द्रव्य-पद्धतिमें साख द्रव्यका प्रभुत्व बढता जारहा है अतएव उसपर नियन्त्रण करनेका कार्य बहुत महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक अनेक साधनो और उपकरणोंका प्रयोग करता है।

यदि बैंक आवश्यकतासे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यका सृजन कररहे हों तो केन्द्रीय बैंक उनकी गतिमें रोकथाम करनेकी चेष्टा करेगा और यदि आर्थिक कार्यो के लिए द्रव्य अपर्याप्त है तो केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोको अधिक मात्रामें साख-द्रव्य सृजन करनेके लिए उत्साहित करेगा। इस कार्यके सम्पादनके लिए केन्द्रीय बैंक निम्नलिखित साधनोंका प्रयोग करते हैं:

(१) केन्द्रीय बैंकके व्याजकी दरमें परिवर्तन। हम जानतेहैं कि जब बैंक अपनी ब्याजकी दर कम कर देते हैं तो उधारका परिमाण बढजानेसे साख-द्रव्यका परिमाण भी चलनमें बढजाता है और जब बैंक ब्याजकी दर बढा देतेहैं तो साधारणत. उधार का परिमाण कम होजानेसे साख-द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजाती है। अब यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंकी ब्याजकी दरको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसके तो वह साख-द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रण करनेमें भी सफल हो सकेगा। केन्द्रीय बैंकको अपनी निजकी भी ब्याजकी दर होतीहै जिसके हिसाबसे वह अन्य बैंकोंकी हुंडियो को भुनाताहै अथवा उनको उधार देताहै। जिन देशोंमें केन्द्रीय-बैंकप्रणाली विकसित

होचुकी है वहा अन्य बैंकोकी ब्याजकी दर और केन्द्रीय बैंककी ब्याजकी दर साधारणत: एकही दिशामें बदलती है। अतएव यदि केन्द्रीय बैंक साख द्रव्यकी मात्राको कम करना चाहताहै तो वह अपनी व्याजकी दरको बढादेता है और यह आशा करता है कि अन्य बैंकभी अपनी ब्याजकी दर बढा देंगे और इस प्रकार उधारकी माना (जिस पर अधिकतर साख-द्रव्यका परिमाण निर्भर रहता है) घट जायगी। इसके प्रतिकूल यदि केन्द्रीय बैंक साख द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित करना चाहताहै तो वह अपनी व्याजकी दरको घटादेता है और आशा करताहै कि अन्य बैंकभी उसका अनुकरण करेंगे और इसके फलस्वरूप उधारकी माग बढ जायगी और अधिक साख-द्रव्य चलनमें आजायगा। केन्द्रीय बैंककी ये आशायें सभी अवस्थाओंमें पूर्ण नही होती है। यदि अन्य बैंकोंके पास पर्याप्त नकदीहै और उनको केन्द्रीय बैंककी सहायता की आवश्यकता नहींहै तो वे केन्द्रीय बैंकके ब्याजकी दर बढजाने परभी अपने ब्याज की दर पूर्ववत् रख सकतेहैं अथवा उस अनुपातपर न बढावें जिस अनुपातपर केन्द्रीय बैंक बढवाना चाहता है। इसीप्रकार जब केन्द्रीय बैंक अपनी व्याजकी दर कम करदेते है तो यह आवश्यक नहीहै कि अन्य बैंकभी पर्याप्त मात्रामें अपनी ब्याजकी दर कम करदें। केन्द्रीय बैंकका कार्य लाभ-उपार्जनके लिए नही होता है अतएव वह ब्याजकी दरको बहुत कम करसकता है। परन्तु अन्य बैंकतो लाभकी आशासे बैंकके कार्यको करत है। वे अपने ब्याजकी दर इतनी कम नहीं करसकते कि उनको बैंकके व्ययको पूरा करके हिस्सेदारोको उपयुक्त लाभ न प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त यदि अन्य बैंक केन्द्रीय बैंककी इच्छानुसार व्याजकी दरको कमभी करदें तो यहै आवश्यक नहीहै कि उधारकी मात्रामें वृद्धि हो ही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसर पर जबकि उत्पादकोमें नैराश्य छाया रहताहै ब्याजकी दर कम होनेसे भी पूजी लगानेकी प्रवृत्ति नही होती है। अतएव व्यापारी लोग उधार लेतेही नही अथवा पर्याप्त परिमाणमें नही लेते है। इसी प्रकार आर्थिक उत्कर्षके अवसरपर जब मूल्य-स्तर और लाभ-स्तरमें बढनेकी प्रवृत्ति रहतीहै उस अवसरपर ब्याजकी दरको बढादेनेपर भी उधारकी मागमें कमी नही आती है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि केन्द्रीय बैंक अपनी ब्याजकी दरको घटाने और बढानेमें प्रत्येक अवस्थामें साख द्रव्यके परिमाणको नियन्त्रित करनेमें सफल नही होता है।

(२) साधारणत: केन्द्रीय बैंक अपने बैंक सम्बन्धी कार्यों द्वारा अन्य बैंकोके साथ

प्रतिस्पर्धा नहीं करता है। परन्तु यदि उनको किसी समस्याका सामना करनाहो तो वह खुले तौरपर इन कार्योंमें भाग लेसकता है। हम इस साधनको 'खुले हाटकी क्रियाएं' कहेंगे। इसका आशय यहहै कि किसी असाधारण द्रव्य-सम्बन्धी अवस्था का प्रतिकार करनेके लिए केन्द्रीय बैंक बिना किसी प्रकारकी रुकावटके सिक्यूरिटियो को स्वय निर्धारित मूल्यपर मोल लेसकता और बेच सकताहै और इस क्रिया द्वारा अन्य बैंकोको अपने साख-द्रव्यमें वृद्धि अथवा कमी करनेको बाध्य करनेकी चेष्टा करता है। इस खुले हाटकी क्रियाके मूलमें प्रधान बात यहहै कि व्यापारिक बैंक नकदीके आधारपर साख द्रव्यका सृजन करते है। यदि उनके पास नकदीकी मात्रामें वृद्धि होजाय तो वे साख द्रव्यमें भी वृद्धि करसकेंगे और यदि नकदीकी मात्रामें कमी आजाय तो उनको साख द्रव्यके परिमाणको घटाना पडेगा केन्द्रीय बैंक खुले हाटकी क्रियाके द्वारा व्यापारिक बैंकोके नकदीके कोषमें आवश्यकतानुसार वृद्धि अथवा कमी करनेकी चेष्टा करताहै और आशा करताहै कि नकदीकी वृद्धि होनेसे साख द्रव्यके परिमाणमें भी कमी आजायेगी। इस स्थितिको लानेके लिए खुले हाटकी क्रियाके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक द्वारा सिक्यूरिटियोको पर्याप्त मात्रामें मोल लिया अथवा बेचा जाता है। यदि केन्द्रीय बैंक नकदीकी मात्रामें वृद्धि करना चाहताहै तो वह सिक्यूरिटियोको मोल लेने लगता है। यदि व्यापारिक बैंक सिक्यू-रिटिया बेचें तो तुरन्तही उनके नकदीके परिमाणमें वृद्धि होजाती है। यदि केन्द्रीय बैंक राज-प्रामाणित द्रव्यके रूपमें इन सिक्यूरिटियोंके रूपमें इन सिक्यूरिटियोका मूल्य चुकायें तो इस परिमाणकी नकदी व्यापारिक बैंकोके पास आजायगी। अथवा यदि केन्द्रीय बैंक अपने हिसाबमें इन बैंकोंकी धरोहरमें वृद्धि करदे तबभी इस धरोहरको व्यापारिक बैंक नकदीही समझते है। यदि अन्य बैंक अथवा सस्थायें केन्द्रीय बैंकको सिक्यूरिटिया बेचतीहै तबभी प्राप्त मूल्यका कुछ न कुछ हिस्सा व्यापारिक बैंकोमें अवश्य जमा होजाता है जिससे उनके नकदीके कोषमें वृद्धि होती है। इसके प्रतिकूल सिक्यूरिटियोके बेचनसे केन्द्रीय बैंक व्यापारिक-बैंकोकी नकदी अपने पास खीचने लगता है। यदि केन्द्रीय बैंक पर्याप्त मात्रामें आकर्षक मूल्यपर सिक्यूरिटिया बेचे अथवा मोलले तो वह बैंकोके नकदीके कोषको पर्याप्त मात्रामें प्रभावित करसकता है। परन्तु ऐसाभी होसकताहै कि केन्द्रीय बैंकके पास पर्याप्त मात्रामें बेचनेके हेतु सिक्यूरिटिया न हों। इसके अतिरिक्त यदि केन्द्रीय बैंक एक

ओर सिक्यूरिटिया बेचकर नकदीके कोषमें कमी लानेकी चेष्टा करे परन्तु दूसरी ओरसे व्यापारिक बैंक इन सिक्यूरिटियोंके आधारपर केन्द्रीय बैंकसे नकदी प्राप्त करसकें तो खुले व्यापारकी क्रिया सफल नही होगी। अतएव सिक्यूरिटियोंको बेचनेके साथ साथ केन्द्रीय बैंकको अपनी न्याजकी दरमें भी वृद्धि करनी होगी। इसके अतिरिक्त यहभी अवश्यम्भावी नहीहै कि नकदीके कोषमें वृद्धि होनेके फलस्वरूप साख द्रव्यके परिमाणमें वृद्धि होही जायगी। आर्थिक मन्दीके अवसरपर बैंकोंमें बहुत नकदीका कोष बेकार संचित रहताहै और केन्द्रीय बैंकभी इसमें वृद्धि करने को प्रस्तुत रहतेहै फिरभी चलनमें साख द्रव्यके परिमाणमें विशेष वृद्धि नही होती है। इसका कारण यहहै कि उधार लेनेवालो का पक्ष लाभ न होनेके कारण नये साख द्रव्यको उत्पत्तिके कार्योंमें लगानेको प्रवृत्त नही रहता है। इसप्रकार हम देखते है कि खुले हाटकी क्रियाभी प्रत्येक अवस्थामें साख द्रव्यके प्रबन्धमें पूर्णरूपसे सफल नही होती है।

(३) संयुक्त राज्य अमेरिकामें केन्द्रीय बैंकको यह अधिकार मिला हुआहै कि वह अपने सदस्य व्यापारिक बैंकोको बाध्य कर सकताहै कि वे अपनी देनदारीका एक न्यूनतम निर्धारित भाग नक्दीके रूपमें रखें। इस अनुपातमें केन्द्रीय बैंक परिवर्तन भी करसकते है और इस परिवर्तनके फलस्वरूप साख-द्रव्यके सृजनको प्रोत्साहित अथवा सकुचितभी करसकते है। उदाहरणके लिए व्यापारिक बैंकोको अपनी देनदारीका २० प्रतिशत नकदीके रूपमें रखना पडताहै तो वे किसीभी नकदीकी मात्रा के आधारपर अधिकसे अधिक पाचगुने साख-द्रव्यका सृजन करसकते है। परन्तु यदि केन्द्रीय बैंक इस अनुपातको घटाकर दस प्रतिशत करदे तो उसी नकदीकी मात्राके आधारपर दस-गुने साख-द्रव्यका सृजन होसकता है। इसके प्रतिकूल यदि इस अनुपातमें वृद्धि करदी जाय तो बैंकोंके साख द्रव्यकी मात्रामें भी कमी करनी पडेगी। परन्तु यदि बैंकोंके पास अतिरिक्त नकदी प्रचुर मात्रामें है तो इस अनुपात में वृद्धि होनेपर भी बैंक साख-द्रव्यके परिमाणको कम करनेको बाध्य नही होंगे। अनेक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार अन्य देशोके केन्द्रीय बैंकोको भी अन्य साधनोंके साथ साथ इस साधनका प्रयोगभी साखके नियन्त्रणके सम्बन्धमें करना चाहिए।

इन तीन साधनोंके अतिरिक्त यहभी कहा जाताहै कि केन्द्रीय बैंकको अन्य बैंकों पर अपने ऊचे और सम्मानित पद का नैतिक प्रभावभी डालना चाहिए। यदि

देशमें द्रव्य-सम्बन्धी दुरावस्था उत्पन्न होनेकी आशकाहो तो केन्द्रीय बैंकको चाहिए कि अन्य बैंकोका ध्यान इस ओर आकर्षित करे और उनको उचित सलाह दे। केन्द्रीय बैंक कहातक इस कार्यमें सफलहो सकेगा यह केन्द्रीय बैंकके सामर्थ्य, प्रभाव और अन्य बैकोके साथ उसका किसप्रकार सम्बन्ध है, इन बातोपर निर्भर रहेगा।

केन्द्रीय बैंक राज्य-सम्बन्धी आर्थिक कार्यभी करते है। आधुनिक कालमें राज्य, कर द्वारा देशकी आयका एक बडा हिस्सा प्राप्त करता है और इस आयको व्यय करता है। ऋण लेकरभी राज्य देशके द्रव्य सम्बन्धी कार्योमें हस्तक्षेप करता है। अतएव यह आवश्यक होजाताहै कि राज्यके इस प्रकारके द्रव्य-सम्बन्धी कार्य केन्द्रीय बैंक द्वारा सम्पादित हो। केन्द्रीय बैंक राज्यकी आयको अपनेपास धरोहर के रूपमें रखता है। राज्यके ऋणका प्रबन्धभी केन्द्रीय बैंक करते है। अन्य देशोसे जो राज्यका द्रव्य-सम्बन्धी लेनदेन होताहै वहभी केन्द्रीय बैंक द्वाराही किया जाता है।

केन्द्रीय बैंकको बैंकोका बैंकभी कहते है। इस रूपमें केन्द्रीय बैंक अपने पास अन्य बैंकोकी धरोहर रखते है। किसी किसी देशमें बैंकोको एक न्यूनतम धराहर केन्द्रीय बैंकके पास रखनी पडती है। भारतमें शेड्यूल्ड बैंका (जिनकी पूजी और सचित कोष ५ लाखसे अधिक हो) को अपनी तत्काल देय धरोहरका ५ प्रतिशत और दीर्घकालिक धरोहरका २ प्रतिशत रिजर्व बेक (भारत का केन्द्रीय बैंक) के पास बनाये रखना पडता है। अमेरिकाके सयुक्त राज्यमें भी इसी प्रकारकी प्रथा है। अन्य देशोमें अपनी सुविधाके लिए बैंक केन्द्रीय बैंकमें धरोहर रखते है। इस प्रकार बैंकोकी धरोहरका एकत्रीकरण और केन्द्रीयकरण होजाने से केन्द्रीय बैंक किसी बैंककी सकटकी अवस्था पर आर्थिक सहायता करनेमें समर्थ होता है।

यदि बैंकोपर सकट आताहै तो वे अन्ततोगत्वा केन्द्रीय बैंककी शरण लते है। इसलिए केन्द्रीय बैंकको अन्तिम ऋणदाता कहाजाता है। केन्द्रीय बैंकको अधिकार रहताहै कि वह कुछ परिमाण तक सिक्यूरिटियोके आधारपर नोट छाप सकता है। अतएव जब बैंकोके ऊपर सकट आताहै तो केन्द्रीय बैंक उनकी भुनायीहुई हुडियो को फिरसे भुनाकर अथवा उनकी सिक्यूरिटियोको बन्धकके रूपमें अपनेपास रखकर उनके आधारपर बैंकोको ऋण देकर उनकी सहायता करता है। भारतके रिजर्व बैंकका एक यहभी कर्तव्यहै कि वह समय समयपर बैंकोका निरीक्षण करता रहे,

उनको उचित सलाह दे और इसप्रकार संकट उत्पन्न होनेके कारणोंको प्रभावरहित करता रहे।

केन्द्रीय बैंक अन्य बैंकोंके लिए क्लियरिंग हाउसका कार्य भी करते हैं। क्लियरिंग हाउस एक ऐसी संस्था होतीहै जहांपर बैंकोंको आपसी लेनी-देनीका भुगतान होता है। उदाहरणके लिए यदि लखनऊ शहरमें २० बैंकहैं तो प्रत्येक दिन प्रत्येक बैंकके पास अन्य बैंकपर लिखेहुए चेक जमा होंगे जिन्हें वसूल करनेके लिए उनको प्रबन्ध करना पड़ेगा। क्लियरिंग हाउससे यह कार्य बड़ी सुगमतासे होजाता है। सभी बैंक क्लियरिंग हाउसमें अपना हिसाब रखते हैं। मानलीजिए लखनऊमें इम्पीरियल बैंक क्लियरिंग हाउसका कार्य करता है। प्रत्येक बैंकका एक प्रतिनिधि अन्य बैंकों पर लिखेहुए प्राप्तहुए चेकोंको लेकर इम्पीरियल बैंक पहुंचेगा। मान लीजिए सेन्ट्रल बैंकके पास इलाहाबाद बैंकपर १००० रुपयेके चेक्है और इलाहाबादके पास सेन्ट्रल बैंकपर ८०० रुपयेके चेक है। अब ८०० रुपयेका तो आपसमें ही हिसाब होजाता है। शेष २०० रुपयेका चेक इलाहाबाद बैंक सेन्ट्रल बैंकको क्लियरिंग हाउसपर देदेगा और क्लियरिंग हाउसके खातेमें इलाहाबाद बैंककी धरोहरमें २०० रुपये कम करदिया जायगा और सेन्ट्रल बैंकके हिसाबमें २०० रुपये जोड़ दिया जायगा। इसीप्रकार अन्य बैंकोंकी भी आपसकी लेनी देनीका हिसाब होजाता है। दूरके चेकोंके सम्बन्धमें केन्द्रीय बैंक क्लियरिंग हाउसका काम सुविधापूर्वक कर सकताहै क्योंकि इसके पास अन्य बैंकोंकी धरोहर रहती है।

अन्य बैंकोंकी तरह केन्द्रीय बैंकभी अनेक प्रकारके बैंक सम्बन्धी कार्य करता है। परन्तु विशेष उत्तरदायित्व और कर्तव्य होनेके कारण इसके कार्योंमें कुछ प्रतिबन्ध लगायेजाते हैं। यह किसी उद्योग धन्धे अथवा वाणिज्य व्यवसायमें भाग नहीं ले सकते हैं। बिना पूर्व स्वीकृत जमानतके ऋण नहीं देसकते हैं। सब प्रकारकी हुंडियों को नहीं भुना सकते हैं। धरोहर पर ब्याज नहीं देते हैं। इन प्रतिबन्धोंका अभिप्राय यहहै कि केन्द्रीय बैंकको राष्ट्रीय बैंक होनेके कारण सदैव इस योग्य बना रहना पड़ता है कि वह न केवल अपनी ऋण शोधन-क्षमता बनाये रखें वरन् जैसाकि ऊपर लिखा जाचुका है संकटके अवसरपर अन्य बैंकोंकी सहायता करें। अतएव केन्द्रीय बैंक जोखिमके कार्योंमें अपना रुपया नहीं फंसा सकता है।

केन्द्रीय बैंकोंसे आर्थिक व्यवस्थाकी अस्थिरतासे बचानेमें बहुत कुछ आशाकी

जाती है। जहातक द्रव्य-जनित अस्थिरता का सम्बन्धहै केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें सहायता करसकता है परन्तु भविष्यमें किस प्रकारकी आर्थिक स्थिति होगी इसका पूर्वज्ञान प्राप्त करना बहुत कठिन कार्य है। भिन्न भिन्न आर्थिक अवयवोंके उपकरणो के आधारपर अनुमान लगाया जाताहै और तब द्रव्य-नीति को आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेकी चेष्टा कीजाती है। केन्द्रीय बैंक इस सम्बन्धमें अब विशेष रूपसे गवेषणा कररहे है और अपने साधनों और उपकरणोंको भी उपयुक्त बनानेकी चेष्टा कररहे है। अभीतक इस कार्यमें अधिक सफलता प्राप्त नही होसकी है परन्तु आशा की जाती है कि भविष्यमें केन्द्रीय बैंक इस कार्यमें उत्तरोत्तर सफल होगे।

२६

विदेशी विनिमय

विदेशी विनिमय की आवश्यकता

आधुनिक कालमें कोईभी देश अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्बन्धों और परिस्थितियोंसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहसकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजीके आयात और निर्यातके फलस्वरूप प्रत्येक देशमें अन्य देशोंके साथ लेनी देनीसे सम्बन्धित प्रश्न तथा समस्याएं उत्पन्न होजाती हैं। यदि सभी देशोंमें एकही प्रकारकी द्रव्य-पद्धति होती और एकही प्रकारका द्रव्य होनातो इस प्रकारकी लेनी देनीकी अनेक समस्याओंका समाधान सुगमतासे होसकता। परन्तु वास्तवमें ऐसी स्थिति नहीं पायीजाती है। प्रत्येक देशमें आर्थिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक कारणोंसे भिन्न भिन्न प्रकारके द्रव्य और द्रव्य-रीतियां विकसित हुई हैं। अतएव राज्यकी सीमा द्रव्यकी सीमाभी बन गयीहै एक देशका राज्य-प्रमाणित द्रव्य दूसरे देशमें द्रव्यके रूपमें काममें नहीं लाया जासकता। यदि सोनेकी मुद्राभी हो, तो एक देशकी मुद्रा दूसरे देशोंमें द्रव्यका काम नहीं देसकती क्योंकि वहाकी सोनेकी मुद्राकी तौल, सोने की शुद्धता इत्यादि भिन्न होते हैं। एक देशकी सोनेकी मुद्रा अन्य देशोंमें द्रव्यके रूपमें नहीं बल्कि वस्तुके रूपमें स्वीकार कीजाती है। कागजका नोट तो केवल अपनेही देशमें द्रव्यका काम देसकता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हम भारत और पाकिस्तानमें देख सकतेहैं जिनमें दो ढाई वर्ष पूर्व एकही प्रकारका द्रव्य था। अब पाकिस्तानके नये नोट और भारतके नये नोट भिन्न भिन्न प्रकारके होगये है और अपने अपने देशमें ही प्रमाणित मानेजाते हैं। अतएव यदि भारतवासियोंको पाकिस्तानमें मोल लीगयी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य चुकानाहै तो उनको पाकिस्तानके द्रव्यकी आवश्यकता होगी और यदि पाकिस्तान वालोंको भारतसे प्राप्त वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य चुकानाहै तो उनको भारतके द्रव्यकी आवश्यकता होगी। दूसरे देशके द्रव्यको प्राप्त करनेके लिए उसका

मूल्य देनापडता है। विदेशी द्रव्यको विदेशी विनिमयभी कहतेहैं और जिस मूल्यपर वह प्राप्त होताहै उसको विदेशी विनिमयकी दर कहते हैं।

वस्तुत: अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीका भुगतान वस्तु तथा सेवाके विनिमय द्वाराही सम्पादित होता है। ऐसा बहुत कम होताहै कि देनदार देश अपने देशका द्रव्य लेन-दार देशोंको भेजे और जैसा हम आगे चलकर बतायेंगे, इसकी आवश्यक्ताभी नहीं होती। अभी हमने बताया कि एक देशका द्रव्य दूसरे देशोंमें प्रामाणिक नहीं होता। सोने चादीकी मुद्राएंभी यदि देनदारी पूरी करनेके लिए अन्य देशोंको भेजी जातीहैं तो उनको द्रव्य न कहकर हमको धातु-वस्तुही समझना चाहिए। जिसप्रकार चाय के निर्यातसे हम अपनी देनदारी चुका सकतेहैं, वही काम सोनेके निर्यातसे भी हो सकता है। परन्तु सोनेके निर्यात और चाय अथवा अन्य वस्तुओंके निर्यातसे देन-दारी चुकानेमें एक महत्वपूर्ण भिन्नता यहहै कि सम्भवहै लेनदार देशको हमारी वस्तुओंकी आवश्यकता न हो अथवा किन्हीं कारणोंसे वह इन वस्तुओंको अस्वीकार करदे परन्तु जहांतक सोनेका प्रश्नहै उसको वह अवश्य स्वीकार करलेगा क्योंकि सोना एक ऐसा पदार्थहै जिसका प्रयोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें प्रत्येक देशमें द्रव्यके रूपमें होताहै और सम्भवत होता रहेगा। सोनेके निर्यातसे अन्य देशोंके द्रव्य को प्राप्त करना सुगम होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनी का सामंजस्य

यदि दो देशोंमें कुल लनी-देनी वस्तु तथा सेवा-विनिमय द्वाराही चुक्ता कीजाये तो भी इस बातकी आवश्यकता रहेगी कि दोनों देशोंके द्रव्यका आपसका मूल्य जाना जावे क्योंकि अपने अपने देशकी वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य अपनेही द्रव्यमें प्रकट किया जाता है। अतएव किसी देशकी वस्तुओंके कितने परिमाणके विनिमयमें अपने देशकी वस्तुओंको कितने परिमाणमें दियाजाये इसका हिसाब बिना विदेशी विनिमय की दर निर्धारित किये नहीं होसकता। यदि विनिमयकी दरमें बदलाव आजाये तो विदेशी पावनेको पूरा करनेके लिए स्वदेशसे कम या अधिक मात्रामें वस्तुओंका निर्यात करना पडेगा। अतएव इस विषयका विवेचन करना कि विदेशी विनिमयकी दर किसप्रकार निर्धारित होतीहै, बडे महत्वका है। वस्तुओंके मूल्य-निर्धारणके

प्रकरणमें माग और पूर्तिका महत्व समझाया जाचुका है। इसी माग और पूर्तिके सिद्धान्तका प्रयोग विदेशी द्रव्यके मूल्य अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरको निश्चित करनेके सम्बन्धमें भी किया जासकता है। पहिले हम यह बतायेंगे कि किसी देशकी विदेशी द्रव्यकी माग किन किन कारणोंसे होती है। इसका एक मुख्य कारण वस्तुओंका आयात है। जिन देशोंसे हम वस्तुए माग लेतेहैं उनका मूल्य चुकानेके लिए हमें उन देशोंके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि आयातका परिमाण बढजाये, तो विदेशी द्रव्यकी मागभी बढजायेगी। पिछले दो-तीन वर्षोंसे भारतको बाहरसे अनाज मगाना पडाहै अतएव विदेशी विनिमयकी माग भारतमें बढगयी। दूसरे देशकी वस्तुओंके अतिरिक्त हम उनकी सेवाओंका भी उपभोग करते हैं। इनका भी मूल्य चुकाना पडता है। इनमें प्रधान सेवाए विदेशी जहाजों, बीमा कम्पनियों और बैंकों की सेवाए है। इनका हिसाब चुकता करनेके लिए भी हमको विदेशी विनिमयकी माग रहती है। इन वस्तुओं और सेवाओंके अतिरिक्त सोने और चादीका भी आयात होता है। इस सम्बन्धमें भी देनदारी होतीहै और विदेशी द्रव्यकी आवश्यकता पडती है। हम अभी बताचुके है कि सोनेचादी को अन्य वस्तुओं और सेवाओंसे विशिष्ट स्थान क्यों प्राप्त है। इसी कारणसे इसका हिसाब अलगही रखाजाता है।

यदि किसी देशके लोग अन्य देशोंमें विद्योपार्जन अथवा भ्रमण करनेके लिए जायें अथवा विदेशी सस्थाओंको दान भजें तबभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होगी। यदि विदेशी द्रव्य उधार लिया गयाहो अथवा विदेशी पूजी अपने देशके उद्योग धन्धोंमें लगीहुई हो, तो उन विदेशियोंको ब्याज और लाभाश देना पडता है। यदि राज्यने दूसरे देशों अथवा सस्थाओंसे ऋण लियाहो जैसाकि भारत सरकारने विश्वकोषसे लियाहैं तो उसपर ब्याज देनके लिए भी विदेशी विनिमय चाहिए। इसीप्रकार कभी कभी युद्धमें हारेहुए देशोंको क्षतिपूरक धन देना पडता है। इन सभी प्रकारकी अन्तर्राष्ट्रीय देनदारियोंको चालू हिसाबकी देनदारी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी पूजीके हिसाबके सम्बन्धमें भी आवश्यकता पडती है। यदि किसी देशमें लगीहुई विदेशी पूजीको लौटाना पड़े और विदेशमें लिएहुए ऋणकी अवधि पूरी होजाने पर मूलधनका भुगतान करना पडे तो उन देशोके द्रव्यकी आवश्यकता होती है। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशोंके शेयर, बौंड और हुडिया खरीदकर उन देशोंके उद्योग धन्धों में अपनी पूजी लगाए

अथवा उनके बैंकोंमें अपना धन रखना चाहें तोभी उनको विदेशी विनिमयकी आवश्यकता होती है।

इसीप्रकार अनेक मदोंसे किसी देशको विदेशी विनिमयकी प्राप्ति होती है। व्यापारिक वस्तुएं, सोना और चांदीके निर्यातसे तथा दूसरे देशवासियोंको सेवाएं बेचने से उन देशोंको द्रव्य प्राप्त होती है। यदि विदेशी लोग अपने देशमें पर्यटनके लिए आयें तो उनके व्ययसे भी उन देशोंको द्रव्य प्राप्त होता है। विदेशोंसे दानके रूपमें अथवा क्षतिपूरक धनके रूपमें भी विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। विदेशोंको दिये हुए ऋणसे ब्याज और विदेशोंमें लगीहुई पूंजीपर लाभांशभी विदेशी विनिमयकी पूर्ति करता है। ये सभी लेनीकी मदें चालू हिसाबकी कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त लेनीकी कुछ मदें पूंजीसम्बन्धी हिसाबमें रहती हैं। यदि किसी देशके निवासी अन्य देशके शेयर, बौंड इत्यादि साख पत्रोंको बेचदें तो उनको अन्य देशोंका द्रव्य प्राप्त होजायेगा। इसीप्रकार ऋणकी अवधि पूरी होनेपर साहूकार देशको ऋणी देशका द्रव्य मिलजाता है।

यदि किसी देशकी चालू तथा पूंजीसे सम्बन्धित लेनी और देनीकी मदोंका ठीक ठीक हिसाब रखाजाये, तो इन दोनों पक्षोंका योग बराबर होगा। इसका कारण यहहै कि यदि किसी कालमें किसी देशकी चालू हिसाबकी देनदारी अन्य देशोंके चालू हिसाबकी लेनदारीसे अधिकहो तो शेष देनदारीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि यह रकम उन देशोंने ऋणके रूपमें दी है। इसप्रकार हिसाब रखनेपर किसीभी देशकी अन्य देशोंसे लेनी और देनी बराबर होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोंमें व्यापारिक वस्तुओंके आयात और निर्यातको बहुत महत्वपूर्ण समझा जाताथा। आयात और निर्यातकी वस्तुओंका मूल्य साधारणतः समान नहीं रहता है। इस प्रकारके वैषम्यको हम व्यापारिक विषमता कहेंगे। यदि किसी देशकी निर्यातकी वस्तुओंका मूल्य आयातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिकहो, तो कहाजाता है कि व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें है और यदि आयात की वस्तुओंका मूल्य निर्यातकी वस्तुओंके मूल्यसे अधिक है, तो व्यापारिक विषमता उस देशके विपक्षमें होगी। पूर्वकालमें एक आर्थिक विचारधाराके अनुसार यदि किसी देश की व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो, तो यह उस देशकी समृद्धिका द्योतक समझाजाता था। वस्तुओंके निर्यात और आयातके मूल्यके अन्तरको दूसरे

देशोंसे सोने और चादीके रूपमें वसूल किया जाताथा और धातुओंका यह सचय आर्थिक शक्तिका द्योतक समझा जाता था। यह धारणा वास्तवमें युक्तिसगत नहीहै क्योंकि जैसाकि हम लेनी देनोंकी मदोंके सम्बन्धमें देखचुके है, व्यापारिक वस्तुओं के आयात और निर्यातके अतिरिक्त सेवाओंका भी आयात निर्यात होताहै और अन्य प्रकारसे भी चालू हिसाबकी लेनी देनी उत्पन्न होजाती है। भारतवर्षमें व्यापारिक विषमता हमारे पक्ष में ही रहीहै परन्तु हमारा देशतो समृद्धिशाली नहीं रहा है। इसका कारण यहहै कि हमको अप्रत्यक्ष आयातकी मदोंके रूपमें विदेशों को एक बडी रकम देनी पडती थी।

व्यापारिक विषमता-सिद्धान्त

विदेशी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके सम्बन्धमें एक मत यहहै कि यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके पक्षमें हो तो उसके द्रव्यकी विदेशी विनिमय की दरमें वृद्धि होगी। अर्थात् विदेशी द्रव्यकी इकाईको प्राप्त करनेके लिए स्वदेश का द्रव्य कम परिमाणमें देना पडेगा और अन्य देशोंको इस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे अधिक द्रव्य अपने देशका देना पडेगा। इसके प्रतिकूल यदि किसी देशकी व्यापारिक विषमता उसके विपक्षमें हो तो उस देशकी विदेशी विनिमयकी दर गिरने लगेगी अर्थात् इस देशको अन्य देशके द्रव्यकी इकाईके लिए पहिले से अधिक अपना द्रव्य देना पडेगा और अन्य देशको उस देशके द्रव्यकी इकाई प्राप्त करनेके लिए पहिलेसे कम मात्रामें अपने देशका द्रव्य देना पडेगा। विदेशी विनिमय की दरमें इस प्रकार बदलाव होनेका कारण यह बतलाया जाताहै कि जब व्यापारिक विषमता किसी देशके पक्षमें होतीहै तो उस देशके द्रव्यकी माग बढजाती है और इस कारणसे उसको प्राप्त करनेके लिए अधिक विदेशी द्रव्य देना पडता है। और इसीप्रकार यदि व्यापारिक विषमता किसी देशके विपक्षमें होतीहै तो उस देशको विदेशी द्रव्यकी माग अधिक होजाती है अतएव उसके द्रव्यका विदेशी मूल्य अन्य द्रव्योंमें गिरने लगता है।

इस मतमें कुछ सार अवश्य है। यदि किसी देशमें अन्य देशोंके द्रव्यकी माग किसीभी कारणसे बढजाये और उस देशके पास उसकी पूर्तिके साधन नहीहो तो विदेशी

विनिमयकी दरमें गिरनेकी प्रवृत्ति होगी और यदि उस देशके द्रव्यकी माग अन्य देशोंमें बढजाये और अन्य देशोको इस देशका द्रव्य उस परिमाणमें प्राप्त न होसके, तो अवश्यही इस देशके विदेशी विनिमयकी दरमें वृद्धि होने लगेगी (इस प्रकरणमें हमने यह मान लियाहै कि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होनेमें स्वतन्त्रता है; नियन्त्रित विदेशी विनिमयकी बात दूसरीही है जैसाकि हम आगे चलकर बतायेंगे।) परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक देखेंतो पता चलताहै कि व्यापारिक विषमता और विदेशी विनिमयकी दरका सम्बन्ध पारस्परिक है। ऐसाभी होताहै कि किसी देशके निर्यात और आयातका परिमाण और मूल्य स्वयमेव विदेशी विनिमयकी दरसे प्रभावित होता है। वास्तवमें हमको इस बातकी छानबीन करनी पडतीहै कि अन्तर्राष्ट्रीय लेनी दनी की मदोमें किन कारणोसे परिवर्तन होरहा है। इन्हीं कारणोंके परिणामस्वरूप विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिके परिमाणमें वैषम्य उत्पन्न होजाताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें भी परिवर्तन प्रारम्भ होजाता है। अतएव हम कहसकते है कि व्यापारिक विषमता सिद्धान्त समस्याकी गहराई तक न जाकर केवल ऊपरी कारणोपर प्रकाश डालता है।

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके गुण और दोषोकी विवेचना करनेके प्रकरणमें हमने बताया था कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें स्थिरता रहती है। यदि दो स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देश अपने अपने देशोंमें सोनेका मूल्य अपने अपने द्रव्यके रूपमें निर्धारित करदें और उस मूल्यपर किसीभी परिमाणमें सोना बेचने और मोल लेनेके लिए प्रस्तुत रहें, तो इन दो देशोके द्रव्यके बीच स्वयमेव एक विनिमय की दर निर्धारित होजायगी जिसका सम्बन्ध उन देशोके प्रामाणिक द्रव्यमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे स्थित सोनेके परिमाण पर होगा। उदाहरणके लिए स्वर्ण-मुद्रा-पद्धति कालमें इगलैडकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा सावरेनमें ११३ ००१६ ग्रेन शुद्ध सोना रहताथा और अमेरिकाके सयुक्त राज्यकी प्रामाणिक स्वर्ण-मुद्रा डालर में २३. २२ ग्रेन शुद्ध सोना रहता था। अतएव एक सावरेनमें स्थित सोना

$\frac{११३ \ ००१६}{२३ \ २२}$ = ४ ८६ डालरमें स्थित सोनेके बराबर हुआ। स्टर्लिंग और डालरकी इस पारस्परिक दरको विदेशी विनिमयकी टकसाली दर अथवा विदेशी विनिमयकी सम-मूल्य दर कहते हैं। यहतो हुई आधारभूत दर, वास्तविक दर इस आधारभूत दरके आसपास ही रहती है। बात यहहै कि इगलैंडसे अमेरिकाको अथवा अमेरिकासे इगलैंडको सोना भेजनेमें जहाजका तथा अन्य कई प्रकारका व्यय होता है। मानलीजिए ११३ ००१६ ग्रेन सोनेके अमेरिकासे इगलैंड भेजनेका व्यय .०४ डालर अर्थात् ४ सेट होता है। ऐसी अवस्थामें इगलैंड और अमेरिका के बीच विदेशी विनिमयकी दर ४ ९०·डालरसे अधिक नही बढने पायेगी और ४ ८२ डालरसे कम नही होने पायेगी। इसका कारण यहहै कि यदि इगलैंड वालोंकी डालर की माग इतनी बढगयी कि उनको एक पौंडमे ४ ८२ से कम डालर मिलने लगा, तो वे अपनी देनदारी सोनेके निर्यातसे करने लगेंगे अतएव ४ ८२ डालरकी दर इगलैंडके लिए स्वर्ण-निर्यात मर्यादा और सयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-आयात मर्यादा निर्धारित करती है। इसीप्रकार यदि सयुक्त राज्यमें पौंडकी माग इतनी बढजाये कि एक पौंड प्राप्त करनेके लिए ४ ९० डालरसे अधिक देनापडे तो सयुक्त राज्यके देनदार अपनी देनदारीके भुगतानके लिए सोनेका निर्यात करने लगेंगे। अतएव ४ ९० डालर सयुक्त राज्यके लिए स्वर्ण-निर्यात-मर्यादा और इगलैंडके लिए स्वर्ण-आयात-मर्यादा होजाता है। वास्तविक विदेशी विनिमयकी दर इन्ही दो स्वर्ण आयात और स्वर्ण-निर्यात मर्यादाओंके भीतर रहती है। यदि डालरकी माग अधिकहो, तो विदेशी विनिमय की दर ४ ८२ डालरके निकट रहेगी और यदि पौंडकी माग अधिक हो, तो विनिमयकी दर ४ ९० डालरके निकट रहेगी। इसी बातको हम दूसरी प्रकार से भी कह सकते हैं। यदि इगलैंडमें डालरकी माग बढ जातीहै तो इगलैंडसे सयुक्त राज्यको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें डालर प्राप्त किये जासकते हैं। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौं० = ४ ८२ डालर होगयी तो इस भावपर डालरकी पूर्ति किसीभी परिमाणमें होसकती है। इसीप्रकार यदि सयुक्त राज्यमें पौंडकी माग बढगयी तो वहा से इगलैंडको सोना भेजकर किसीभी परिमाणमें पौंड प्राप्त किये जासकते है। जब विदेशी विनिमयकी दर १ पौं० = ४ ९०डालर पर पहुच जातीहै तो इस दरपर किसीभी परिमाणमें पौंडके मागकी पूर्ति सोनेके निर्यातसे होसकती है।

इसप्रकार हम देखतेहैं कि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें सोनेके आयात और निर्यातके फलस्वरूप विदेशी विनिमयकी दरमें विनिमयकी सम-मूल्य दरके आस पास स्थिरता रहती है। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके प्रकरणमें हम बताचुके है कि कभी कभी देशोंको इस स्थिरताको बनाये रखनेके लिए अपनी आर्थिक अवस्थामें अस्थिरताका समावेश करना पडता है। यही कारणहै कि आधुनिक विचारधारा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत प्राप्त होसकने वाली स्थिर विदेशी विनिमयकी दरका समर्थन नही करती।

नियन्त्रित विदेशी विनिमय

जिसप्रकार सरकार देशकी सीमाके अन्तर्गत वस्तुओंका मूल्य नियन्त्रित करसकती है उसीप्रकार विदेशी मूल्यका भी नियन्त्रण करसकती है। कभी कभी दो देशोकी सरकार आपसमें एकमत होकर विदेशी विनिमयकी दर निर्धारित करलेती है और इस प्रकारका प्रबन्ध करतीहै कि यह दर व्यवहारमें बनी रहे। भारतवर्ष और इगलेंडके द्रव्यमें सन् १९२६ से लेकर अबतक १ रु० = १ शि० ६ पें० की दर बनी हुई है। सन् १९३१ के बाद इगलैंडके स्वर्ण-पद्धति छोड देनेपर भी यही दर बनी रही। इसीप्रकार द्वितीय महायुद्धके कालमें सयुक्तराज्य और इगलेंडकी सरकारो ने १ पौ० का मूल्य ४ डालरके लगभग निर्धारित करलिया और इस विनिमयकी दरको बनाये रखा। इसप्रकार विदेशी विनिमयकी दरको किसी विशेष स्तरपर बाधदिया जाता है। यदि यहदर आर्थिक परिस्थितियोंके अनुकूल न हुई तो या तो दरको बदलना पडताहै अथवा आर्थिक अवयवोंमें इस प्रकारका नया सम्बन्ध स्थापित होनेलगता है (चाहे वह सम्बन्ध वाछितहो अथवा अवाछित) जिससे इसप्रकार निर्धारित विदेशी विनिमयकी दर बनी रहे।

विदेशी विनिमयकी दरका अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारपर, पूजीके आयात और निर्यात पर और इनके द्वारा देशके भीतरके उद्योग धन्धो, वाणिज्य-व्यवसायोपर प्रभाव पडता है। अतएव इस दरको स्वाधीनतापूर्वक किसीभी मात्रामें बदलने देना आर्थिक स्थिरताकी दृष्टिसे वाछित नही है। अविनिमय-साध्य पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयमें अस्थिरता आनेकी बहुत आशका रहती है। यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि विदेशी विनिमयसे दो पक्षोका लगाव रहताहै एक स्वदेशी और दूसरा विदेशी।

किसीभी पक्षसे अस्थिरता उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियां उत्पन्न होसकती है। अतएव यह दोनो पक्षोंके हितमें है कि वे आपसमें विचार विमर्षके बाद विनिमयकी दरको निर्धारित करें और उनमें बदलाव करें। अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोषका आयोजन जिसका वर्णन आगे चलकर किया जायेगा, इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर किया गया है।

आर्थिक इतिहासमें ऐसे उदाहरण मिलतेहैं जबकि कोई देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण अपने निर्यात व्यापारको बढानें अथवा आयात व्यापारको कम करनेके लिए करता है। यदि अन्य बातोमें कोई बदलाव न होतो जो देश अपने द्रव्यके विदेशी मूल्यको घटाताहै अर्थात् विदेशी विनिमयका अवमूल्यन करताहै उससे उस की वस्तुओंके निर्यात व्यापारको प्रोत्साहन मिलताहै क्योंकि उसकी वस्तुओंका मूल्य अन्य देशोंके द्रव्यमें सस्ता होजाता है और उसका आयात व्यापार कम होने लगताहै क्योंकि विदेशी वस्तुओंका मूल्य उस देशके द्रव्यमें बढजाता है। इस प्रकारका लाभ स्थायी नहीं होसकता क्योंकि इससे अन्य देशोंपर जिसने इस देशका आर्थिक सम्बन्ध है, प्रभाव पडताहै और अपने आयात निर्यातकी रक्षाके लिए इनको भी अपने द्रव्य का अवमूल्यन करना पडताहै अथवा आयात-कर लगाने पडते है। इनका परिणाम यह होताहै कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका परिमाण घटने लगताहै और देशोंमें आपस में विद्रोहकी भावना उत्पन्न होजाती है। दो महायुद्धोंके बीचके कालमें इसप्रकार के बहुतसे उदाहरण मिलते है।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी पराकाष्ठा उस अवस्थापर समझी जातीहै जब कि देशमें विदेशी विनिमयका स्वतन्त्र हाट नहीं रहताहै और जितनाभी विदेशी द्रव्य उस देशको प्राप्त होताहै उसपर राज्यका अधिकार होजाता है। इस विदेशी द्रव्य का वितरणभी राज्यकी इच्छाके अनुसार होता है। द्वितीय महायुद्धके समयसे अनेक देशोने इसप्रकार विदेशी विनिमयका पूर्णरूपसे नियन्त्रण किया और अभीतक यह नियन्त्रण चला आरहा है। भारतवर्षमें विदेशी विनिमयपर नियन्त्रण है। पूजीके निर्यातके लिए विदेशी विनिमय नहीं दियाजाता है। विविध वस्तुओंके आयातके लिएँ बिना पूर्ण अनुमतिके विदेशी द्रव्य नहीं दियाजाता है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनीकी मदोंका भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें नियन्त्रण कियाजाने लगा है।

द्वितीय महायुद्धके पूर्व जर्मनीने पहिले पहिले बडी मात्रामें विदेशी विनिमयके नियन्त्रणको एक महत्वपूर्ण स्थान दिया था। इसकी सहायतासे जर्मनी कुछ अंशतक अपनी आर्थिक शक्तिकी वृद्धि करनेमें और विदेशी देनदारीके भारको कम करनेमें समर्थ हुआ था। जर्मनीमें जिस किसी व्यापारीको विदेशी द्रव्यपर अधिकार प्राप्त होताथा उसे वह अधिकार राज्य द्वारा निर्धारित संस्थाको राज्य द्वारा निर्धारित दरपर बेचनेको बाध्य होना पडता था। इस प्रकारसे संचित विदेशी विनिमयका उपयोग राज्यकी अनुमतिसे ही होसकता था। राज्यकी समझमें जिन विदेशी वस्तुओं की अधिक उपयोगिता रहतीथी उन वस्तुओंके आयातके लिए विदेशी विनिमय प्रचुरतासे दियाजाता था और सस्ते भावपर दियाजाता था। जिस विदेशी वस्तुको राज्य अनावश्यक समझे उसके लिए यातो विदेशी विनिमय उपलब्धही नही होताथा अथवा उसको महगी दरपर दियाजाता था। इसप्रकार एक विदेशी द्रव्यके भिन्न भिन्न प्रयोजनाके लिए भिन्न भिन्न दरोंका प्रयोग होता था।

विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी एक यह रीतिभी काममें लायीगयी थी कि जर्मनी के बाहर रहनेवाले लोगोको जर्मनीके द्रव्य (मार्क) पर जो अधिकार प्राप्त होताथा उसको वे विदेशी विनिमयमें परिवर्तित करके वापस नही लेसकते थे। इस प्रकारका प्रतिबन्धित द्रव्य या तो जर्मनीमें ही व्यय किया जासकता था अथवा भविष्यमें वापस लेनेके निमित्त वहीं जमा किया जासकता था। इसका एक परिणाम यहहुआ कि विदेशोंमें जर्मनीके शेयर, बौंड इत्यादि साख-पत्रोंके मूल्यमें कमी होनेलगी और कम मूल्यपर इन साख-पत्रोंको खरीदकर जर्मनीके विदेशी ऋणका भार हलका पडगया।

विदेशी विनिमय नियन्त्रणके अन्तर्गत देशोंके बीच एक प्रकारका समझौताभी होनेलगा। जो देश इस समझौतेको स्वीकार करलेते थे, वे किसी कालावधिमें एक दूसरेसे एक निश्चित परिमाणमें वस्तुओंका आयात स्वीकार करलेते थे। परन्तु इन के मूल्यका भुगतान आयात और निर्यात करनेवाले व्यक्ति आपसमें नही करसकते थे। इनका हिसाब राज्यों द्वारा होता था। आयात करनेवाले व्यक्ति आयातकी वस्तुओंका मूल्य अपने द्रव्यमें राज्य द्वारा निर्धारित बैंकमें जमा करदेते थे। इस कोषसे निर्यात करनेवाले व्यक्तियों द्वारा निर्यात कीगयी वस्तुओंका मूल्य देदिया जाता था।

इसप्रकार विदेशी विनिमयके नियन्त्रणसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुदेशीय न होकर द्विदेशीय होनेलगा। इससे कुछ देशोंको अवश्य लाभ हुआ परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके दृष्टिकोणसे आर्थिक वातावरण दूषित होनेलगा और विद्वेषकी मात्रा बढने लगी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूजीके लगावकी प्रगतिके लिए शुद्ध आर्थिक वातावरणकी आवश्यकता है जिसमें नियन्त्रण कमसे कम हो। इस उद्देश्यको सामने रखकर अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषकी स्थापना हुई है।

अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धति और विदेशी विनिमय

हमने देखाकि स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी एक आधारभूत दर स्थापित होजाती है और वास्तविक दर इसके आसपास ही रहती है। अविनिमयसाध्य द्रव्य-पद्धतिवाले देशोंमें विनिमयकी दर किसप्रकार स्थिर होतीहै, इस सम्बन्ध में हम एक सिद्धान्तकी विवेचना करेंगे जिसको क्रय-शक्ति समता सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार दो देशोंके द्रव्योंकी विनिमयकी दर उन द्रव्योंकी आन्तरिक क्रय-शक्तिपर निर्भर रहती है। उदाहरणके लिए, यदि किसी वस्तुवर्गको मोललेनेके लिए संयुक्त राज्यमें ४ डालर देने पड़तेहैं और उसी वस्तुवर्गको इंगलैंडमें १ पौंड देकर खरीदा जासके तो ४ डालरकी क्रय-शक्ति १ पौंडकी क्रय शक्तिके बराबरहुई। तो यही इन द्रव्योंकी विनिमयकी दर होगी अर्थात् १ पौंड = ४ डालर। अब यदि किसी कारणसे इंगलैंडका मूल्य स्तर दुगुना होगया और अमेरिकामें पूर्ववत्ही रहा तो अब एक पौंडकी क्रय शक्ति दो डालरके बराबर रहगयी। और इन दो देशोंकी विदेशी विनिमयकी दर अब १ पौंड = २ डालर होजायेगी।

स्वीडनके अर्थशास्त्री प्रोफेसर कैसलने सन् १९१४-१९२३ के कालमें द्रव्य स्फीति जनित मूल्य-स्तरों में परिवर्तन और विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन का विशेष रूपसे अध्ययन करके उनमें यह सम्बन्ध ज्ञात किया कि जैसे जैसे किसी देशके मूल्य-स्तरमें अन्य देशोंके मूल्य-स्तरों की अपेक्षा वृद्धि होनेलगती है वैसे वैसे उसके द्रव्यकी विदेशी विनिमयकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेलगता है। प्रो० कैसलने यह नहीं कहाहै कि दो द्रव्योंकी आधारभूत विनिमयकी दर उनकी आन्तरिक क्रय-शक्तिसे निर्धारित होती है। उनका कहना यहहै कि यदि किसी समय दो द्रव्योंके बीच कोई

सन्तुलित विनिमय की दर स्थापित होगयी है और फिर उनमें जो परिवर्तन होगा, वह उन देशोके पारस्परिक मूल्य-स्तरोके परिवर्तनका द्योतक होगा अर्थात् विदेशी विनिमयका क्रय शक्ति समता सिद्धान्त मूल्य-स्तरोके परिवर्तन पर न कि मूल्य-स्तरो पर चरितार्थ किया जाताहै।

इस सिद्धान्तमें अनेक त्रुटिया और रुकावटें पायी जाती है। किसी समय विशेष में विदेशी विनिमयकी दरको समझनेके लिए हमको एक प्रामाणिक समयकी विनिमयकी दरको आधारभूत मानकर मूल्य-स्तरोके परिवर्तन का अध्ययन करना पडेगा। पहिलेतो समस्या उस समयको ज्ञात करनेकी है जिसको प्रामाणिक मानाजाये। यदि यह समय दूर भूतकालमें हुआ तो इस कालान्तरमें आर्थिक अवस्थामें बहुत परिवर्तन होसकता है। इसके अतिरिक्त एक बडी समस्या यहहै कि किन वस्तुओंके मूल्य-स्तरके आधारपर विदेशी विनिमयकी दर सम्बन्धित है। यदि सभी वस्तुओसे सम्बन्धित सूचक अकोंके आधारपर इस विषयकी विवेचना करें तो ज्ञात हाताहै कि अनेक वस्तुए ऐसीहै जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट नही होती। उनका व्यापार देश के अन्दरही होता है। ऐसी वस्तुओंके मूल्य-स्तरोका विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिपर प्रभाव नही पडता है। यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होने वाली वस्तुओके मूल्य-स्तरको लें तो इससेभी विदेशी-विनिमयकी दरपर प्रकाश नही पडता क्योंकि इन वस्तुओके मूल्य-स्तरमें यातायात-व्यय और आयात निर्यात-कर का हिसाव करलेने पर तथा चालू विदेशी विनिमय की दरसे भिन्न भिन्न देशोंमें द्रव्यके रूपमें परिवर्तन करनेपर समानता आनेकी प्रवृत्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक वस्तु एक विदेशी विनिमयकी दरपर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें प्रविष्ट होजाती है और दूसरी दरपर वहासे हटजाती है। दो देशोंके मूल्य-स्तरोमें समानता बनी रहनेपर भी विनिमयकी दरमें अन्तर होसकता है क्योंकि भिन्न भिन्न देशोकी वस्तुओंकी माग का परिमाण केवल मूल्य-स्तर परही अवलम्बित नही रहता। मागके परिमाणमें अधिक मात्रामें परिवर्तन होजानेके कारण विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिमें अन्तर होजाता है और उसकी दरमें भी परिवर्तन होजाता है। इसके अतिरिक्त विदेशी विनिमयकी दर पूजीके आयात निर्यातसे और क्षतिपूरक धन देनेके कारण से भी प्रभावित होती है। इस सम्बन्धमें क्रय-शक्ति समता सिद्धान्तसे कोई सहायता नही मिलती है।

वास्तवमे जैसाकि हम ऊपर लिखआये है यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होनेकी पूर्ण स्वतन्त्रताहै तो जिन जिन कारणोसे विदेशी विनिमयकी माग और पूर्ति प्रभावित होतीहै उन्ही कारणोसे उसकी दरभी प्रभावित होगी। 'इन कारणोमें अन्तर्राष्ट्रीय लेनी देनी की सभी मदें शामिल है। इन मदोके परिमाण बदलते रहते है और वे विदेशी विनिमयकी माग और पूर्तिके परिमाणोको भी बदलते रहते है। अतएव विदेशी विनिमयकी दरभी स्वतन्त्रतासे बदलती रहती है, दखाजाता है कि यदि विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन होने दियाजाये तो कोईभी देश अपनी द्रव्य-नीतिको अन्तर्राष्ट्रीय दबावोसे स्वतन्त्र करके अपनी आर्थिक अवस्थाके अनुकूल बनानेमें अधिक समर्थ होगा। परन्तु हम देखतेहै कि स्वतन्त्रतापूर्वक बदलनेवाली विदेशी विनिमयकी दर वाछनीय नही समझी जाती। इसका प्रधान कारण यहहै कि इस प्रकारकी विदेशी विनिमयकी पद्धतिसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और पूजीके लगावमें अनिश्चितता आजातीहै और सट्टेबाजीका समावेश होजाता है। आधुनिक आर्थिक क्रियामें वैसेभी पर्याप्त अनिश्चितता रहतीहै क्योकि उत्पत्ति के कार्यमें समयका अन्तराय बढगया है और दूर देशोके लिए उत्पादन करनेमें भी आशका बनी रहती है अब यदि विदेशी विनिमयकी दरमें भी अधिक मात्रामें अस्थिरता होनेलगे तो इससे न केवल आयात-निर्यातकी वस्तुओके मूल्य और उत्पत्तिमें अस्थिरता आजायेगी बल्कि जिन देशोमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय आर्थिक प्रगतिका प्रधान अग है (जैसा कि इगलैड में) उनकी आन्तरिक अवस्थामें भी अस्थिरता आ जायेगी। इसीप्रकार दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय पूजीके लगावको भी धक्का पहुचनेकी सम्भावना होजाती है। हमने देखाकि राष्ट्र विदशी विनिमयकी दरमें न तो स्वर्ण पद्धतिवाली दृढता चाहते है और न स्वतन्त्र रूपसे बदलनेवाली चचलता चाहते है। इससे प्रतीत होताहै कि इन दोनोकी मध्यस्थ नीति अधिक अनुकूल होगी अर्थात् विदेशी विनिमयकी दरमें न तो बडी मात्रामें अनपेक्षित बदलावहो और न ऐसाहो कि उसमें कोई परिवर्तन ही न किया जासके। इसके लिए कुछ प्रबन्ध करनेकी आवश्यकता पडती है।

विदेशी विनिमय-नियन्त्रण-कोष

सन् १९३१ के बाद स्वर्ण-द्रव्य-पद्धति छोडनेपर अनेक देशोको इस प्रकार की

परिस्थिति का सामना करना पड़ा। विदेशी विनिमयकी दरमें अस्थिरता कम करनेके लिए इंगलैंड, संयुक्तराज्य, फ्रान्स इत्यादि देशोंने एक विशेष कोषकी स्थापनाकी जिसको हम विदेशी विनिमय नियन्त्रण कोष कहेंगे। यह कोष सरकार के आधीन रहताहै और इसका प्रयोग विदेशी विनिमयकी दरमें आकस्मिक बड़ी मात्रामें बदलाव रोकनेमें होता है। यह कोष स्वदेशी द्रव्य, विदेशी द्रव्य, सोना और ट्रेज़री बिलसे सम्पन्न रहता है।

कल्पना कीजिए किसी राजनैतिक संकटके कारण अथवा और किसी कारणसे इंगलैंडके लोग अपने धनको सुरक्षित रखनेके लिए अथवा लाभकी आशासे संयुक्त राज्यमें रखना चाहते हैं। इससे डालरकी मांगमें अचानक बड़ी मात्रामें वृद्धि होजायगी। विदेशी विनिमयके हाटमें पर्याप्त डालर न होनेके कारण डालरोंके मूल्य में वृद्धि और पौंडके मूल्यमें कमी होने लगेगी। यहांपर इंगलैंड अपने विदेशी विनिमय कोषका प्रयोग करता है। वहभी विदेशी विनिमयके हाटमें उतर पड़ताहै और विदेशी विनिमयकी दरमें बड़ी मात्रामें परिवर्तन को रोकनेकी चेष्टा करता है। पूर्वोक्त अवस्थामें इंगलैंडका विदेशी विनिमय कोष डालर बेचना प्रारम्भ करेगा क्योंकि डालरोंकी मांग बढ़नेके कारण विनिमय दरमें परिवर्तन होनेकी आशंका हुई है। हम पहिले लिख आयेहैं कि इस कोषमें विदेशी द्रव्यभी रहता है। अतएव कोष अपने डालरोंको बेचने लगेगा। यदि उसके पास पर्याप्त डालर न हों तो वह संयुक्तराज्य में चालू दरसे सोना बेचकर डालर प्राप्त करेगा। मानीहुई बातहै कि यह कोष कहांतक पौंडको गिरनेसे बचा सकताहै, यह कोषके डालर उपलब्ध करनेकी शक्तिपर निर्भर है। परन्तु यहतो निश्चितहै कि कुछ अंशतक कोष को अपने कार्यमें सफलता मिलेगा। और यदि विदेशामें पौंडकी मांग अचानक अधिक मात्रामें बढ़जानेके कारण पौंडके विदेशी विनिमय मूल्यमें अवांछित वृद्धि होनेलगे तो कोष स्वयं विदेशी द्रव्य खरीद लेगा और कोषसे पौंड उपलब्ध करेगा। स्वदेशी द्रव्यको उपलब्ध करना कठिन नहीं है। यदि कोषमें पर्याप्त पौंड न हों, तो ट्रेज़री बिल बेचकर अथवा केन्द्रीय बैंकसे उधारलेकर काम चलाया जासकता है। पौंड बेचनसे कोषमें विदेशी विनिमयके परिमाणमें वृद्धि होजायेगी। यदि कोषको विदेशी द्रव्यकी इतने परिमाण में आवश्यकता न हो तो कोष अतिरिक्त विदेशी द्रव्य से उस देशमें चालू भावपर सोना मोललेकर उसको अपने कोषमें जमा करसकता है।

इसी प्रकार विदेशी द्रव्य बेचनेसे कोषमें अपने देशका द्रव्य आवश्यकतासे अधिक परिमाणमें जमा होगया होतो अनिरिक्त द्रव्यको केन्द्रीय बैंकसे सिक्यूरिटियो अथवा ट्रेजरी बिलके रूपमें बदला जासकता है।

इस प्रकारसे विदेशी विनिमयकी दरको प्रबन्धित करनेका यह आशय नहीहै कि उसमें कभी परिवर्तन ही न होनेदिया जाये। यदि किसी देशमें मौलिक कारणोंसे आर्थिक सन्तुलन विकृत होजाये और वर्तमान विनिमयकी दर तत्कालीन आर्थिक परिस्थितिसे असम्बद्ध होगयी हो, तो इस कोषके द्वारा विदेशी विनिमयकी दरको पूर्ववत् बनाये रखनेका हठ नही किया जायेगा। विनिमयकी दरको सन्तुलित होने दिया जायेगा और इस नयी दरमें अधिक परिवर्तन न होनेदेना कोषका कर्तव्य होगा। कहनेका अभिप्राय यहहै कि विदेशी विनिमयमें जो परिवर्तन आर्थिक स्थितिके बदलनेसे है, उनकोतो होनेदिया जायेगा। परन्तु जो परिवर्तन अल्पकालीन विशेषकर सट्टे की भावनासे होजाते है उनको रोकनेकी चेष्टा की जायेगी।

हमने अभी बताया कि कोषकी सफलता उसकी पूंजीके परिमाणपर बहुत अशमें निर्भर करती है। परन्तु साथही साथ कोषके अधिकारियोको सन्तुलित विदेशी विनिमयकी दरका पता चलाना चाहिए। यह एक बहुत कठिन काम है। कोई एक ऐसा सूचक आर्थिक अवयव नहीहै जिसके आधारपर सन्तुलित दरकी गणना की जासके। साधारणत इस बातको ध्यानमें रखाजाता है कि स्वीकृत विनिमय दर की सहायतासे देशको आर्थिक स्थिरता प्राप्त करनेमें सहायता मिले और उस दर को बनाये रखनेमें देशके सोनके और विदेशी द्रव्यके कोषको विशेष क्षति न पहुचे। इसके अतिरिक्त दर ऐसी होनी चाहिए जिसमें प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन की प्रवृत्ति न हो।

कोषको अपने उद्देश्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिए यहभी आवश्यकहै कि भिन्न भिन्न देशोके कोष आपसमें सहयोगसे काम करें। विदेशी विनिमयकी दरसे कमसे कम दो देश सम्बन्धित है। यदि इन देशोके कोष विपरीत नीतियोका प्रयोगकरें तो परिस्थिति और भी बिगड जायेगी। यही कारणहै कि सन् १९३६ में फ्रान्स, सयुक्त राज्य और इगलैंडमें त्रिपक्षी ऐक्य हुआ जिसके अनुसार इनमेंसे कोईभी देश बिना दूसरेकी सम्मति प्राप्तकिये विदेशी विनिमयकी दरमें परिवर्तन नही करसकता था। बादमें इस ऐक्यमें औरभी देश सम्मिलित हुए।

२७

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंक

द्रव्य-कोष

हमने पिछले अध्यायमें बताया कि प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धके कालाभ्यन्तरमें अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक वातावरण बहुत दूषित होने लगा था। विदेशी विनिमयका नियन्त्रण, उसकी दरका प्रतिस्पर्द्धिक अवमूल्यन, द्विपक्षी व्यापार-ऐक्य और आयात-विरोधी कर लगाना—इसप्रकार की क्रियाएं दृष्टिगोचर होने लगी थी। इनके फलस्वरूप आर्थिक सहयोगका स्थान आर्थिक विद्वेषने लेलिया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके परिमाण एवं मूल्यमें ह्रास होनेलगा। अतएव द्वितीय महायुद्धके समाप्त होनेके पूर्वही इस बातका प्रयत्न किया जानेलगा कि युद्धके पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्योंके सम्पादनमें अधिक सुविधा प्राप्त होसके। इसके लिए दो योजनाएं—एक योजना जो 'केन्स योजना' कहलाती है इंगलैंडके विद्वानोंने बनायी और दूसरी 'व्हाइट योजना' संयुक्त राज्यके विशेषज्ञोंने बनायी। प्रत्येक योजनाके अन्तर्गत इस प्रकारके प्रस्ताव रखेगये जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय विकृतियां कमकी जासकें। इन दोनों योजनाओंके कुछ प्रस्ताव एक दूसरेसे मिलते जुलते थे और कुछ भिन्नभी थे। अतएव इन दोनों योजनाओंके आधारपर एक सम्मिलित योजना बनायी गयी जिसमें अधिक प्रस्ताव संयुक्तराज्यकी योजनासे लियेगये थे। यह सम्मिलित योजना जुलाई १९४४ में ब्रेटनवुड्स् नामक स्थानमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्मेलनके सामने रखी गयी जिसमें ४४ मित्र-राष्ट्रोंके प्रतिनिधियोंने भाग लिया। विचार-विमर्शके पश्चात् सम्मेलनने एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और एक विश्वबैंककी स्थापनाके लिए स्वीकृत धाराएं लेखबद्धकी और उनको सम्मेलनमें भाग लेनेवाले राज्योंके पास हस्ताक्षरके लिए भेजा। २७ दिसम्बर १९४५ के दिन जबतक कि २८ ऐसे राज्योंकी स्वीकृतियां प्राप्त होचुकी थी जिनका चन्दा कोषके कुल परिमाण का ८० प्रतिशतके लगभग

था, ये स्वीकृत धाराएं कार्यरूपमें परिणत होगयी और अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य कोषकी स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके निम्नलिखित उद्देश्य हैं :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-सम्बन्धी सहयोगको इस संस्था द्वारा प्रोत्साहन देना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी सन्तुलित रूपमें वृद्धि करनेमें सहायता देना जिससे सदस्य देशोंकी वास्तविक आय और उद्यमोंके स्तरमें वृद्धि और स्थिरता प्राप्त हो सके।

(३) विदेशी विनिमयमें स्थिरता प्राप्त करवानेकी चेष्टा करना, सदस्य देशोंमें व्यवस्थित रूपसे विदेशी विनिमयका प्रबन्ध करना, प्रतिस्पर्द्धात्मक विनिमय-अव-मूल्यनको दूर करना।

(४) सदस्य देशोंके चालू लेनदेनको विभिन्न रूपोंमें चुक्ता करनेकी प्रणाली स्थापित करनेमें सहायता करना और इस प्रकारके विदेशी विनिमय नियन्त्रणको हटानेका प्रयत्न करना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारमें रुकावट उत्पन्न हो।

(५) सदस्योंको कोषसे द्रव्य उपलब्ध कराना जिससे कि वे विना इसप्रकार के उपक्रमोंके प्रयोगसे जिनसे अपने देश और अन्तर्राष्ट्रीय समृद्धिको धक्का पहुंचे, अपने अन्तर्राष्ट्रीय लनदेनकी विषमताको ठीक करसकें और फलस्वरूप उनमें विश्वास उत्पन्न होसके।

(६) इन सब बातोंको ध्यानमें रखतेहुए सदस्योंकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीके सन्तुलनकी हानिको यथाशीघ्र ठीक करना और कम करना।

इस कोषकी कुल सम्पत्ति ८८० करोड डालर निर्धारित कीगयी थी, जिसका प्रधान भाग सदस्य देशोंके द्रव्यके रूपमें और शेष भाग सोनेके रूपमें रखनेका प्रबन्ध है। अप्रैल १९४८ तक इसको ७९० करोड डालरके बराबर द्रव्य प्राप्त होचुका था। प्रत्येक सदस्यका हिस्सा निर्धारित करदिया गया है। प्रत्येक सदस्य अपने भाग का २५ प्रतिशत अथवा अपने सोने और डालरके सचयका १० प्रतिशत जो भी कमहो, सोनके रूपमें जमा करेगा और शेष भाग अपने द्रव्यके रूपमें जमा करेगा। सदस्योंमें से पाच बडे हिस्सेवाल सदस्योंमें सयुक्तराज्यका २७५ करोड, इगलैंडका १३० करोड, रूसका १२० करोड, चीनका ५५ करोड और फ्रान्सका ४५ करोड डालर निर्धारित किया गया। भारतका छठा नम्बरहै और उसका हिस्सा ४० करोड

डालर है। रूस अभीतक इस कोषका सदस्य नही बनाहै अतएव इससमय भारत पाचवा बडा सदस्य है।

कोषके सदस्योंके हिस्सेका बहुत महत्व है। एकतो यहकि कोषके गवर्नरोकी सभामें जिसमें प्रत्येक सदस्य देशको प्रतिनिधित्व प्राप्तहै, अपने हिस्सेके परिमाणके आधारपर मत देनेका अधिकार होना है। प्रत्येक सदस्य देशको २५० वोट और उसके ऊपर प्रत्येक एकलाख डालरके हिस्सेके पीछे एक वोट देनेका अधिकार दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्रारम्भके पाच बडे हिस्सेदारोको कोषकी १२ सदस्योकी कार्यकारिणी सभामें स्थायी स्थान प्राप्त है। परन्तु हिस्सेका सबसे बडा महत्व यहहै कि प्रत्येक सदस्य कोषसे किसीभी १२ महीनेकी अवधिमें अपने हिस्सेके २५ प्रतिशत परिमाण तकही अपने द्रव्यके बदले दूसर देशोका द्रव्य प्राप्त करसकता है। उदाहरणके लिए, भारतका हिस्सा ४० करोड डालरहै तो भारतवर्ष किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर इस कोषसे पर्याप्त मात्रामें रुपया जमाकरके १० करोड डालरतक प्राप्त करसकता है। इसके अतिरिक्त जब कोषमें किसी सदस्य देशका अपनी द्रव्य अपने हिस्सेके परिमाणसे दुगना जमा होजाता है तो इसकेबाद उस देशको कोषसे विदेशी विनिमय मोल लेनेका अधिकार नही रहजाता अर्थात् कोषके पास किसीभी समयमें किसी सदस्य देशके हिस्सेके २०० प्रतिशतसे अधिक उसका अपना द्रव्य जमा न होना चाहिए।

कोष और विदेशी विनिमय की दर

जहातक किसी सदस्य देशके द्रव्यके विदेशी विनिमयकी दरका प्रश्नहै, प्रत्यक सदस्य को यह अधिकार दियागया है कि वह स्वयमेव अपने द्रव्यका मूल्य सोनेमें अथवा सयुक्त राज्यके डालरमें निर्धारित करके उसकी सूचना कोषके अधिकारियोके पास भेजदे। भारतने जो विदेशी विनिमयकी दर चली आरही थी, अर्थात् १३ ३३३ रु० = १ पौ० (१.८० = १ शि० ६ पे०) उसीके आधारपर यह दर निर्धारितकी। इस हिसाबसे एक रुपयेका विदेशी विनिमय ३० १७ सेन्टके बराबर अर्थात् एक डालरका मूल्य ३ ३०८५ रुपया होता है। इस हिसाबसे एक रुपयेका विनिमय-मूल्य ४ १४५१४२८५७ ग्रेन शुद्ध सोनेके बराबर होता है। इसीप्रकार अनेक सदस्यदेशो

ने दिसम्बर १९४६ तक अपने द्रव्यकी विदेशी विनिमयकी दरकी सूचना भेजदी और पहिली मार्च १९४७से कोषने विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्य आरम्भ करदिया है। युद्धजनित समस्याओं और विदेशी विनिमयके नियन्त्रणके कारण यह आशा नहीं कीजासकती थी कि यह प्रारम्भिक दर बादमें भी अनुकूल रहेगी। अतएव प्रत्येक देशको अधिकारहै कि वह आवश्यक्ता पडनेपर कोषको सूचनादेकर १० प्रतिशत तक परिवर्तन करसकता है। इससे अधिक मात्रामें परिवर्तनकी आवश्यकता होने पर कोषकी आज्ञा प्राप्त करनी पडती है। इसप्रकार हम देखतेहैं कि इस प्रबन्धके अन्तर्गत विदेशी विनिमयकी दरमें केवल नियन्त्रित रूपसे बदलाव करना सम्भव है। इसका ज्वलन्त उदाहरण सितम्बर १९४९ का विदेशी विनिमय का अवमूल्यनहै जिसके अन्तर्गत इगलैंड, भारत आदि देशोंने भिन्न भिन्न परिमाणमें ३०.५ प्रतिशत तक अपने द्रव्योंके विदेशी विनिमयकी दरमें कमी करदी। स्टर्लिंग और डालरकी विनिमयकी दर ४.०३ डालरसे गिरकर २.८० डालर रहगयी। रुपयेका मूल्य ३०.२२५ सेन्टसे गिरकर २१ सेन्ट रहगया अर्थात् एक डालरका मूल्य ४.७६ रुपया होगया।

कोषका उद्देश्य अन्ततोगत्वा विदेशी-विनिमयके नियन्त्रणको हटाना है। परन्तु युद्धजनित समस्याओंके कारण सभी देशोंको एकबार ही इसको कार्यान्वित करनेमें कठिनता होनेकी सम्भावनाको ध्यानमें रखतेहुए यह स्वीकार कियागया कि कुछ समयतक सदस्य देश विदेशी विनिमयका नियन्त्रण करसकते हैं। यदि किसी देश में लगातार बडी मात्रामें पूजीका निर्यात होनेलगे तो ऐसी अवस्थामें भी विदेशी विनिमयके नियन्त्रणकी अनुमति है।

कोषसे किसी सदस्य देषको अन्य सदस्य देशोंका द्रव्य प्राप्त होसकता है। जैसा कि पहिले बता आयेहै कि इसका अधिकतम परिमाण निर्धारित करदिया गया है। यह ध्यानमें रखनेयोग्य बातहै कि कोष किसी देशकी विदेशी विनिमयकी हाटका स्थान ग्रहण नहीं कररहा है। साधारणत, सभी देश अपनी अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीका प्रबन्ध स्वयमेव पूर्ववत् ही करेंगे। वह कोषसे अन्य देशोंके द्रव्यकी प्रार्थना तभी करेंगे जबकि उनके लिए अन्य द्वार बन्द होगये हो। कोषभी उनकी सहायता सीमित मात्रामें ही करसकता है क्योंकि पहिलेतो कोषके पास विदेशी विनिमय सीमित है तथा दूसरे सबसे बड़ी बात यहहै कि यदि किसी देशकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनी-देनीकी

विषमता प्रतिवर्ष बढतीही जारही है और वह पर्याप्त मात्रामें विदेशी विनिमय उपार्जित नही कर पारहाहै तो इसका आशय यह निकला कि उस देशका आर्थिक सन्तुलन विकृत होगया है। इसप्रकार देश को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय देनीकी पूर्तिके लिए कोषपर ही निर्भर न रहकर आर्थिक सन्तुलनकी चेष्टा करनी चाहिए। इस कार्यमें कोष इस प्रकारके सदस्यको उपयुक्त परामर्श देकर सहायता करेगा। वास्तव में इस परिस्थितिमें पडेहुए देशको कोषपर ही निर्भर रहनेकी प्रवृत्तिको कम करने के लिए इसप्रकार का प्रबन्ध किया गयाहै कि जैसे जैसे कोषके पास ऐसे देशके द्रव्यके परिमाणमें वृद्धिहोती रहेगी (अन्य देशोंके द्रव्य मोल लेनेके कारण) उसको अतिरिक्त वृद्धि (अर्थात् अपने हिस्सेके ऊपर) पर सोनेके रूपमें एक निर्धारित दरसे शुल्क देना पडेगा। इस शुल्ककी दर १/२ प्रतिशतसे आरम्भ होकर अतिरिक्त वृद्धिके परिमाण और अवधिके अनुसार ४ प्रतिशत तक होसकती है। यदि किसी का द्रव्य कोषमें इतना अधिक और इतने अधिक समयसे जमा होगया है कि यह दर ४ प्रतिशत तक पहुचगयी है तो कोष इस देशको आदेश देगा कि वह इस अवस्थाको ठीक करे। कोईभी देश कोषमे अपने अतिरिक्त द्रव्यको सोनेसे अथवा किसी अन्य विनिमयसाध्य द्रव्यसे पुन. मोल लेसकता है।

यदि कोषके पास किसी सदस्य देशके द्रव्यकी माग बहुत बढजाये और कोष सभी प्रार्थी देशोंकी माग पूरी करनेमें असमर्थ हो तो इस प्रकारके द्रव्यको अपर्याप्त घोषित करदिया जाताहै और प्रार्थी देशोंको उनकी आवश्यकतानुसार बाट दिया जाता है। कोष अपर्याप्त द्रव्यवाले देशके द्रव्यको सोना बेचकर अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त करनेकी भी चेष्टा करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषके प्रबन्धमें सोनेको विशिष्ट स्थान प्राप्त है। सोना इस कोषकी सबसे अधिक द्रव्य सम्पत्ति है जिससे किसी भी देशका द्रव्य प्राप्त कियाजा सकता है भिन्न भिन्न देशोंके द्रव्योकी आपसी विनिमयकी दरको निर्धारित करनेके लिए सोना माध्यमका कामभी करता है। क्योंकि प्रत्येक सदस्य देशके द्रव्यका मूल्य सोने (अथवा संयुक्तराज्य के डालर) के परिमाणमें निर्धारित रहता है। अतएव इस आधारपर भिन्न भिन्न द्रव्योका आपसका विनिमय-मूल्य स्वयही निर्धारित हो जाता है।

परन्तु सोनेके इस स्थानसे यह परिणाम निकालना ठीक न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय

द्रव्य-कोषके अन्तर्गत द्रव्य-सम्बन्धी प्रबन्ध स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके समान है। इस नवीन योजनाके अन्तर्गत स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिकी स्थापना करना आवश्यक नही है। सबसे बडी बात यहहै कि विदेशी विनिमयकी दरमें १० प्रतिशत तक अन्तर किया जासकता है और कोषकी अनुमतिसे अधिक मात्रामें भी। यह सुविधा स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत नही पायीजाती। इसका अभिप्राय यहहै कि इस नवीन प्रबन्धमें किसीभी देशको अपनी आन्तरिक व्यवस्थाको स्थिर विदेशी विनिमयकी दरके आधीन करनेकी आवश्यकता नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोषने अपना कार्य मार्च १९४७से आरम्भ किया। अनेक देशों ने कोषसे सहायता प्राप्तकी है। उदाहरणके लिए भारतने कोषसे १९४८-४९ में लगभग १० करोड डालरका विदेशी विनिमय (किसीभी १२ महीनेकी अवधिके अन्दर यह परिमाण भारतके लिए अधिकतम है) प्राप्त किया। सितम्बर १९४९के अवमूल्यन का निर्णयभी कोषकी अनुमतिसे हुआ। कोषके कार्योंकी आलोचना करनका अभी उपयुक्त समय नही हुआ है। युद्धजनित विकृतियोंका समाधान अभीतक नही हो सका है। अनेक देशोंमें विदेशी विनिमय नियन्त्रण बनाहुआ है। आशाकी इसबात की है कि इस कोषका कार्य राजनीतिक परिस्थितियोंसे विशेष प्रकारसे प्रभावित न होजाये। इसके अतिरिक्त कोषके कार्योंकी सफलताके लिए यह आवश्यकहै कि अन्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक कार्यभी उसके उद्देश्योंके अनुकूल हों।

विश्वबैंक

ब्रेटन वुड्स् द्रव्य-सम्मेलनमें आर्थिक निर्माण और उत्थानके लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी स्थापनाकी योजनाभी बनायीगयी। इस बैंकके निम्नलिखित उद्देश्य हैं:

(१) सदस्य देशके आर्थिक निर्माण कार्यके लिए, युद्धमे क्षत देशोंके पुनरुत्थान के लिए और पिछडेहुए देशोंके उत्पत्तिके साधनोंकी उत्पादकता बढानेके लिए पूजी प्राप्त करवानेमें सहायता करना।

(२) विदेशी पूजीपतियों को गारटी देकर अथवा उनके साथ सहयोग देकर पूजी लगानेको प्रोत्साहित करना और यदि अन्य पूजीपतियो से उचित हिसाबसे पूजी न प्राप्त होसके तो अपनी पूजीसे अथवा स्वय पूजी इकट्ठाकर उत्पादक कार्यो

के लिए उपलब्ध करना।

(३) सन्तुलित प्रकारसे दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धि करवाना और सदस्योंकी उत्पत्तिके साधनोंकी उन्नतिके लिए और इसके द्वारा उनके जीवन-स्तरको ऊंचा करनेके लिए अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीको प्रोत्साहितकर उनकी अन्तर्राष्ट्रीय लेनीदेनीके सन्तुलनको बनाये रखना।

(४) स्वय अपने पाससे अथवा अपनी जमानतपर दियेगये अन्तर्राष्ट्रीय ऋण का इस प्रकारसे प्रबन्ध करना कि अधिक उपयोगी बडी अथवा छोटी आवश्यक योजनाको प्रथम स्थान दियाजाये।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय पूजी लगानेसे उत्पन्न प्रभावोंको ध्यानमें रखतेहुए अपना कर्तव्य पालन करना औरयुद्ध समाप्तिपर युद्धकालीन आर्थिन व्यवस्थाको शान्ति-कालीन व्यवस्थामें परिणत करनेमें सहायता देना।

विश्व बैंककी अधिकृत पूजी १० अरब डालरहै जो अन्तर्राष्ट्रीय कोषकी भाति सदस्य देशोंमे हिस्सोंके रुपमें प्राप्त होनी चाहिए। भारतका हिस्सा ४० करोड है। प्रत्येक देशको अपने हिस्सेका केवल २० प्रतिशत (१८ प्रतिशत अपने द्रव्यमें और २ प्रतिशत सोनेके रुपमें) बैंकको देना पडता है। शेष ८० प्रतिशतको बैंक उधार लिएहुए अथवा गारटी कियेहुए ऋणके भुगतानके लिएही माग सकता है।

बैंक जिस देशको पूजी उधार देताहै अथवा जिस देशसे पूजी प्राप्त करताहै, उसे उस देशकी स्वीकृति लेनी पडती है। बैंक सदस्य देशोंकी सरकारकोही ऋण देता है। वहभी उनकी ऋणकमेटी से स्वीकृत कार्योंके निमित्तही। अन्य सस्थाएभी बैंकसे ऋण प्राप्त करसकती हैं यदि उनकी सरकार अथवा केन्द्रीय बैंक, मूलधन ब्याज और अन्य व्यय देनेकी गारटी लें। बैंकको इस बातका भी प्रबन्ध करना पडताहै कि जिस कार्यके लिए ऋण दियागया हो, वह उसी कार्यपर उचित ढगसे लगाया जाये। बैंकका एक मुख्य कार्य यहभी है कि वह प्रार्थना करनेपर सदस्य देशमें यथार्थता-ज्ञात करनेवाले कमीशनको भेजे। प्रत्येक ऋणके सम्बन्धमें उसकी अवधि, ब्याजकी दर और मूलधन लौटानेका समय बैंक निश्चित करेगा। गारटी कियेगये ऋणपर १० वर्षतक बैंक १ से १ १/२ प्रतिशत प्रतिवर्ष ऋणी देशसे कमीशन लेगा।

विश्व बैंककी स्थापना जून १९४६ में हुई। तबसे इसने अनेक सदस्योंको ऋण

उपलब्ध किया है। भारतको भी अभीतक दो ऋण मिले हैं। पहिला ऋण १५ वर्ष के लिए, ३·४ करोड डालरका, रेलके विस्तारके लिए दियागया। जिसपर तीन प्रतिशत व्याज और १ प्रतिशत कमीशन लगाया गया। दूसरा ऋण, १ करोड डालरका, भूमिसुधारके कार्यके लिए अक्तूबर १९४९ में प्राप्त हुआ। एक और तीसरे ऋण की बातचीत चलरही है।

इस प्रकारके अन्तर्राष्ट्रीय बैंककी अत्यन्त आवश्यकता थी। दो महायुद्धोंके अन्तर्कालीन समयमें अन्तर्राष्ट्रीय पूजीके लगावसे यह अनुभव हुआ कि इसकी व्यवस्था ठीक नही चलरही है। कभी विदेशी पूजी बडी मात्रामें मिलजाती थी और कभी बिल्कुलही नही मिलती थी। अतएव एक इस प्रकारकी संस्थाकी आवश्यकता जान पड़ने लगीथी जो स्वतन्त्र दीर्घकालीन पूजीके अन्तर्राष्ट्रीय वितरण और लगाव का ठीक प्रबन्ध करसके और उसको प्रोत्साहन भी देसके। इस कार्यमें विश्वबैंक बहुत उपयुक्त सिद्ध होगा। यह ध्यान देने योग्य बातहै कि विश्वबैंक अन्य पूजीपतियोंके *विदेशमें पूजी लगानेका स्थान स्वयं नही लेना चाहता।* वह तो उनको गारंटी देकर और उनके साथ सम्मिलित होकर अन्तर्राष्ट्रीय पूजीके लगावको उत्साहित करना चाहता है। इस प्रकारके कार्यको अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष नही करसकता क्योंकि उसको अपना धन द्रव रूपमें रखना पडताहै इन सभी कारणोंसे विश्वबैंक की स्थापनाका सभी देशोंने स्वागत किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष और विश्वबैंकके कार्योंका निकट सम्बन्ध है। किसीभी देशमें द्रव्यकी स्थिरताके लिए आवश्यकहै कि उसमें उत्पादक कार्योंकी वृद्धि कीजाय जिससे विदेशी व्यापारकी वृद्धि होकर ऋणी देश बैंककी देनदारी पूरी करसके।

अभी हमने बताया कि विश्वबैंकने गत तीन वर्षोंमें अनेक आर्थिक कार्योंके लिए अनेक सदस्योंको पूजी उपलब्धकी है। विशेषकर पिछड़ेहुए देशोंको इस प्रकारकी पूजीकी बहुत आवश्यकता है। परन्तु बैंकसे ऋण प्राप्त करनेकी शर्तें बडी कडी हैं। व्याजकी दरभी अधिकहै और ऋण वापस करनेकी अवधिभी शीघ्रही आरम्भ हो जाती है। इन बन्धनोंके कारण भारतके सदृश देशोंको बैंकसे पर्याप्त मात्रामें ऋण मिलनेकी आशा नही है। बैंकके प्रबन्धक कहतेहैं कि वे बैंककी पूजीको जोखिममें नही डालना चाहते। अतएव उनको बडी सावधानी और सतर्कतासे छानबीन करनी पडती है।

२८

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

पृथक सिद्धान्त की आवश्यकता

प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें सलग्न रहताहै जिनके उत्पन्न करनेके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री उपलब्ध रहती है। उपयुक्त सामग्रीमें भूमिकी उत्पादन-शक्ति, निवासियोंकी कार्यकुशलता और सग्रहीत पूजीकी मात्रा इत्यादि सम्मिलित है। प्रत्येक देश इस सामग्री द्वारा उत्पन्न कीजाने वाली वस्तुओंका, अपनी देशीय आवश्यकताओंके परिमाणतक ही नहीं वरन् उससे अधिक मात्रामें, उत्पादन करना चाहताहै और निजी आवश्यकताओं को तृप्त करने के अनन्तर बचीहुई मात्रा को दूसरे देशों द्वारा उत्पन्न उन वस्तुओंसे विनिमय करता है जिनके उत्पादनके लिए उसके पास उपयुक्त सामग्री नहीं, या अपर्याप्त मात्रामें है।

वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनके लिए पृथक आर्थिक सिद्धान्त निर्माण करनेकी आवश्यकता इसलिएहै कि उत्पादनके साधन श्रम, पूजी इत्यादि एक देशसे दूसरे देशमें जानेके लिए उतने गतिशील नही होते जितनेकि एक देशके एकभाग से दूसरे भागमें जानेके लिए। इसके कईएक कारणहै। श्रमजीवी भाषा अथवा रहनसहन की शैलीमें भेद होनेके कारण अधिक वेतन पानेपर भी अपना देश छोडकर दूसरेमें जानेसे हिचकिचाते है। इसीप्रकार पूजीपति अपनी पूजीका परदेशमें लगाना अधिक जोखिमपूर्ण समझते है। इसके अतिरिक्त आधुनिक सरकारें मनुष्यो अथवा पूजीके आयात-निर्यातपर नियन्त्रण लगा देतीहै।

उद्योग धन्धों के स्थानीकरण से सम्बन्ध

ओहलीन के मतानुसार तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका सिद्धान्त उद्योग धन्धोके स्थानी-

करण सिद्धान्तका केवल एक विशेष रूपहै, क्योंकि देखनेमें आताहै कि एकही देशके भिन्न भिन्न प्रान्तोंमें भिन्न भिन्न उद्योग धन्धों का स्थानीकरण होजाता है। इसका कारण, चाहे वह भाग एकही देशका प्रान्त हो अथवा दूसरे देशका भाग, उत्पादन के साधनोंकी भिन्नताही है। बम्बईमें सूती कपड़ा बुननेके कारखाने इसलिए मिलते है कि उस प्रान्तमें कपास पैदा करनेके लिए श्रेष्ठतम भूमि पायीजाती है और वहा का जलवायु कातने और बुननेके कार्यके लिए अधिक उपयोगी है। इसीप्रकार कश्मीरमें शालदुशाले इसलिए बुने जातेहैं कि यद्यपि वहा इनके लिए कच्चा माल अन्य स्थानोंसे मगाना पडता है परन्तु बुननेके कार्यमें कुशल श्रम पर्याप्त मात्रामें मिलजाता है। यदि किसी प्रान्तमें कोई उत्पादन का साधन अधिक मात्रामें मिलता है तो स्वाभाविकही है कि उस प्रान्तमें उसका मूल्य कम होगा और जिस वस्तुके उत्पादनमें उस साधनका अधिक मात्रामें प्रयोग कियाजा सकताहै उसका उत्पादन-व्यय उस प्रान्तमें न्यूनतम होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि पृथ्वीपर साधनोंकी प्राकृतिक विभिन्नताही उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणका मुख्य कारण है परन्तु इस स्थानपर अन्य कारणोंका भी जो स्थानीकरणमें सहायता देतेहैं, उल्लेख करदना आवश्यक होगा। उत्पादन का उद्देश्य अन्ततोगत्वा उपभोगके लिए सामग्री उत्पन्न करना है। इसकारण यदि उत्पत्तिको उपभोगके स्थानतक पहुचानेके लिए उत्पादकको इतना व्यय करनापड़े कि उपभोग के स्थानपर उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोंका स्थापित करना अधिक लाभकारीहो तो उत्पादक ऐसाही करेगा। ईंट बनानेके कारखाने प्राय. उपभोग स्थानोंके पासही बनाये जातेहैं क्योंकि ईंटोंका भाड़ा उनके उत्पादन-व्ययसे कहीं अधिक होता है। बहुतसे कच्चे माल ऐसे होतेहैं कि जिनका समस्त अथवा अधिकांश भाग वस्तुमें विद्यमान रहता है। जैसे ऊनका, ऊनी कपडेमें। ऐसी वस्तुओंका प्राय: उपभोग-स्थान के पासही निर्माण करना श्रेयस्कर रहता है। बहुतसे माल ऐसेहैं जिनका बहुत थोडा अंश उत्पत्तिमें विद्यमान रहता है। कोयलेका तो तनिक अंशभी उत्पत्तिमें विद्यमान नहीं रहता। ऐसे मालोंको प्रयोगमें लानेवाले उद्योग धन्धे प्राय: उन स्थानोंपर स्थापित होजाते हैं जहां यह माल मिलता है। इसके अतिरिक्त किसी एक स्थानपर उद्योग धन्धोंके एकीकरणसे ही प्राय: बहुतसी ऐसी सुविधाएं प्राप्त होजाती हैं जो उस स्थानको उद्योग धन्धोंके स्थानीकरणका केन्द्र बनादेती हैं।

कुशल श्रमकी पर्याप्त मात्रामें हरसमय उपलब्धि, यन्त्र इत्यादि बनानेमें अथवा सुधारनेके लिए सहायक धन्धो, तथा आयात निर्यातके साधनोका अस्तित्व इत्यादि सुविधाए ऐसे स्थानोपर उद्योग धन्धोको आकर्षित करनेका कारण बनती है। कच्चे मालको उपभोग्य पदार्थके रूपमें परिवर्तित होनेसे पूर्व कई बीचकी श्रेणियोमें से गुजरना पडताहै और एक श्रेणीसे दूसरी श्रेणीमें परिवर्तित करनेके लिए पृथक पृथक धन्धे होतेहै। सम्भवहै कि इन पृथक पृथक धन्धोका किसी विशेष स्थानपर एकीकरण आर्थिक दृष्टिसे वाछनीय हो। कपास वेलने, कातने तथा कपडा बुननेके कारखाने पृथक पृथक होतेहै। इनके एकीकरणसे कपडेके उत्पादन-व्ययमें कमी होनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार कई यन्त्र ऐसे निर्माण कियेजाते है कि उनके द्वारा अधिक मात्रामें उत्पत्ति करनेसे उत्पादन व्यय बहुतही कम होजाता है। इस प्रकार के उद्योग धन्धोका स्थानीकरण बडेबडे उपभोग-स्थानोके पास होजाता है और इनके द्वारा उत्पन्न वस्तुओका वितरण देश अथवा ससारभर में होता है।

तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्त भिन्न भिन्न देशोमें वस्तु-निर्माणके उत्पादन व्ययमें अन्तर होनेका ही एक विशेष रूप है। प्राचीन अर्थशास्त्री वस्तुओके मूल्यके श्रम-सिद्धान्तके अनुयायीथे। हम देख चुकेहै कि आधुनिक विद्वानोके मतानुसार सीमान्त-उत्पादन-व्यय मूल्यका आधारहै और इसी सीमान्त उत्पादन-व्ययकी सहायतासे हम यह ज्ञान प्राप्त करनेमें सफल होसकते है कि अमुक देश अमुक वस्तुके उत्पादनके लिए उपयुक्त है। मानलीजिए कि दो देशोमें केवल दोवस्तुओ का ही परस्पर विनिमय होरहा है। भारत पाकिस्तानसे कपास मगाता है और उसके विनिमयमें पाकिस्तानको कपडा देता है। यह विनिमयका कार्य उसी अवस्थामें सम्पन्न होनेकी सम्भावनाहै जबकि इसके द्वारा दोनो देशोका स्वार्थ सिद्ध होरहा हो अर्थात् भारतको कपडा देकर कपास लेनेमें और पाकिस्तानको कपास देकर कपडा लेनेमें लाभ प्राप्त होता हो। आकडो द्वारा हम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करेंगे कि यह अवस्था सदैव उपलब्ध नही, यह केवल उसीसमय उपलब्ध होतीहै जबकि एक देशमें केवल एक (भारतमें कपडा) और दूसरे देशमें केवल दूसरी

(पाकिस्तानमें कपास) वस्तुका ही सीमान्त उत्पादन-व्यय कमहो) मानलीजिए भारतमें कपासकी एक गाठका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० और कपडेके एक थानका उत्पादन-व्यय १०० रु० है। इसके विपरीत पाकिस्तानमें कपासकी एक गाठ का उत्पादन-व्यय १०० रु० और कपडेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय २०० रु० है। स्पष्टहै कि इस स्थितिमें दोनो देशोका क्षेम इसमें है कि पाकिस्तान केवल कपास के उत्पादनमें उत्पादनके साधनोका प्रयोग करके अधिकसे अधिक मात्रामें कपास उत्पन्न करे और भारत केवल कपडेके उत्पादनमें उत्पादनके साधनोको लगाकर अधिकसे अधिक कपडा पैदा करे। फिर दोनो परस्पर विनिमय करलें। अन्यथा भारत को स्वय कपास पैदा करनेमें अधिक उत्पादन व्यय उठाना पडेगा और पाकिस्तान को स्वय कपडा बुननेमें। ससारमें बहुतसी वस्तुओका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन इसी लिए होताहै कि देनेवाले देशमें उस वस्तुका सीमान्त उत्पादन व्यय लेनेवाले देशसे निरपेक्ष रूपमें कम होता है। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेनका होना उस अवस्थामें भी सम्भव होसकता है जबकि एक देशमें दोनो वस्तुओके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशसे कम है। परन्तु उस देशको उनमेंसे केवल एकही वस्तुके उत्पादनमें अपने उत्पादनके साधनोका प्रयोग करनेसे सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ होनेकी सम्भावना होतीहै। कारण यहहै कि प्रत्येक देशमें उत्पादनके साधनाकी मात्रा सीमित है। इसलिए उनके प्रयोग द्वारा अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी इच्छा से उस देशके उत्पादक उसी वस्तुके उत्पादनमें अपने साधनोको प्रयुक्त करेंगे जिसमें कि उन्हें सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ मिलनेकी आशा है। मानलीजिए भारतमें एक गाठ कपासका सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० और कपडेके एक थानका सीमान्त उत्पादन व्यय ५० रु० है। यदि भारत दोनोही वस्तुओको अपनेही देशमें उत्पन्न करले तो कपडेके थान और कपासकी गाठका परस्पर विनिमय मूल्य २ : १ होगा अर्थात् २ थानोके बदलेमें एकगाठ कपास मिलसकेगी। अब मानलीजिए पाकिस्तान में कपासकी एक गाठका सीमान्त उत्पादन व्यय १५० रु० और कपडेके एक थान का सीमान्त उत्पादन व्यय १०० रु० है। यदि पाकिस्तान दोनो वस्तुओको अपने देशमें ही उत्पन्न करले तो उस देशमें कपडेके थान और कपासकी गाठका विनिमय ३ : २ के अनुपातमें होगा। अब यदि पाकिस्तान कपासकी २ गाठें उत्पन्न करके भारत भेजदे तो भाड़ा, बीमा इत्यादि व्ययकी गणना न होनेपर हम कहसकते

है कि भारतमें उसे ३ के स्थानपर ४ कपडेके थान मिल सकेंगे। इसी प्रकार भारत यदि कपडेके ३ थान उत्पन्न करके पाकिस्तान भेजदे तो भाडा, बीमा आदिके व्यय की गणना न करनेपर उसे १ १/२ गाठके स्थानपर २ गाठ कपास मिलेगी। इससे सिद्धहुआ कि यद्यपि भारतमें कपास और कपडे दोनोका सीमान्त उत्पादन व्यय पाकिस्तान की अपेक्षा कमहै परन्तु उसका तुलनात्मक क्षेम कपडेके उत्पादनमें ही अपने साधनोको प्रयुक्त करनेमें है। ऐसी स्थितिभी असम्भव नही है कि एक देश में दोनो वस्तुओंके सीमान्त उत्पादन व्यय दूसरे देशमे कमहो परन्तु फिरभी किसी एक देशको भी उनमेंसे एकही वस्तुको उत्पन्न करके दूसरेसे दूसरी वस्तु विनिमयद्वारा प्राप्त करनेमें तनिकभी लाभ न हो। मानलीजिए भारतमें कपडेके थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय ५० रु० और कपासकी गाठका सीमान्त उत्पादन-व्यय १०० रु० है और पाकिस्तानमें क्रमश: ७५ रु० और १५० रु०है। भारत यदि दोनो वस्तुए अपने देशमें उत्पन्नकरे तो उनका पारस्परिक विनिमय २:१ के अनुपातमें होगा और यही अनुपात पाकिस्तानमें भी होगा। इसकारण न तो भारतको कपडा उत्पन्न करके उसके विनिमयमे पाकिस्तानसे कपास लनेमें कोई लाभहै और इसीतरह न पाकिस्तानको कपास उत्पन्न करके भारतसे कपडा लेनेमें। इससे सिद्धहुआ कि यदि एक देश किसी दूसरी वस्तुको और दूसरा किसी अन्य वस्तुको निरपेक्ष रूपमें कम उत्पादन-व्ययसे उत्पन्न करसकता है तो उन दोनो वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन होनकी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त जब एक देश दोनो वस्तुओको दूसरे देशकी अपेक्षा कम व्ययमें उत्पन्न करसकता है तो भी उन देशोमें अन्तर्राष्ट्रीय लेन देन होनेकी सम्भावनाहै यदि एक वस्तुके उत्पादनसे सापेक्ष रूपमें दूसरी वस्तुके उत्पादनमे अधिक लाभ प्राप्तहो सकता है। परन्तु यदि उत्पादन-व्यय ऐसे हो कि दोनो वस्तुओंको एकही देशमें उत्पन्न करनेपर भी उनका पारस्परिक विनिमय उसी अनुपातमें हो पाताहो जिस अनुपातमें कि एकवस्तु स्वय उत्पन्न करके दूसरीवस्तु दूसरे देशसे विनिमय द्वारा प्राप्त करनेसे तो ऐसी अवस्थामें उन वस्तुओंके अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयकी तनिक भी सम्भावना नही है।

इस सम्बन्धमें इतना कहना आवश्यकहै कि तुलनात्मक उत्पादन व्ययके सिद्धान्त का यह अर्थ नही कि जो वस्तु विनिमय द्वारा दूसरे देशसे प्राप्त कीजाती है उसके उस देशमें उत्पादन का नितान्त अभाव हो। ऐसाभी होसकता है कि दूसरा देश

उस वस्तुको उतनी मात्रामें उत्पन्न न करपाता हो, जिससे उसकी अपनी तथा दूसरे देशकी सम्मिलित माग पूरी होसके।

तुलनात्मक उत्पादन व्ययका सिद्धान्त उस स्थितिमें भी लागू होताहै जबकि एक देश बहुतसी वस्तुओंके विनिमयसे किसी अन्य देशसे बहुतसी वस्तुए प्राप्त कररहा हो। इस स्थितिमें कहाजा सकताहै कि प्र यक देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओं के उत्पादनमें उस देशमें आयात होनेवाली वस्तुओंकी अपेक्षा उस देशको सापेक्ष रूपमें अधिक लाभ होरहा है।

अन्तमें यह कहदेना अनुचित न होगा कि तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्तको उत्पादन व्ययका द्रव्यके रूपमें परिवर्तित करके सिद्ध करना तर्ककी दृष्टिसे दूषितहै। मौद्रिक उत्पादन व्यय उत्पादनके साधनोंको दियेगये मौद्रिक मूल्यका ही रूपान्तर है और इन साधनोंका मौद्रिक मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी अनुपस्थितिमें वह न होता जो इस व्यापारकी उपस्थितिमें है। वास्तवमें अकेले उत्पादन व्ययका मौद्रिक रूपही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका कारण नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारभी इस रूपमें उनका कारण होसकता है। उत्पादन व्ययका वास्तविक अर्थ उत्पादनके साधनोंकी उस मात्रासे है जो वस्तु विशेषके उत्पादनके लिए आवश्यक है। उन साधनोंको उस वस्तु विशेषके उत्पादनमें लगानेसे किसी अन्य वस्तुके उत्पादनमें नहीं लगाया जासकता है। उस अन्य वस्तुको उत्पन्न न करनेसे उस देशको जो हानि हुईहै वह वस्तु विशेषका व्ययहै जिसे अवसर व्यय अथवा वैकल्पिक व्ययभी कहा जाताहै और यही व्यय तुलनात्मक उत्पादन व्यय सिद्धान्तका आधार है।

माग की लोच और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

हम यह देखही चुकेहैं कि वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लनदेन उसी अवस्थामें सम्भवहै जबकि लेनवाले और देनेवाले दोनों देशोंका हित अपनी कुछ वस्तुए देकर दूसरे देशसे कुछ वस्तुए लेनेमें हो। हम देखचुके हैं कि भारतमें कपास की गाठ और कपड़के थानका सीमान्त उत्पादन-व्यय क्रमश १००रु० और ५० रु० है और पाकिस्तान में यही व्यय १५० और १०० रु० है, तो कपास पैदा करके भारतसे कपडा लेनेमें पाकिस्तान को कपासकी २ गाठें देकर कपडेके ४ थान मिलजाते हैं और स्वय दोनों

वस्तुए उत्पन्न करनेपर केवल कपडेके ३ थानोसे विनिमय होना सम्भव था। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विनिमयसे पाकिस्तानको अधिकसे अधिक कपडके एक थान की अतिरिक्त प्राप्ति होनेकी सम्भावना है क्योकि यदि कपासकी २ गाठोके विनिमय से भारतको कपडेके ४ से अधिक थान देने पडेंगे तो वह पाकिस्तानसे कपास लेनेके स्थानमें स्वय उत्पन्न करना आरम्भकर देगा। इसी प्रकार यदि पाकिस्तानको २ गाठोके बदलमें कपडेके ३ थानसे कम मिलेंगे तो वह कपडा स्वय उत्पन्न करना आरम्भ कर देगा। इस एकथान में से भारत और पाकिस्तानको लाभके रूपमें प्राप्त अश भारतकी कपासके लिए और पाकिस्तानकी कपडके लिए मागकी लोचकी सहायतासे किया जासकता है। यदि भारतकी कपासके लिए माग अधिक लोचदार है तो इस लाभका मुख्य अश भारतको प्राप्त होगा। क्योकि यदि पाकिस्तान अपनी दो कपासकी गाठाका विनिमय-मूल्य कपडके तीन थानोसे थोडाभी अधिक करेगा तो भारत द्वारा कपासके लिए कुल मागमें भारी कमी आजाने से पाकिस्तानको इस विनिमय द्वारा प्राप्त होनेवाले कुल लाभमें भी भारी कमी हानेकी सम्भावना है। भारत द्वारा कपासके लिए माग कम लोचदार होनेसे लाभका मुख्य अश पाकिस्तान को प्राप्त होगा और थोडा अश भारत को। पाकिस्तानकी कपडेकी माग अधिक अथवा कम लोचमयी होनसे यह अनुमान लगाया जासकता है कि कौनसा देश लाभ का मुख्य अश प्राप्त करगा और कौनसा अल्पाश। इसप्रकार वस्तुओंके उत्पादन-व्यय और उनकी मागकी लोचके आधारपर दो देशोमें उनके पारस्परिक विनिमयके भाव निश्चित हानेरहते हैं। समय समयपर इन भावोंमें परिवर्तन होते रहते हैं। यदि परिवर्तन मागमें परिवतन होनेके कारण हो तो वह देश जिसकी वस्तुओंकी माग बढजाती है अथवा जिसकी वस्तुओंकी मागकी लोच कम होजाती है, अधिकतर लाभ प्राप्त करता है। उत्पादन-व्ययमें परिवर्तन होनेसे लाभ-हानिका निर्णय करना इतना सुगम नही। क्योकि होसकता है कि उत्पादन-व्यय बढनेसे यदि उस वस्तुकी माग अधिक लोचदार नही है तो पहिलेसे अधिक मूल्यभी प्राप्त होसके। इसीप्रकार उत्पादन-व्यय कम होनेपर प्राप्त मूल्यके कम होनेकी भी सम्भावना है। केवल इतना होसकता है कि मूल्य कम होनेसे उस वस्तुकी माग बढजाये और कुल प्राप्त लाभ पहिलसे अधिक हो। इन भावोमें परिवर्तन उस देशके लिए अधिक महत्वपूर्ण है जो अपनी उत्पत्तिका अधिकाश दूसरे देशोको भेजदेता है।

२६

उन्मुक्त और संरक्षित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

उन्मुक्तता के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके तुलनात्मक उत्पादन-व्यय सिद्धान्तका अर्थ यहहुआ कि पूर्ण प्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें प्रत्येक देश उन वस्तुओंके उत्पादनमें सलग्न होगा जिनको उत्पन्न करनेकी उसे अन्य देशोंकी अपेक्षा सापेक्ष रूपमें अधिक सुविधा प्राप्त होगी और अन्य वस्तुओंको जो उसे भाडा इत्यादिके व्ययकी गणनाके अनन्तर स्वय उत्पन्न करनेकी अपेक्षा अन्य देशोंसे कम मूल्यपर मिलसकती है, उन देशोंसे मगवायेगा। इसप्रकार ससारके प्रत्येक देशमें मिलनेवाले उत्पादनके साधन ऐसी वस्तुओंके उत्पादनमें लगाय जायेंगे जिनकी वे अधिकतम उत्पत्ति करनेके योग्य होंगे। फलस्वरूप सब प्रकारकी वस्तुओंकी ससारमें अधिकतम उत्पत्ति होगी और प्रत्येक देश के निवासियोंकी वस्तुओंके रूपमें आय उच्चतम होगी। यह कार्य सुचारु रूपसे तभी चल सकताहै जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्मुक्त हो।

इसके अतिरिक्त विविध प्रकारके कच्चे माल लोहा, कोयला, कपास, पटसन इत्यादिका ससारके विशेष भागोंमें ही मिलना अथवा उत्पन्न होना सम्भव है। ससारके अन्य भाग जिनको प्रकृतिने ऐसी वस्तुओंके उत्पन्न करनेकी शक्ति प्रदान नहीं की इन वस्तुओंको अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय द्वाराही प्राप्त करसकते है। अन्यथा उन्हें इस प्रकारकी वस्तुओंसे वचित रहना पडेगा। आधुनिक जीवन तथा रहन सहनके लिए इस प्रकारकी वस्तुओंकी अत्यन्त आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुएभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारका उन्मुक्त होना कल्याणकारी ही सिद्ध होता है। श्रमविभाजन के लाभोंका उल्लेख होचुका है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमविभाजन द्वारा समस्त ससारमें वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रा बढनेसे प्राप्त होनेवाले लाभ तभी उपलब्ध होसकते है जबकि वस्तुओंका अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन कृत्रिम प्रतिबन्धो द्वारा न रोकाजाये।

इसके अतिरिक्त यह तो स्पष्ट है ही कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारके उन्मुक्त होनेसे किसीभी देशमें किसी अन्य देशसे आनेवाली वस्तुओंके मूल्य उस स्थितिकी तुलना में तो कमही होंगे जबकि उनके आयातपर कर लगादिये जायें। मूल्योंका कम होना उपभोक्ताओंके लिए हितकारी है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी उन्मुक्तताके कारण ऐसे एकाधिकारियोंका जो उपभोक्ताओंके हितका ध्यान न रखतेहुए केवल अधिकतम लाभ प्राप्त करनेकी धुनमें उन्मुक्त रहतेहैं, स्थापित होना असम्भव नही तो कठिन अवश्य होजाता है।

संरक्षण

आय-कर और संरक्षण

जब वस्तुओंके आयात-निर्यातपर करों द्वारा प्रतिबन्ध लगादिये जातेहैं तो उसे व्यापारके संरक्षणका नाम दियाजाता है। आयात-निर्यात कर दो प्रकारके होते हैं। एकतो राजस्व-कर और दूसरे संरक्षण-कर। राजस्व-कर लगानेसे किसीभी देशका उद्देश्य अपना राजकीय कार्य चलानेके लिए अधिक आय प्राप्त करना होताहै और संरक्षण-करों द्वारा स्वदेशी उद्योग धन्धोंको विदेशी प्रतिस्पर्धासे सुरक्षित करके प्रोत्साहित करना। ये दोनो उद्देश्य परस्पर विरोधीहैं क्योंकि अधिकतम संरक्षण प्रदान करनेवाले कर वे करहैं जिनके किसी वस्तुके आयातपर लगा देनेसे उस वस्तुका आयात देशमें नितान्त बन्द होजाता है और इसकारण सरकारको तनिकभी आय प्राप्त नही होती। इसके विपरीत अधिकतम आय उन करोंसे प्राप्त होगी जिनके किसी वस्तुपर लगानेसे किसी वस्तुके आयातमें तनिकभी नही या बहुत थोडी कमी आती है।

संरक्षण के लाभ और हानियां

बहुतसे आधुनिक अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार संरक्षण-करोंका लगायाजाना कई आर्थिक अथवा अनार्थिक कारणोंसे वाञ्छनीय है। कहाजाता है कि किसी देशका किसी वस्तुकी पूर्तिके लिए किसी अन्य देशपर पूर्णरूपसे निर्भर करना उचित नही क्योंकि

युद्धके समय ऐसी वस्तुकी पूर्ति बन्द होजाने के कारण उस देशको हानि पहुचनेकी सम्भावना है। इसीप्रकार किसी विशेष व्यवसाय अथवा जन-समुदायको सुरक्षित रखनेके लिए सरक्षण-करोका लगाना आवश्यक समझा जाताहै। विशेषकर कृषकों की रक्षा इन करोद्वारा करनेके लिए बहुतसे नीतिज्ञ अपना मत प्रकट करते हैं।

सरक्षण-करा द्वारा सुरक्षित उद्योग धन्धोमें उत्पत्तिकी मात्रा बढनेकी सम्भावना होजाती है। परन्तु यदि उत्पत्तिकी मात्रा बढनेसे वस्तुओंका आयात कम हो जाताहै तो अन्य वस्तुओका निर्यातभी कमहोगा और यदि किन्ही विशेष उद्योग धन्धों में उन्नति होनेके कारण उत्पादनके साधनोकी अधिक आवश्यकता होजाती है तो ये साधन अन्य उद्योग धन्धोके लिए उपलब्ध नही रहते और उन उद्योग धन्धोमें अवनति से होनेवाली हानि सरक्षित धन्धोमें होनेवाले लाभसे अधिक होसकती है।

सरक्षण-करोकी सहायतासे उत्पन्न वस्तुओंकी खपतके लिए विदेशीके स्थानपर स्वदेशी बाजारकी स्थापना अथवा प्रसारकी सम्भावना है। परन्तु जैसा हम ऊपर कहचुके है, स्वदेशी बाजारके प्रसारके साथ विदेशी बाजारका सकुचित होतेजाना भी अनिवार्यसा है।

सुरक्षित उद्योग धन्धोमें उन्नति होनेसे उनमें काम करनेवालोके पास अधिक क्रय-शक्ति आनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओके उत्पन्न करने वाले उद्योग धन्धोमें भी उन्नति आने लगतीहै परन्तु निर्यात कीजानेवाली वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें अवनति होनेसे उनमें काम करनेवालोकी क्रय-शक्तिका ह्रास होनेके कारण उनके द्वारा उपभोग कीजानेवाली वस्तुओको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धोमें भी अवनतिका प्रादुर्भाव सुनिश्चित है। सरक्षण-करोकी सहायताने किसी देशसे निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रा उस देशमें आयात कीजानेवाली वस्तुओकी मात्रासे अधिककी जासकती है। आयात कीजानेवाली वस्तुओंको कमकरना इसलिए अभीष्टहै कि विदेशी ऋणोके परिमाणमें अधिका-धिक वृद्धि न होती चलीजाये। परन्तु वस्तुओंके आयातमें ही केवल कमी करनेसे इस वृद्धिको रोकना सम्भव नही है। सरक्षण-करोंके कारण लोगोको विदेशोमें ऋण लेनेमें कोई बाधा नही आती। जबतक परोक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओकी मात्रा बढती रहतीहै तो प्रत्यक्ष रूपमें आयात होनेवाली वस्तुओकी मात्रामें कमी करनेका परिणाम केवल प्रत्यक्ष रूपमें निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंकी मात्रामें

कमी करना होगा। सरक्षण-करोंका लगाना इसलिएभी उचित समझा जाताहै क्योकि अन्य देशोंने इस प्रकारके कर लगारखे है। इसमें सन्देह नही कि कोईभी देश सरक्षण-कर लगाकर न केवल अपनीही अपितु अन्य देशोकी भी हानि करता है। परन्तु इसकार प्रतिकार यह नहीहै कि अन्य देशभी उसी प्रकारका कर लगाकर अपनी तथा उस देशकी औरभी अधिक हानि करनेका अपराध करें।

कई लोगोंका ऐसा विश्वासहै कि सरक्षण-करो द्वारा देशीय श्रमजीवियोको मिलनेवाले वेतनोंको अन्य देशोंमें इस वर्गको मिलनेवाले वेतनसे अधिक रखा जा सकता है। परन्तु दो देशोमें श्रमजीवियोको मिलनेवाले वेतनोमें अन्तरको दूसरे देशके श्रमजीवियोको अपने देशमें आनेसे प्रतिबन्ध द्वारा रोककरभी सदैव स्थिर रखा जासकता है। सरक्षण-करोको विभिन्न देशोमें विभिन्न वस्तुओंके उत्पादन-व्यय सम करनके लिए प्रयुक्त करनाभी उचित समझा जाताहै परन्तु यदि सारे ससारमें उत्पादन व्यय एकसे होजायंगे तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जो इनमें अन्तरके आधारपर ही होपाता है, जडसे मिटजायेगा। इसके अतिरिक्त अधिकतम उत्पादन व्ययवाले उद्योग धन्धोको अधिकतम सरक्षणकी आवश्यक्ता होगी। अर्थात् उत्पादन के साधनोंका कुशलतम प्रयोग करनेकी चेष्टा करना निरर्थकसा होजायेगा।

सरक्षण-करोके प्रभाव दो प्रकारके होते है। एक ओर तो उपभोक्ताओंको मूल्य में वृद्धि होनेके कारण हानि सहन करनीपडती है और दूसरी ओर उत्पत्तिमें वृद्धि होनेसे उनकी वास्तविक आयमें वृद्धि होती है। यदि उत्पत्तिकी मात्रामें महत्तम वृद्धि के साथसाथ मूल्योमें लघुतम वृद्धिहो तो सरक्षण-कर देशके लिए हितकारीही होगे और यदि मूल्योमें महत्तम वृद्धिके साथ उत्पत्तिमें लघुतम वृद्धिहो तो सरक्षण-कर उस देशके लिए हानिकारक होंगे। जहांतक मूल्योमें वृद्धि होनेके कारण उप-भोक्ताओंकी हानिका सम्बन्ध है, इसमें तो तनिकभी सन्देह नही कि उन्हें हानि होतीहै और इस हानिको निश्चित रूपसे आकाभी जासकता है परन्तु सुरक्षित उद्योग धन्धोंमें उत्पत्तिकी मात्राकी वृद्धिको वृद्धि मानलेना उचित नहीं। इस वृद्धि में से अन्य उद्योग धन्धोंकी उत्पत्तिमें सरक्षण-करोंके कारण जो कमी हुईहै, उसका निकालनाभी आवश्यक है। ऐसा करनेपर प्रतीत होगा कि संरक्षण-करोंके कारण लाभकी अपेक्षा हानि अधिक होनेकी सम्भावना है।

सरक्षण-करोका लगायाजाना किसी विशेष उद्योग धन्धेमें वर्तमान बेकारीको

समस्याको सुलझानेके लिए अत्यन्त लाभकारी बताया जाता है। व्यापारकी उन्मुक्तता के पक्षपातीभी यह माननेके लिए तैयार हैं कि किसी विशेष उद्योग धन्धेका सरक्षण करों द्वारा पुनरुत्थान किया जासकता है क्योंकि सरक्षणकी सहायतासे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होना अनिवार्य है। परन्तु यदि सरक्षण करो द्वारा किसी विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारी तो दूर होजाये और अन्य उद्योग धन्धोंमें बेकारी बढ़जाये तो कर लगाना विफलमना रहेगा क्योकि उनके लगानेसे हमारा उद्देश्य कुल बेकारी को दूर करनाथा न कि उस विशेष उद्योग धन्धेकी बेकारीही को। ऐसाभी असम्भव नहीं कि निर्यात कीजानेवाली वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाले उद्योग धन्धों में काम करनेवाले लोगोंकी सख्या उन लोगोंसे अधिकहो जिनको सुरक्षित उद्योग धन्धोमें नया काम मिला है। ऐसी स्थितिमें तो सरक्षण-कर स्पष्टतया हानिकारक हैं।

अन्तमें आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टिसे पिछड़ेहुए देशोंमें उद्योग धन्धोंको स्थापित करनेके लिए सरक्षण-करोंका प्रयोग आवश्यक माना जाताहै विशेषकर ऐसे उद्योग धन्धोंका उनके शैशवकालमें तो सरक्षण होनाही चाहिए, कारणकि ससारके बहुतसे देशोंकी औद्योगिक उन्नति केवल इस बातपर निर्भर है कि उन्होंने उद्योग-धन्धे स्थापित करनेका कार्य सर्वप्रथम आरम्भ करलिया था और इसकारण उत्पादन-कार्यमें अन्य देशोंसे अधिक कुशलता प्राप्त करली है। ऐसाभी होसकता है कि अन्य देशोंके पास उन्हीं वस्तुओंक उत्पन्न करनेके लिए अधिक साधनहों परन्तु उन साधनोंका यथेष्ट प्रयोग इसलिए न होपाता हो क्योकि उन साधनोंके प्रयोगके लिए स्थापित उद्योग धन्धो द्वारा उत्पन्न कीहुई वस्तुओंपर आरम्भमें पुराने चिरकालसे स्थापित उद्योग धन्धों द्वारा उत्पन्न कीहुई विदेशी वस्तुओंसे अधिक उत्पादन व्यय पड़ता है। इसकारण उन्मुक्त व्यापारके होनेसे ऐसे उद्योग धन्धोंको स्थापित करना असम्भव होजाता है। ऐसे उद्योग धन्धोंको विदेशी प्रतिस्पर्धासे कुछ कालके लिए सुरक्षित रखना अनिवार्य समझा जाताहै। इस दशामें भी सरक्षण केवल ऐसे उद्योग-धन्धोंको ही देना चाहिए जो प्रौढ़ अवस्था प्राप्त करनेपर अपने पैरोंपर खड़े होनेकी क्षमता प्राप्त करलेंगे। ऐसा कहाजाताहै कि एकबार सरक्षण प्रदान करनेपर ये शिशु उद्योग धन्धे कभीभी प्रौढ़ नहीं होपाते। इनका शैशवकाल बढ़ताही चलाजाता है और एकबार लगाए सरक्षण-करोंका राजनीतिक तथा अन्य कारणोंसे हटाना कठिन होजाता है। अस्थायी रूपमें नियुक्त कियेगये सरक्षण-करोंका स्थायी रूपमें परि-

वर्तित करना अनिवार्यसा होजाता है, क्योंकि यदि उद्योग धन्धोंकी कुछ संस्थाएं संरक्षण करोंका आश्रय लिए बिनाही जीवित रहनेकी क्षमता प्राप्त करलेती हैं तो बहुतसी ऐसी संस्थाएभी संरक्षणके कारण स्थापित होजाती हैं जिनके संरक्षणके हटानेही नष्ट होजानेकी सम्भावना है। इसकारण उनके व्यवस्थापक संरक्षणके हटानेका सदैव विरोध करते हैं। संरक्षण-करोंके विरुद्ध इन युक्तियोंमें भलेही सत्य हो और सत्यहै भी परन्तु पिछड़ेहुए देशोंकी औद्योगिक उन्नतिभी तबतक सम्भव नही जबतक उनमें स्थापित उद्योग धन्धोंकी शैशव अवस्थामें भलीप्रकार रक्षा न कीजाये। इसकारण औद्योगिक दृष्टिसे उन्नत देशोंमें उन्मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना भलेही आवश्यकहो परन्तु कम उन्नत देशोंको उस समयतक संरक्षण करों की शरण लेनीही पड़ेगी जबतक वेभी औद्योगिक दृष्टिसे उतनेही उन्नत नही हो जाते जितनेकि उनके प्रतिस्पर्धी अन्य देश।

संरक्षण और डम्पिग

संरक्षणके विरुद्ध अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंके अनुसार इतनी कड़ी आलोचना कीजाने परभी आधुनिक संसारमें कोई विरलाही देश ऐसा होगा जिसने संरक्षणकी नीतिको न अपनायाहो। इस नीतिके अपनानेसे एक आर्थिक घटनाका प्रादुर्भाव हुआहै जिसने संरक्षणकी नीतिको औरभी परिपुष्ट होनेमें सहायता दीहै। इस घटनाको अंग्रेज़ीमें डम्पिग कहते है। इसकी परिभाषा कई प्रकारसे कीजाती है। जबकि किसी सुरक्षित उद्योग धन्धेमें उत्पत्तिकी मात्रा इतनी अधिक होजाती है कि उसकी खपत देशमें नही होपाती तोशेष मात्राको बेचनेके लिए उत्पादक लोग उस वस्तुको विदेशी बाजारों में उस मूल्यपर बेचना स्वीकार करलेते हैं जो भाड़ा इत्यादिकी गणना करलेनेके बादभी देशमें उसी वस्तुके प्रचलित मूल्यसे कम होता है। डम्पिगकी दूसरी परिभाषा इसप्रकार कीगई है कि विदेशी बाजारोंमें उस वस्तुको उसके उत्पादन-व्यय से भी कम मूल्यपर बेचाजाता है और इस मूल्यपर बेचनेसे होनेवाली हानिको स्वदेशी बाजारमें अधिक मूल्यपर बेचनेसे होनेवाले लाभ द्वारा पूरा कियाजाता है। डम्पिग, संरक्षण-नीतिकी पुष्टि दो प्रकारसे करता है। एक जिस देशमें वस्तुओंका इसप्रकार निर्यात किया जाताहै उस देशके उत्पादक अपने उद्योग धन्धोंकी इस अनु-

चित प्रतिस्पर्धासे रक्षा प्राप्त करनेके लिए सरक्षण-करोका लगायाजाना आवश्यक समझते हैं। दूसरे निर्यात करनेवाला देशभी इस भयसे कि विदेशी बाजारमें सस्ते मूल्यपर बिकीहुई वस्तु दुबारा स्वदेशमें न लौटआये, उस वस्तुके आयातपर सरक्षण-कर लगादेते हैं।

इस सम्बन्धमें इतना कहदेना आवश्यक न होगा कि डम्पिंगकी नीतिका अनुसरण उससमय तक नही किया जासकता जबतक स्वदेशमें उस वस्तुके उत्पादकोंको उसके उत्पादनका एकाधिकार प्राप्त न हो क्योकि पूर्णप्रतिस्पर्धाकी स्थितिमें सब मूल्य माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होगें और इसकारण उत्पादक स्वदेशमें वस्तुका मनमाना मूल्य लेनेमें असमर्थ रहेंगे। एकाधिकार केवल उसीसमय प्राप्त नही होता जबकि उस वस्तुको उत्पन्न करनेवाला एकही उत्पादक हो। ऐसाभी होसकता है कि बहुतसे उत्पादक मिलकर उस वस्तुको निश्चित मूल्यसे कम मूल्यपर न बेचने का समनुबन्ध करलें अथवा उस वस्तुकी निश्चित मात्रासे अधिक उत्पत्ति करनेपर प्रतिबन्ध लगालें।

निर्यात और आर्थिक सहायता

कभी कभी कई देशोंकी सरकारें अपने देशकी औद्योगिक उन्नतिके हित वस्तुओंके निर्यातपर आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इसके कारण उत्पत्ति तथा निर्यात की मात्रामें वृद्धि होती है। अधिक निर्यातके कारण विदेशी बाजारमें वस्तुका मूल्य कम होजाता है और देशी बाजारमें बढजाता है। इस प्रकारकी आर्थिक सहायता और सरक्षण-करो द्वारा दीगयी सहायतामें कोई विशेष अन्तर नही। उन के सब गुण और दोष इस प्रकारकी सहायतामें भी विद्यमान है।

अन्तमें हमें यहभी उल्लेख करदेना चाहिए कि डम्पिग अथवा निर्यातके लिए दीगयी आर्थिक सहायताके प्रतिकारके रूपमें सरक्षण-कराका लगाना आर्थिक दृष्टि से उचित नही क्योकि साधारणतया इन करोंद्वारा आयात होनेवाली वस्तुओंका रोकना सम्भव नही जबतक कि करोंके परिमाण ही अत्यन्त अधिक न करदिये जायें। परन्तु प्रत्येक स्थितिमें सरक्षण-करो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजनको धक्का लगनेकी सम्भावनाहै जिसके कारण वस्तुओंकी उत्पत्तिकी मात्रामें कमी होनेसे प्रत्येक

देशको हानि होना निश्चित है। सम्भवहै कि किसी विशेष स्थितिका मुलभाव सरक्षण-करो द्वारा होसकता हो परन्तु कौन जानताहै कि इनके दुरुपयोगके कारण लाभके स्थानपर हानि हो।

व्यापारिक समनुबन्ध

अर्थशास्त्रकी परिभाषामें व्यापारिक समनुबन्धसे हमारा अभिप्राय उन समनुबन्धोंसे हैं जो आयात-निर्यात-करोंमे सम्बन्ध रखते हो। इस प्रकारके समनुबन्धोंमें केवल दो अथवा दो से अधिक देश अपने आपको समनुबद्ध करसकते है। इस प्रकारके समनुबन्धोंमें एक *धारा प्राय: ऐसी पायीजाती है जिसके द्वारा यह निश्चित करदिया जाता* है कि दोनो देश परस्पर एक दूसरेसे कैसा व्यवहार करेंगे। विशेषकर तीन प्रकार की धाराए इस व्यवहारको सुनिश्चित करनेके लिए काममें लायीजाती है। समता की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियो और वस्तुओंसे उसी प्रकारका व्यवहार करेंगे जो वे अपने देशके निवासियो और वस्तुओंसे करते है। 'जैसी लेनी वैसी देनी' की धाराके अनुसार यह निश्चित करदिया जाताहै कि प्रत्येक देश दूसरे देशके निवासियों और वस्तुओंसे उसीप्रकार का व्यवहार करगा जैसाकि दूसरा देश पहिले देशके निवासियो और वस्तुओंसे करता है। श्रेष्ठतम व्यवहार किये जानेवाले राष्ट्रकी धाराके अनुसार समनुबद्ध देश परस्पर उससे बुरा व्यवहार नही करसकते जो वे किसी अन्य देशसे कररहे हैं।

साम्राजिक वरीयता से हमारा अभिप्राय उन व्यापारिक समनुबन्धोंसे है जो ब्रिटेन तथा उसके उपनिवेशोंको परस्पर समनुबद्ध करते थे। इन समनुबन्धो द्वारा साम्राज्यके भीतरही उत्पन्न कीगयी वस्तुओंके आयातपर साम्राज्यके बाहरसे आनेवाली वस्तुओंसे कम कर लगाया जाताथा। ओटावा में कीगयी १६३२ की भारी साम्राज्य-सभामें इस प्रकारके साम्राजीय पक्षपात दिखानेकी प्रथाको भलीप्रकार *पुष्ट कियागया था। इसी सभामें भाग लेकर भारतने साम्राजीय पक्षपातके सिद्धान्त* को स्वीकार किया था।

३०

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष

आर्थिक प्रगति

पहिले अध्यायमें हमने बताया था कि हमारे सभी प्रकारके आर्थिक कार्योंका चरम लक्ष्य समाजके आर्थिक क्षेममें वृद्धि करना है। प्रत्येक मनुष्य, कुटुम्ब अथवा समाज इस बातके लिए प्रयत्नशील रहता है कि वह अपने साधनोंकी वृद्धि करे और उन साधनोंका इस प्रकारसे उपयोग करे कि उसको न्यूनतम लागत-व्ययसे अधिकतम वस्तुए प्राप्त हो सकें। आर्थिक क्षेममें वृद्धि प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक साधनोंकी पूर्ण-नियुक्ति बनी रहे और इस पूर्ण-नियुक्तिके फलस्वरूप जिन वस्तुओं और सेवाओंकी उत्पत्ति होती है, उनका समुचित वितरण हो।

आर्थिक दृष्टिकोणसे हम उस देशको प्रगतिशील कहते हैं जिसमें जन-संख्याके साथ साथ उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होती हो; उत्पत्तिकी क्रिया इसप्रकार की हो कि किसी दियेगय परिमाणकी वस्तुओंको बनानेमें उत्पादन-व्ययकी मात्रा कम होती रहे अथवा दियेगय साधनोंसे उत्पत्तिके परिमाणमें वृद्धि होती रहे; वस्तुओं और सेवाओंका स्वरूप उत्कृष्ट होता रहे; जीवन-स्तरमें वृद्धि होती रहे और लोगोंको भौतिक सुख और क्षेम प्राप्त करनेके लिए स्वास्थ्य और अवकाश मिलता रहे। गत १५० वर्षोंके आर्थिक इतिहाससे पता चलता है कि इस कालावधिमें अनेक पाश्चात्य देशोंमें आर्थिक प्रगति बहुत वेगपूर्वक हुई है। इस प्रगतिका सूत्रपात अठारहवी शताब्दीके दूसरे भागमें इगलैंडकी औद्योगिक क्रान्तिसे हुआ। प्रगतिका मुख्य कारण शिल्प कला विज्ञानकी उन्नति है। इस कालमें बहुतसे नये नये आविष्कार हुए। मशीन, वाष्प-शक्ति और विद्युत्-शक्तिके प्रयोगसे उत्पादन-क्रियामें बहुत वृद्धि हुई। श्रम-विभाग और विशिष्टीकरणको प्रोत्साहन मिला। सड़कें, नहरें, मोटर, रेल, जहाज इत्यादि यातायातके साधनोंमें भी वृद्धि हुई। साख और बेंकके

प्रयोगसे और मिश्रित पूजीवादी कम्पनियोंके स्थापनसे उत्पत्ति और व्यापार प्रोत्साहित हुए। सबसे बडी बात यहहुई कि पूजीके सचय और उसके लगावमें बहुत वृद्धि हुई। बिना पूजीकी वृद्धिके आर्थिक प्रगति असम्भव है। भैषज्य और शल्य चिकित्सा और स्वास्थ्य विद्याकी वृद्धिसे रोग और मृत्यु सख्यामें कमी हुई और आयुमान में वृद्धि हुई।

आर्थिक प्रगति ससारके सभी देशोंमें समान रूपसे नहीं हुई। अनेक देश अभीतक बहुत पिछड़े हुए हैं। वहा जीवन स्तर बहुत नीचा है। मुख्य धन्धा खेती है जो कि पुराने ढगपर ही कीजाती है। बचत और पूजीका लगाव बहुतही कम परिमाणमें है। औद्योगिक कला विज्ञान पिछडा हुआ है। जापानको छोडकर एशियाके सभी देशोंकी स्थिति इसीप्रकार की है। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिकामें भी इसप्रकार के अनेक देश है। परन्तु शनै शनै इन सभी देशोंका कम या अधिक मात्रामें उद्योगीकरण होरहा है और प्रगतिशील देशोंके आविष्कारोंसे लाभ उठानेकी प्रवृत्ति होरही है। इसके प्रतिकूल कुछ देशोंमें जहा पिछले सौ डेढसौ वर्षोंमें बड़े वेगके साथ और बडी मात्रामें उद्योगीकरण का विकास और विस्तार हुआ, कुछ शिथिलताके आभास का अनुमान किया जाता है। कुछ लोगोंका विचारहै कि इन देशोंमें आर्थिक विकास चरमावस्थामें पहुँच चुका है। जन सख्याकी वृद्धि रुकगयी है। रेल जहाज बिजली के सामानके आविष्कारोंकी सम्भावना कम है। पिछडेहुए देशोंमें उद्योगीकरण के कारण मशीनोंसे बनीहुई वस्तुओंके निर्यात व्यापारमें भी कमी आनेकी सम्भावना है। इन सभी कारणोंसे कुछ अर्थशास्त्री इस परिणामपर पहुचेहैं कि सयुक्त राज्य जैसे देशोंमें अब आर्थिक प्रगतिमें मन्दी आनेकी आशका है। इस प्रकरणमें हम इस *विवादपूर्ण विषयका विवेचन नहीं कररहे कि क्या वास्तवमें कुछ देशोंमें इसप्रकार* की परिस्थिति उत्पन्न होगयीहै कि वहां बचतके परिमाणका पूर्णरूपसे पूजीके रूपमें लगानेकी सम्भावना नहीं रहगयी है। हमारा अभिप्राय केवल इतनाही बतलानाहै कि कुछ पाश्चात्य देशोंमें आर्थिक प्रगति बड़े वेगसे हुई है।

आर्थिक चक्र

परन्तु इस प्रकारकी आर्थिक प्रगति अविरत तथा अविरोध रूपसे नहीं हुई है। समय

समयपर इसमें व्याघात हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ कालतक आर्थिक विकासमें वृद्धि होतीजाती है। पूजीके लगावमें वृद्धि होतीहै, आयमें, उत्पत्ति और नियोगकी मात्रामें भी वृद्धि होती रहती है। परन्तु सहसा इस क्रममें कुछ विघ्न उपस्थित होजाते है। आर्थिक अवयवोमें कुछ ऐसी विकृतिया उत्पन्न होजाती है कि उत्पादक वर्गाको पूजीके लगावकी मात्रा कम करनी पड जातीहै जिसके फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनामें बेकारी फैलने लगतीहै; आय और उत्पत्तिके परिमाणमें कमी आने लगतीहै और आर्थिक कार्य-स्तरमें शिथिलता आजाती है। कुछ कालके बाद शनै शनैः पुन परिस्थिति बदलती है। पूजीके लगावके कार्यको फिरसे प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पत्तिके साधनाकी माग और उनकी आयमें वृद्धि होने लगती है। इसप्रकार से आर्थिक उत्कर्ष होने लगता ह। परन्तु दुर्भाग्यवश इस उत्कर्षके अन्तर्गत कुछ इसप्रकार की विषमताए उत्पन्न होजाती है कि उत्कर्षका अन्त होजाता है और फिर अपकर्षका समावेश होजाता है। इसप्रकार हम देखतेहै कि आर्थिक प्रगतिमें उत्कर्षके बाद अपकर्ष और अपकर्षके बाद उत्कर्ष और पुन. अपकर्ष लहरोंके सदृश आते जाते रहते है। इस लहरके समान ऊपर नीचे उठने और गिरनेकी आर्थिक गति को हम आर्थिक चक्र कहेंगे। गत २०० वर्षोंकी आर्थिक प्रगतिमें इसप्रकार के आर्थिक चक्र विशेषकर अधिक औद्योगिक देशोंमें स्पष्ट रूपसे अनुभव हुए है। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीहै कि २०० वर्ष पूर्वकी आर्थिक पद्धतिमें किसी प्रकारके सकट नही आये अथवा कम औद्योगिक देशोंमें आर्थिक सकट कम मात्रामें आते है। प्राचीन कालके आर्थिक सकट आधुनिक आर्थिक सकटासे भिन्न प्रकारके थे और उनके कारण सुबोध होतेथे। भूकम्प, बाढ, दुर्भिक्ष, युद्ध इत्यादि कारणोसे ही प्राचीन कालके आर्थिक सकट सम्बन्धित है। ये कारण स्पष्ट प्रतीत होजाते है। हमारे शास्त्रोंने छै प्रकारके सकटोका वर्णन किया है।

अति वृष्टिर्नावृष्ट. मूषका शलभा: शुका:।
प्रत्यासन्नाश्च राजान: षडेतारीतय: स्मृता:।।

अर्थात् बहुत वर्षा जिसके कारण बाढ आजाती है; वर्षाका बिलकुल न होना अर्थात् सूखा पडना जिससे दुर्भिक्ष होजाता है; टिड्डीदल, तोते जो कि फसल पेड पौधोंको हानि पहुचातेहै और राजाओंका निकट होना जिससे युद्धकी आशका रहतीहै ये छै सकट बताये गये है।

परन्तु आधुनिक कालके आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके कारण बाहरसे नही परन्तु आर्थिक-प्रगतिके अन्तर्गतही उत्पन्न होते रहते हैं। आर्थिक अवयवोंके सम्बन्धोमें स्वयमेव कुछ इसप्रकार की विषमता का प्रादुर्भाव होजाता है जिससे कि आर्थिक अस्थिरता कभी उत्कर्ष और कभी अपकर्ष बनी रहती है। ऐसा प्रतीत होताहै कि पूजीवादी आर्थिक पद्धति, जिसका चलन लाभकी आशापर केन्द्रित रहता है, के अन्तर्गत ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न होजातीहैं कि आर्थिक सकट अनिवार्यसा होजाता है। १९२९-१९३३ का विश्वव्यापी सकट इतना उग्र हुआकि अर्थशास्त्रियोका ध्यान विशेष रूपसे इसके विश्लेपणकी ओर आकृष्ट हुआ। गत १५-२० वर्षोंमें इस विषयपर बहुत खोजपूर्ण कार्य हुआ है।

वैसेतो आर्थिक प्रगतिमें छोटी बड़ी अनेक प्रकारकी लहरें पायीगयी हैं परन्तु जिन लहरोंको अधिक महत्व प्राप्तहै उनकी अवधि ७ वर्षसे ११ वर्षतक है अर्थात् इस अवधिके भीतर एक आर्थिक चक्र पूरा होजाता है। आर्थिक चक्रका एक प्रति-रूप नीचे दिया जाता है
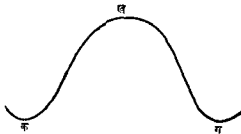
क स्थानसे ग स्थान तक पहुचनेपर एक आर्थिक चक्र पूरा होता है।

आर्थिक चक्रको चार भागोमें विभक्त कियाजाता है:

(१) उत्थान

(२) उत्कर्ष

(३) अपकर्ष

(४) गर्त

आर्थिक चक्र गर्तसे निकलकर उत्थानके पथपर आरूढ होता है। उत्थानमें प्रगति उत्पन्न होनलगती है और आर्थिक क्रियाओंमें उत्कर्ष व्याप्त होजाता है।

कुछ समयके बाद उत्कर्षका अन्त होजाता है और अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है जोकि बढते बढते आर्थिक व्यवस्थाको गर्तमें पटक देता है। फिर धीरे धीरे आर्थिक चक्र गर्तमे निकलकर उत्थानकी ओर अग्रसर होताहै और फिर पूर्ववत वही क्रम चलता रहता है। अतएव इस विषयके विवेचनमें इसी समस्याका समाधान करना पडता है कि क्या कारणहैं कि आर्थिक क्रियाएं क्रमश: इन चारों परिस्थितियों में चक्कर लगाती हुई अग्रसर होती हैं।

आर्थिक अवस्थामें इसप्रकार का परिवर्तन अनेक अवयवोंमें दृष्टिगोचर होता है। इस विषयसे सम्बन्धित, उत्पत्ति, आय और नियोग, मुख्य तीन अवयव हैं जिनके आकडोंसे भी चक्रवत् परिवर्तन का बोध होता है उत्कर्ष कालमें आर्थिक साधनोंको अधिक काम मिलताहै अतएव नियोगके परिमाणमें वृद्धि होती है। उत्पत्तिके परिमाण में भी वृद्धि होतीहै और आयभी बढती है। ये तीनो अवयव एक दूसरेसे सलग्न हैं। कुछ अर्थशास्त्रियोंके मतानुसार नियोगके आकडासे आर्थिक अवस्थाका निरूपण ठीक प्रकारसे होसकता है। अपकर्षकी अवस्थामें आर्थिक साधनोंमें बेकारी प्रारम्भ होनेलगती है और गर्तकी अवस्थामें बेकारी चरम सीमापर पहुचजाती है।

बेकारी

इस प्रकरणमें हम बेकारीके विषयमें पाठकाका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित करना चाहते हैं विशेषकर श्रमजीवियोंकी उस बेकारीकी ओर जिसका परिमाण १९२९-१९३३ के आर्थिक सकटके कालमें सयुक्त राज्य, इगलेंड इत्यादि औद्योगिक देशोंमें बहुत बढगया था। वैसेतो बेकारी अनेक कारणोंसे उत्पन्न होजाती है। यहापर हम यहभी लिखदेना चाहतेहं कि बच्चे, बूढे, अपाहिज और जो उद्यम करनाही न चाहते हों इसप्रकार के लोगोंके सम्बन्धमें बेकारीका प्रश्न उत्पन्न ही नही होता है। वे लोग बेकार समझे जातेहैं जो उद्यम करनेको उद्यतहै परन्तु उनको कामही न मिलरहा हो।

कुछ इस प्रकारके उद्योग धन्धे होतेहै जिनको 'मौसमी' कहा जासकता है। उदाहरणके लिए भारतवर्षमें चीनीके कारखानोंमें काम करनेवाले श्रमजीवियोंको साधारणत: नवम्बरसे मईके महीनेतक काम रहता है। उसके बाद वे बेकार हो

जाते हैं। परन्तु इस प्रकारकी बेकारीका पूर्व ज्ञान रहता है अतएव इसका प्रबन्ध किया जामकता है। फैशन और रुचिमें परिवर्तन होनेसे भी कुछ व्यवसायोंमें अवनति होजाती है और बेकारी आजाती है। परन्तु आशाकी जातीहै कि नये उद्योग-धन्धोंमें काम बढ जानेसे कुल बकारीमें वृद्धि नही होगी। इसीप्रकार श्रम-निवारक मशीनोंके प्रयोगसे और उद्योग धन्धोंके वैज्ञानीकरणसे भी बेकारी होजाती है। इस सम्बन्धमें भी यह आशा कीजानीहै कि यह बेकारी दीर्घकालिक नही होगी। पहिले जिन उद्योग धन्धोंमें मशीनोंका प्रयोग हुआहो अथवा वैज्ञानीकरण हुआ हो उनमें उत्पादक-व्ययमें कमी होनेके कारण मूल्यमें भी कमी आनेकी प्रवृत्ति होगी और इसके फलस्वरूप मागमें वृद्धि होनेसे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी जिससे अधिक श्रमजीवियोंकी भी नियुक्ति होगी। यदि इन वस्तुओंकी मागमें पर्याप्त वृद्धि न भी हो तबभी मूल्यमें कमीके कारण उपभोक्ताओंकी जो वचत होगी उसको वे वस्तुओंमें व्यय करेंगे जिससे उन उद्योग धन्धोंमें वृद्धि होगी और श्रमजीवियों कोभी काम मिलेगा। इसप्रकार बेकारी की मात्रामें कमी होजायगी। इन कारणों के अतिरिक्त श्रमजीवियोंके हडताल करने और मिल-मालिकोंके द्वारतालसे भी अल्पकालिक वकारी उत्पन्न होजाती है।

पूर्वोक्त कारणोंसे जो बेकारी उत्पन्न होजाती है उसकी तुलनामें आर्थिक अपकर्ष और मन्दीसे जनित बेकारी कही अधिक भीषण समझी जातीहै इसका कारण यहहै कि इसप्रकार की बकारीका परिमाण बहुत अधिक रहता है। संयुक्त राज्यमें १९२९-१९३३ के अपकर्ष कालमें लगभग २५ प्रतिशत श्रमजीवी बेकार होगये थे। यह बेकारी पूंजीवादसे सलग्न आर्थिक-चक्रका परिणामस्वरूप है। अतएव इसको दूर करनेकी समस्याभी बहुत कठिन है। जिन उपायोंसे आर्थिक अपकर्षकी गरिमा को घटाया जामकेगा और आर्थिक क्रियाओंके स्तरको सन्तुलित रूपसे उठाया जायगा उन्ही उपायोंसे इसप्रकार की बेकारी भी कमकी जासकेगी।

हमने बताया कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्बन्धमें उत्पत्ति, आय और नियोगके आकडोंका प्रयोग कियाजाता है। इन प्रधान आर्थिक अवयवोंके अतिरिक्त औरभी अवयवहै जो उत्कर्ष और अपकर्षके साथ प्रभावित होते रहतेहैं और इनके आकडेभी इस विषयपर प्रकाश डालते हैं। इनमें मुख्य द्रव्यका विशेषकर साख-द्रव्यका परिमाण, मूल्य-स्तर, ब्याजकी दर और लाभकी दर है।

आर्थिक चक्र के सिद्धान्त

आर्थिक चक्र एक गहन और गूढ़ विषय है। इसके अन्तर्गत सभी आर्थिक अवयवों के परिमाण और सम्बन्धमें परिवर्तन होता रहता है। अतएव इसका कोई एकही कारण नहीं हो सकता है। जिन अर्थशास्त्रियोंने इस विषयकी गवेषणाकी है वह सभी इस विचारसे सहमत हैं कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको किसी एक वस्तु-स्थिति द्वारा समझाया नहीं जा सकता है। इसका सृजन अनेक कारणोंसे सम्बन्धित है जिनमेंसे कुछ आर्थिक हैं, कुछ क्रियाशील हैं और कुछ निष्क्रिय; कुछ नियन्त्रण-साध्य हैं और कुछ नियन्त्रणमें नहीं लाये जा सकते हैं। अतएव यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि आर्थिक चक्रको समझानेके लिए अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। इन सिद्धान्तोंके अनुयायी अपने अपने दृष्टिकोणको अधिक महत्व देते हैं। अपने प्रतिपादित कारणको प्रधान और अन्य कारणोंको गौण समझते हैं। इस पुस्तकमें हम इन भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंकी विस्तृत विवेचना करनेमें असमर्थ हैं। केवल मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंकी मूल बातोंको पाठकोंके सामने रखनेका प्रयत्न किया गया है।

कृषि-सिद्धान्त

आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेके लिए एक पुराना मत खेतोंकी उत्पत्तिके परिमाणसे सम्बन्धित है। कहा जाता है कि सब उद्योग धन्धोंका आधार खेतोंसे उत्पन्न हुआ शस्य और कच्चा माल है। अतएव जब खेतोंसे होनेवाली उत्पत्तिमें वृद्धि होती है तो इससे आर्थिक उत्कर्ष होता है और जब खेतोंकी उत्पत्तिमें कमी आ जाती है तो आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ हो जाता है। खेतोंकी उत्पत्तिके परिमाणमें परिवर्तन होनेका मुख्य कारण वृष्टिके परिमाणमें परिवर्तन होना है। इंगलैंडके प्रोफेसर जेवन्स का कहना है कि सूर्यके तापमें परिवर्तन होता है और यह चक्र १०-११ वर्षमें पूरा होता है अर्थात् १०-११ वर्षकी अवधिके अन्तर्गत सूर्यके तापकी तीव्रता और मन्दीके काल क्रमसे आते रहते हैं। आर्थिक-चक्रकी औसत अवधि भी इसी परिमाणकी समझी जाती है। सूर्यके तापका प्रभाव वृष्टिके परिमाणपर पड़ता है।

जब सूर्यके तापमें प्रखरता रहती है तो प्रचुर मात्रामें वृष्टि होती है और शस्योकी वृद्धि होती है। सूर्यके तापमें मन्दी आनेपर वृष्टि कम होतीहै और खेतोकी पैदावार भी घट जाती है। अमेरिकाके प्रोफेसर मूर नेभी मौसमके प्रभावसे खेती और खेतीके प्रभावसे आर्थिक चक्रको समझानेका प्रयत्न किया है।

खेतीका आर्थिक परिस्थितिमें विशिष्ट स्थान है, यह मानना पडता है। परन्तु जब हम आधुनिक आर्थिक विकासको ध्यानमें रखते हुए सयुक्त राज्य, इगलैंड इत्यादि औद्योगिक देशोंके उत्कर्ष और अपकर्षके कालकी आर्थिक परिस्थितिकी छानबीन करतेहैं तो इनकी खेतोकी उपजमें परिवर्तनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं दिखायी देता है। एक बात तो यहहै कि जिस प्रकारका स्पष्ट आर्थिक चक्र अन्य उद्योग धन्धोंमें पायाजाता है, उसप्रकार का खेतीकी उपजमें नही पायाजाता है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक देशोंमें जहा आर्थिक चक्रमें अधिक तीव्रता देखीगयी है वहा कृषिका महत्व घटता जारहा है। उदाहरणके लिए सयुक्त राज्यमें कृषिकी उपज कुल उपजका केवल दसवा भाग है। इसके साथ साथ सिचाईके साधनोंकी वृद्धिके कारण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारकी वृद्धिके कारण और शस्योंको सुरक्षित रखनेके प्रबन्धमें उन्नतिके कारणभी आधुनिक कालमें कृषिकी उपजमें अधिक परिवर्तन नहीं होने पाता है।

वास्तवमें ऐसा प्रतीत होताहै कि जब अन्य उद्योग धन्धोमें समृद्धि रहतीहै तो कृषिकी उपजकी मागकी वृद्धिसे इस व्यवसायमें भी समृद्धि आनेकी प्रवृत्ति होतीहै और जब अन्य उद्योग धन्धोंमें शिथिलता आजाती है तो कृषिकी उपजकी मागके घट जानेसे इस व्यवसायमें भी मन्दी आनेकी आशका रहती है। यदि कृषिकी उपज में वृद्धि ऐसे कालमें हुईहो जबकि अन्य उद्योग धन्धोंमें अवसाद छाया हुआ हो तो इस वृद्धिसे कृषिकी उपजका मूल्य-स्तर औरभी नीचे गिरने लगता है। अतएव हम इस परिणामपर पहुचतेहैं कि कृषिकी उपजके परिमाणमें परिवर्तनका प्रभाव अन्य आर्थिक क्षेत्रोकी परिस्थितिपर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षके सम्बन्धमें मनोवैज्ञानिक कारणोको

अधिक महत्व देते हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मनोवैज्ञानिक कारण स्वतन्त्र कारण हैं परन्तु इसका कहना है कि इन कारणोंको उतना महत्व नहीं दिया जाता है जितना दिया जाना चाहिए।

आर्थिक क्षेत्रमें मनोवैज्ञानिक परिस्थितियोंका समावेश आशा, निराशा, आकांक्षा इसप्रकार की प्रतिक्रियाओंके रूपमें होता है। आधुनिक कालमें पूंजीका मशीन इत्यादि चिरस्थायी उपकरणोंमें लगाव और उनसे प्राप्त होनेवाली आयके बीच समयका अधिक मात्रामें अन्तर होता है। इसकारण आर्थिक कार्योंमें अनिश्चितता और सट्टाका समावेश होगया है। इसका परिणाम यह होता है कि इन कार्योंमें दृष्टिगोचर कारणोंकी क्रिया और प्रतिक्रियामें स्थिरता नहीं रहती है जितनी अन्य प्रकारके आर्थिक कार्यों में। कभी कभी उत्पादकवर्ग आवश्यकतासे अधिक आशा-वादी हो उठता है और कभी बहुत निराशावादी। उत्कर्षका सम्बन्ध आशा और अपकर्षका निराशासे किया जाता है। इस प्रकरणमें प्रोफेसर पीगू का कहना है कि उत्कर्ष कालमें आशाजनित भूलें और अपकर्ष कालमें निराशाजनित भूलें हुआ करती हैं। इन भूलोंके कारण आर्थिक परिस्थितियोंके औचित्यके हिसाबसे कभी तो पूंजीका लगाव बहुत अधिक मात्रामें और कभी बहुतही सकुंचित मात्रामें किया जाता है जिससे फलस्वरूप आर्थिक परिस्थिति असन्तुलित होजाती है।

इस संक्षिप्त रूपमें व्यापारचक्र मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तका आर्थिक चक्र समझने और समझानेमें इसका उपयुक्त स्थान देना पड़ता है और किसीभी अर्थशास्त्रीने इस सिद्धान्तका नगण्य नहीं समझा है। जितना विषय मनुष्यसे सम्बन्धित है उनमें मानसिक क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं और मनोवृत्तियोंका समावेश अवश्यही रहेगा। परन्तु ये मनोवृत्तियां समस्याके मूलतक नहीं पहुंचती हैं। यदि उत्पादकोंमें नैराश्य छाया हुआ है तो उसका कोई न कोई कारण अवश्यही होना चाहिए। इसीप्रकार आशा का संचार होनेके लिए भी मनसे बाहर कोई कारण होना चाहिए। इन मूल कारणों को छोड़कर स्वतन्त्र रूपसे मानसिक प्रतिक्रियाओंको इतना स्थान नहीं दिया जा सकता है। हां इस बातको मान लेना पड़ता है कि प्रतिक्रियाकी उग्रता औचित्यकी सीमाको लांघ गयी हो जिसके कारण आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षमें अधिक तीव्रता उत्पन्न होगयी हो।

द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्री जिनमें हौट्रे का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, द्रव्यके प्रसार और सकुचनसे आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षका सम्बन्ध स्थापित करते है। आधुनिक कालमें साख-द्रव्यकी प्रधानताके कारण और इसके परिमाणकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होजाती है। साख-द्रव्यके प्रसारसे आर्थिक उत्कर्षका सूत्रपात होता है। यदि बेक व्याजकी दरें कम करदें अथवा ऋण देनेकी शर्तोमें अधिक उदारता दिखायें तो साख-द्रव्यकी माग बढजायेगी क्योकि अपकर्षके गर्त की-अवस्थामें बेक ऋण-देनेको उत्सुक रहते है। हौट्रेके मतमें व्यापारी वर्गको ब्याजकी दरमें थोडीभी कमी होनेसे वस्तुओके सचयमें वृद्धि करनेकी प्रवृत्ति होती है। जब वह नये साख-द्रव्य द्वारा वस्तुओको मोल लेताहै तो यह द्रव्य उपभोक्ताओ की आयके रूपमें प्रकटहोता है। उपभोक्ताओको आयमें वृद्धि होनेके कारण उनके व्ययमें भी वृद्धि होने लगतीहै जिसके फलस्वरूप वस्तुओकी मागमें वृद्धि होनेलगती है और मूल्य-स्तरमें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होती है। मूल्य-स्तरमें वृद्धि होनेसे उत्पादकोको अधिक लाभ प्राप्त होताहै क्योकि उत्पादन-व्ययमें धीरे धीरे वृद्धि होती है। इस लाभकी वृद्धिके कारण पूजीके लगावमें भी वृद्धि होने लगतीहै और उत्पादक वस्तुओकी मागमें भी वृद्धि होती है। उत्पादक वर्ग बेकोसे अधिक परिमाणमें ऋण लेतेहै जिससे पुन: उपभोक्ताओके आय और व्ययमें वृद्धि होतीहै और पूजीके लगावको नया प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार आर्थिक उत्थानको अपनेही अन्तर्गत कारणोमे प्रगति प्राप्त होनेलगती है और उत्कर्षकी अवस्था प्राप्त होजाती है। जबतक बेक द्रव्यकी बढतीहुई मागको पूरा करते रहतेहै तबतक उत्कर्षकी अवस्था बढी रहती है।

इस सिद्धान्तके अनुसार ज्योंही बेक साख-द्रव्यके प्रसारमें कमी करने लगतेहैं वैसेही अपकर्षका सूत्रपात होजाता है। अब प्रश्न यहहै कि जैसे जैसे साख द्रव्यमें वृद्धि होती रहतीहै, बेककी नक्दी का अनुपात कम होता रहताहै और यदि उनके नक्दीके कोषमें पर्याप्त मात्रामें वृद्धि न होसके तो एक समय आजायेगा जबकि उन को अपना हाथ रोकना पडेगा। इसके अतिरिक्त साख-द्रव्यकी वृद्धि और आर्थिक कार्य-स्तरकी प्रगतिके कारण समाजमें नकदीकी आवश्यकता भी बढ़नेलगती है।

साथही साथ केंद्रीय बैंकभी द्रव्य स्फीतिकी आशकासे अपनी द्रव्य-नीति द्वारा साख-द्रव्यका नियन्त्रण करनेकी चेष्टा करते हैं। स्वर्ण-द्रव्य-पद्धतिके अन्तर्गत केन्द्रीय बैंकोको इस प्रकारकी नीतिको कार्य रूपमें लाना आवश्यक होजाता था। साख-द्रव्यके प्रसारमें रोकथाम करनेके लिए बैंक ब्याजकी दरमें वृद्धि करदेते है और पुराने ऋणोके वापस होनेपर नया ऋण उससे कम परिमाणमें देते हैं। इसप्रकार साख द्रव्यका सकुचन प्रारम्भ होजाता है।

इस सकुचनसे आर्थिक अपकर्षभी प्रारम्भ होजाता है। व्यापारी बढीहुई ब्याज की दरपर अपने वस्तुओंके सचयको कम करने लगते है और सचित वस्तुओंको शीघ्रता से बचनेकी चेष्टा करते हैं। इससे उपभोक्ताओंकी आय और व्ययमें कमी आजाती है और विविध प्रकारकी वस्तुओंकी मागभी घटजाती है। मागके घटजाने पर मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी मात्रामें कमी आजाती है और सीमान्त उत्पादको को तो हानि उठानी पडती है। इसके फलस्वरूप पूजीके लगावमें कमी होजाती है और आर्थिक साधनोंमें बेकारी आनेसे उपभोक्ताओंके आय और व्ययमें पुन कमी होजाती है। इसप्रकार अपकर्ष आरम्भ होनेपर स्वयमेव वह गर्तकी ओर जाने लगता है। गर्तपर पहुचनेपर धीरे धीरे बैंक प्रकृतिस्थ होनेलगते हैं। पुराने ऋणो के वापस होनेसे और नये ऋणोंकी माग न होनेके कारण बैंकोंमें नकदीका परिमाण बढने लगताहै और वे ऋण देनेको उत्सुक होनेलगते हैं। अतएव वे ब्याजकी दर कम करतेहैं और ऋण देनेमें अधिक उदारता दिखाने लगते है। जब व्यापारी इस परिस्थितिका लाभ उठाने लगतेहैं तो पुन आर्थिक क्रियाओंके स्तरमें पूर्ववत उत्थान और प्रगतिका सचार होनेलगता है। हौट्रके मतानुसार यदि केन्द्रीय बैंक और अन्य व्यापारी बैंक अल्पार्थ द्रव्य-नीतिका प्रयोग करतेरहें तो कोई कारण नहीं है कि उत्पादक वर्ग विशेषत व्यापारी वर्ग इसका लाभ न उठाए।

यहबात सभीको मान्यहै कि वर्तमान आर्थिक प्रणालीमें द्रव्यको प्रमुख स्थान प्राप्तहै और द्रव्यकी अस्थिरताके कारण आर्थिक अस्थिरता उत्पन्न होसकती है। परन्तु आर्थिक-चक्रकी वास्तविकताका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेसे पताचलता है कि सभी आर्थिक अस्थिरताए द्रव्यजनित नही होती। द्रव्यका सुप्रबन्ध होनेपर ही इन अस्थिरताओंका अन्त नही होसकेगा। यह ठीकहै कि आर्थिक उत्कर्षकी वृद्धिके लिए द्रव्यका प्रसार आवश्यक है। परन्तु यदि उत्पादक वर्गको अपनी पूजीके लगाव

से लाभकी आशा न होतो वे केवल ब्याजकी दरमें कमीके कारणसे ही बैंकोसे अधिक मात्रामें साख-द्रव्यकी याचना नही करेंगे। अनुभवसे ज्ञात होताहै कि आर्थिक गर्त की अवस्थामें जबकि बैंक पर्याप्त मात्रामें ऋण देनेके योग्य रहतेहैं और केन्द्रीय बैंकभी अपनी ब्याजकी दर कम करके अथवा खुले हाटकी क्रियाओंसे आर्थिक क्षेत्र में द्रव्यके चलनमें वृद्धि करनेकी चेष्टा करता है उत्पादकवर्ग तबतक इस परिस्थितिसे लाभ उठानेकी चेष्टा नही करतेहैं, जबतक कि उनको पूजीके लगावसे लाभ होनेकी आशा न हो। यह आशा केवल ब्याजकी दरपर ही निर्भर नही रहती है। नये आविष्कार, नये बाजार, उत्पादन-व्ययमें कमी—इस प्रकारके वातावरणमें ही उत्पादकोंमें आशा और विश्वासका सचार होता है। यदि इस प्रकारका वातावरण न हो तो केवल साख-द्रव्यकी अधिक मात्रामें कम बाजारकी दरपर उपलब्ध करनेसे ही उत्थानका कार्य आरम्भ नही होगा। हौट्रेके मनमें अल्पकालीन ब्याजकी दरमें परिवर्तन करना पर्याप्त होताहै परन्तु अन्य अर्थशास्त्रियोके मतानुसार पूजीके लगाव का सम्बन्ध विशेष रूपसे दीर्घकालीन ब्याजकी दरसे होता है।

हायेक का सिद्धान्त

प्रोफसर हायेकने द्रव्य सम्बन्धी परिस्थितियो द्वारा वास्तविक आर्थिक परिस्थितियो का सम्बन्ध दर्शातेहुए यह बतलानेकी चेष्टाकी है कि वर्तमान साख-द्रव्य-पद्धतिकी विकृतियोके कारण पूजीका लगाव उत्कर्षकालमें असन्तुलित रूपसे बढताजाता है और एक ऐसी अवस्था आजाती है कि आर्थिक प्रगतिमें सकट आजाना अनिवार्य होजाता है। हायेकका कहनाहै कि साख-द्रव्यके प्रसारके आधारपर पूजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओके उत्पत्तिके परिमाणमें जो वृद्धि होतीहै वह वृद्धि स्थायी नही रहसकती है। स्थायी रूपसे पूजीके लगावकी वृद्धि स्वेच्छापूर्वक बचतके परिमाणपर निर्भर रहती है। यदि बैंकोकी ब्याजकी दर सन्तुलन ब्याजकी दर (अर्थात् वह दर जहापर ऋणकी माग बचतके परिमाणके बराबर रहतीहै) से कम रहतीहै तो इस प्रकारसे जो पूजीके लगावके कार्यको कृत्रिम उत्साह मिलताहै उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनोका प्रयोग उपभोगकी वस्तुओके निर्माणसे हटकर उत्पादक वस्तुओके निर्माणके कार्यमें होनेलगता है। इससे उपभोगकी वस्तुओके मूल्य-स्तर

में वृद्धि होनेके कारण उपभोक्ताओंको विवश होकर अपने उपभोगके परिमाणमें कमी करके उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके हेतु आर्थिक साधनाकी उपलब्ध करनेके लिए बाध्य होनापड़ता है। इस बलात्कारसे जो पूंजी वस्तुओंके निर्माणमें लगायी जातीहै उसके फलस्वरूप आर्थिक साधनाका भिन्न भिन्न अवयवोंमें वितरण विकृत होजाता है। इस प्रकारकी आर्थिक रचना स्थायी नहीं रहसकती है, उसपर संकट आना अनिवार्य होजाता है।

साख द्रव्यके आधारपर पूंजीके लगाव और उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके फल-स्वरूप जब उपभोक्ताओंके आय स्तरमें वृद्धि होनेवाली है तो उपभोगकी वस्तुओं की मांगमें वृद्धि होनेलगती है क्योंकि उपभोक्ता लोग पुनः अपने उपभोगकी वस्तुओंके परिमाणको उसी स्तरपर लाना चाहतेहैं जहांसे विवश होकर उनको उनसे वंचित होनापड़ा था। यहांपर एक विकट परिस्थिति उत्पन्न होजाती है। एक ओरतो *उत्पादक वस्तुओंके निर्माणके लिए आर्थिक साधनाकी मांग रहतीहै और दूसरी ओर* उपभोक्ताओंकी आयमें वृद्धि होजानेके कारण उपभोगके पदार्थोंकी मांगमें भी वृद्धि होजाती है और उनके निर्माणके लिएभी आर्थिक साधन चाहिए। आर्थिक साधन इतनी प्रशस्त मात्रामें नहीं प्राप्त होतेहैं कि दोनोंकी मांगें पूर्णरूपसे पूरी होसकें। हायकके मतानुसार इस परिस्थितिमें उत्पादक वस्तुओंके निमातागण उपभोगके *पदार्थोंको बनानेवाले उद्योग धन्धोंके पक्षमें आर्थिक साधनाको मुक्त करनेमें पड़ता है।* इसके दो प्रधान कारण है। एकतो यहकि उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेके कारण इनके उद्योग धन्धोंमें लाभकी वृद्धि होनेलगती है जिसके कारण यह आर्थिक साधनाको अधिक मूल्य देनेमें समर्थ रहते हैं। अतएव उत्पादक वस्तुओंको बनाने वाले उद्योग धन्धोंके साथ प्रतिस्पर्धामें अपना हाथ ऊपर करसकते हैं। दूसरा कारण *यहहै कि इस अवसरपर बैंकभी साख-द्रव्यको अधिक मात्रामें प्रसारित करनेमें* असमर्थ होनेजाते हैं। अतएव वहभी ब्याजकी दरमें वृद्धि करदेते हैं। इस प्रकारकी परिस्थिति में उत्पादक वस्तुओंकी मांगमें कमी आजाती है और उनपर पूंजीके लगावकी मात्राभी संकुचित होने लगतीहै और आर्थिक अपकर्षका सूत्रपात हो जाता है।

हायकने अपकर्षकी दशाका पर्याप्त विवेचन नहीं किया है। उसका कहनाहै कि अपकर्ष उत्पादक वस्तुओंके उद्योग धन्धोंसे प्रारम्भ होकर सारी आर्थिक क्रियाओं

पर छाजाता है। इसका कारण यह बताया जाताहै कि इन उद्योग धन्धोंमें संकट आनेके कारण पूंजीके लगावमें कमी आजाती है और द्रव्य बेकार संचित होनेलगता है। द्रव्यके चलनके परिमाणमें संकुचन होनेलगता है। मूल्य-स्तर गिरने लगताहै और लाभकी दर ब्याजकी दरसे कम होनेलगती है। आय और मांगमें इस प्रकार की कमी होनेके कारण उपभोगके पदार्थोंको बनानेवाले उद्योग धन्धोंमें भी मन्दी छाजाती है।

आर्थिक अपकर्षके कालमें आर्थिक क्षेत्रको इन नयी परिस्थितियोंके योग्य बनाने की चेष्टा कीजाती है। साख द्रव्य जनित उत्पत्तिके उपकरणोंके विस्तारको कम किया जाता है। इसप्रकार कष्ट सहतेहुए आर्थिक परिस्थिति स्थिरताकी ओर (नीचे स्तर पर) अग्रसर होती है। मूल्य स्तरमें स्थिरता आजाती है और नैराश्यका अन्त हो कर आशाका संचार होनेलगता है और चूंकि बैंकोंके पास बेकार संचित नकदीका कोष पड़ारहता है अतएव वेभी उद्योग धन्धोंको कम ब्याजकी दरपर उदारतापूर्वक ऋण देनेको प्रस्तुत रहते हैं। इसप्रकार आर्थिक-चक्र पुनः उत्थानके पथपर चढ़ने लगता है।

हॉट्रेका यह सिद्धान्त वास्तविक परिस्थितिकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करताहै और यह दिखानेकी चेष्टा करताहै कि साख-द्रव्यके प्रसारसे किसप्रकार आर्थिक परिस्थिति विकृत होजाती है। परन्तु सभी परिस्थितियोंमें द्रव्यके प्रसार से आर्थिक विकृतियोंका उत्पन्न होना अवश्यम्भावी नहीं है। जब उत्पादनके साधना में बेकारी छायी हो तो ऐसी अवस्थामें द्रव्यके प्रसारसे यदि इनकी नियुक्ति होजाये तो कोई कारण नहींहै कि इस प्रकारका आर्थिक विस्तार अवांछनीय सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त बिना अन्य बाह्य प्रेरणाओंकी सहायताके केवल ब्याजकी दरमें कमी होनेसे आर्थिक उत्थान प्रारम्भ होसकता है इस प्रकारका विश्वास अनुभवसे प्रमा णित नहीं होता है।

उपभोग-हानि सिद्धान्त

एक और सिद्धान्त जो विशेष रूपसे आर्थिक संकटोंके कारणोंपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा करताहै, समाजवादियोंकी विचार धाराका द्योतक है। इसकोहमने उपभोग-

हानि सिद्धान्तका नाम दिया है। इस सिद्धान्तके मूलमें यह बात है कि पूजीवादी आर्थिक पद्धतिमें सम्पत्ति और आयके वितरणमें बहुत असमानता है। आयका एक बड़ाभाग एक छोटे व्यक्तिवर्ग के पास पहुंचता है जिसमें अधिक परिमाणमें बचत करनेकी प्रवृत्ति होती है। उपभोगके पदार्थोंकी अधिकतम माग कम आयवाले व्यक्तियोंकी होती है। आयके वितरणकी असमानताके कारण कम आयवाले व्यक्तियो की माग उस अनुपातमें नहीं बढ़ती है जिस अनुपातमें वस्तुओंकी उत्पत्तिमें वृद्धि होती है। इसीकारण इन वस्तुओंकी बिक्री कम होजाती है और उत्पादकोंको मूल्य-स्तर घटानेका बाध्य होना पड़ता है जिससे उनका लाभ घटजाता है अथवा हानि होनेलगती है। यहां आर्थिक संकटका कारण होजाता है क्योंकि लाभमें कमी अथवा हानिके कारण उत्पत्तिके परिमाण और आर्थिक साधनोंके नियोगमें कमी होनेलगती है। वितरणकी असमानतासे जो उपभोगकी हानि होती है, उसका दूसरा रूप सापेक्ष अतिशयोत्पत्ति भी कहसकते हैं अर्थात् इस प्रकारकी उत्पत्ति जिसकी द्रव्य-मयी माग न होनेसे उत्पादक-व्ययके बराबर मूल्य प्राप्त नहीं होसकता है।

हौब्सन जो इस सिद्धान्तका प्रमुख प्रतिपादक है, कहता है कि अधिक आय स्तर वाले लोग अपनी बचतको बराबर पूंजीके कार्यमें लगाते रहते हैं जिससे उत्पादक वस्तुओंके निर्माणमें वृद्धि होतीरहती है। अब चूंकि उत्पादन क्रियाओंमें जो द्रव्य-मयी आय होती है, उसका एक बड़ा हिस्सा उन लोगोंके पास पहुंचजाता है जिनमें बचत करके उसको पूंजीके रूपमें लगानेकी प्रवृत्ति होती है, अतएव इन उत्पादित वस्तुओं की माग पूरी नहीं होपाती है। हौब्सन कहता है कि यदि पारिश्रमिकमें वृद्धि करके कम आय-स्तरवाले लोगोंकी आयमें वृद्धि करदीजाय जिनमें अपनी आयके एक बड़े भागको उपभोगकी वस्तुओंमें व्यय करनेकी प्रवृत्ति होती है तो इससे माग का परिमाण बनारहे और आर्थिक क्रियाएभी ठीक ठीक चलतीरहें क्योंकि उपभोग की वस्तुओंके निर्माणके लिएही उत्पादक वस्तुओं (यन्त्र मशीन इत्यादि उपकरण) का निर्माण कियाजाता है। अतएव उत्पादक वस्तुओंकी माग बनीरहे। पूंजीवादी आर्थिक पद्धतिमें समय समयपर आयके वितरणकी असमानताके कारण उपभोगकी वस्तुओंकी मागमें हानि होजाती है। अतएव पूंजीके लगावमें भी कमी करनीपड़ती है जिसके फलस्वरूप आर्थिक संकटका प्रादुर्भाव होजाता है।

यह बात सभीको मान्य है कि पूजीवादी पद्धतिमें आयका वितरण बहुत असमान

है और यहभी सभी मानतेहै कि श्रमजीवियोके आर्य-स्तरको ऊचा करके उनके जीवन-स्तर को ऊचा करना भौतिकही नही परन्तु आर्थिक दृष्टिसे भी अत्यन्त आवश्यक है। उपभोग-हानि सिद्धान्तका छिद्रान्वेषण इस दृष्टिकोणसे नही किया जाता है। हमतो यह जानना चाहतेहै कि क्या उपभोगके लिए वस्तुओकी मागकी हानिके कारणसे आर्थिक सकटका जन्म होता है। इस कसौटीपर यह सिद्धान्त ठीक नही उतरता है। पहिले तो हौब्सनकी इस उक्तिमें ही तथ्य नहीहै कि सारीकी सारी बचत पूजीके रूपमें परिणत होकर आर्थिक क्रियाओमें लगादी जातीहै। जैसा कि हम बचत और पूजी-लगावके सिद्धान्तमें देखेंगे, आर्थिक अस्थिरता और अपकर्ष का एक प्रधान कारण यहहै कि बचत पूजीके रूपमें क्रियाशील न होकर बेकार सचित होनेलगती है। इसके अतिरिक्त आर्थिक उत्कर्षके कालमें जब श्रमजीवियोका पूर्ण नियोग होने लगताहै, उपभोगके परिमाणमें वृद्धि होतीहै न कि हानि। हा यहबात अवश्यहै कि जब आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाताहै तो उद्यम और आयमें कमी आनेके कारण उपभोगकी वस्तुओकी मागमें भी कमी आजाती है और इसके कारण अपकर्ष शीघ्रतासे गर्तकी ओर अग्रसर होने लगता है। उपभोग-हानि होती अवश्यहै परन्तु यह अपकर्षका कारण नही अपितु उसको उत्तेजित करती है। इस सम्बन्धमें एकबात औरभी कही जासकती है। अनुभव और आकडोंसे पता चलताहै कि अपकर्ष का प्रारम्भ उत्पादक वस्तुओवाले उद्योग धन्धोमें होताहै और इन्ही उद्योग धन्धोमें आर्थिक-चक्रका वेगभी रहता है। हौब्सनके मतानुसार पहिले सकट उपभोगकी वस्तुओका बनानेवाले उद्योग धन्धोमें होना चाहिए।

बचत और पूंजी-लगाव सिद्धान्त

आधुनिक चक्रके विवेचन और विश्लेषणमें आधुनिक कालमें एक नये और महत्व-पूर्ण दृष्टिकोणका विकास हुआहै। यह दृष्टिकोण बचतकी माना और पूजीके लगावकी मात्राके सामजस्यसे सम्बन्धित है। इस दृष्टिकोणका आर्थिक-चक्रमें समावेश करनेका विशेष श्रेय इगलैडके प्रसिद्ध अर्थशास्त्री केन्स को दियाजाता है। केन्स का कोई निजी सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको पूर्णरूपसे समझाने के लिए प्रतिपादित नही है। उसने बचत और पूजीके लगावकी इस प्रकारकी परिभाषाओका प्रयोग

कियाहै कि इन दोनोंका परिमाण सदाही समान रहता है। इस प्रकारकी समानता प्रकट करनेमें कोई वैध दोष नहीहै परन्तु प्रगतिशील आर्थिक-चक्रको समझानेमें बचत और पूजीके लगावकी समानता मानकर चलनेमें हम अपनेको वास्तविकता से हटाहुआ पाते है। अतएव हम इस बचत और पूजीके लगावके सिद्धान्तकी विवेचना करनेमें बचत और पूजीके लगावके परिमाणमें असमानता होनेकी सम्भावना को माननेहुए आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्षको समझानेमें इसका प्रयोग करेंगे।

हम विश्लेषणके कार्यको आर्थिक गर्तकी अवस्थासे प्रारम्भ करते है। कल्पना कीजिए किसी सयुक्तिक कारणसे पूजीके लगावमें वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होजाती है। होसकता है कि यह कारण नये आविष्कार, शिल्पकला, विज्ञानमें उन्नति, युद्ध-सामग्रीके निर्माणकी वृद्धि अथवा ब्याजकी दरमें कमी होनेसे सम्बन्धित हो। इस पूजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य या तो पूर्व सचयसे लियाजायेगा अथवा बैक नये साख-द्रव्यकी सृष्टि करके उत्पादकोंको उपलब्ध करेंगे अथवा दोनो रीतिया साथ साथ प्रयोगमें आयेंगी। इसप्रकार पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढजायगी और यह वृद्धि पुरानी बचतको काममें लाकर अथवा नये साख-द्रव्य के प्रयोगसे पूरी कीजायगी। अनुभवसे ज्ञात होताहै कि पूजीके लगावके परिमाणमें बचतके परिमाणसे कही अधिक अस्थिरता रहतीहै क्योकि पूजीका लगाव उसकी वर्तमान और भविष्यकी उत्पादकता और लाभकी आशापर निर्भर रहताहै। पूजीके लगावकी अस्थिरताही आर्थिक अस्थिरताका प्रधान कारण समझी जाती है।

गुणक सिद्धान्त

पूजीके लगावमें वृद्धि होनेसे आर्थिक साधनोको अधिक काम मिलताहै और उनकी आयमें भी वृद्धि होती है। जब इस बढीहुई आयको उपभोक्ता लोग भिन्न भिन्न पदार्थोपर व्यय करते है तो उन वस्तुओके बनानेवालाकी आयमें वृद्धि होतीहै और जब येलोग अपनी बढीहुई आय व्यय करतेहै तो इसके फलस्वरूप नयी आय उत्पन्न होती है। इसप्रकार प्रारम्भमें पूजीके लगावकी मात्राको बचतकी मात्रासे बढानेसे अन्ततोगत्वा कुल आयमें कईगुनी वृद्धिहो सकती है। उदाहरणके लिए यदि प्रारम्भ

में पूजीका लगाव वचतसे १००० रुपया अधिकहो तो उसके व्ययसे १००० रुपया प्रारम्भिक आय होगी। मानलीजिए इस प्रारम्भिक आयका कुछ हिस्सा बचा लियागया और शेष उपयोगकी वस्तुओंपर व्यय कियागया। इस व्ययसे जो आय होगी उसको द्वितीय आय कहसकते है। इस द्वितीय आयका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार द्वितीय आयका कुछ हिस्सा बचालिया जायगा और शेष उपभोगकी वस्तुओंपर व्यय किया जायगा। इससे तृतीय आयका सृजन होगा जिसका परिमाण प्रारम्भिक आयसे कम होगा। इसीप्रकार चतुर्थ, पचम इत्यादि स्तरोमें नयी आयका परिमाण कम होता जायगा। यदि हम इनसब स्तरोकी आयो को जोडें तो हमको ज्ञातहोगा कि यह कुल आय १००० रुपयेसे कईगुनी अधिक है। यदि यह कुल आय ३००० रुपयाहो तो हम कहसकते है कि पूजीके लगावकी मात्रामें बचतकी मात्रामे १००० रुपयेके आधिक्यसे ३००० रुपयके बराबर कुल आय हुई। इस सम्बन्धको हम 'गुणक सिद्धान्त' कहेंगे। उपरोक्त उदाहरणमें गुणक ३ है। स्पष्टहै कि गुणकके परिमाणका बचतके परिमाणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। *यदि प्रारम्भिक आय सबकी सब बचाली जाय तो इससे उत्तरगामी आय नहीं* होगी और गुणक एक होगा। यदि आधी आय बचायी जाय तो गुणक दो और यदि चौथाई आय बचायी जाय तो गुणक चार होगा। जैसे बचतकी मात्रासे पूजी के लगावमें वृद्धि होनेसे कुल आयमें इस अन्तरसे अधिक मात्रामें वृद्धि होतीहै इसी प्रकार जब पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतसे कमहो जातीहै तो कुलआय इस अन्तरसे अधिक मात्रामें घटजाती है।

गति-वृद्धि सिद्धान्त

उपभोग्य वस्तुओंकी मागमें वृद्धि होनेसे पूजीके लगावको भी प्रोत्साहन मिलताहै और उत्पादक वस्तुओंकी मागमें वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मागमें *जिस परिमाणमें वृद्धि होतीहै, उससे बडे परिमाणमें उत्पादक वस्तुओंकी मागकी* वृद्धि होती है। उपभोगकी वस्तुओंकी मागमें वृद्धिके फलस्वरूप पूजीके लगावमे जो वृद्धि होता है उस सम्बन्धको 'गति-वृद्धि सिद्धान्त' द्वारा समझाया जाता है। इस पूजीके लगावमें वृद्धिके लिए द्रव्य बैंकोसे प्राप्त किया जाताहै और गुणक सम्बन्धी

बचतसे भी प्राप्त होता है। इस प्रकार पूजीके लगावमें वृद्धि होनेसे पुनः आयमें वृद्धि होती है और पुनः गुणक सिद्धान्त सम्बन्धी आयका चक्र चलने लगता है। इससे पुनः पूजीके लगावको उत्तेजना मिलतीहै और इसप्रकार की क्रिया और प्रतिक्रिया चलने लगती है। यह गति-वृद्धि-सिद्धान्त अपकर्षके कालमें भी लागू होता है। जब उपभोग्य वस्तुओकी माग कम होजातीहै तो उत्पादक वस्तुओकी मागमें इससे कही अधिक शिथिलता आजाती है।

गुणक और गति-वृद्धिके सिद्धान्तके आधारपर हम अनुमान करसकते है कि जब पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे बढ जाती है तो आर्थिक उत्कर्षमें तीव्रता क्यो आने लगती है। अब प्रश्न यहहै कि इस प्रगतिमें बाधा क्यो पड जाती है और पूजीके लगावमें कमी क्यों होने लगती है। एक कारणतो यहहै कि जैसे जैसे उत्पादक वस्तुओके निर्माणमें वृद्धि होती रहती है कुछ समय बाद आर्थिक साधनोका प्राप्त करनेके लिए उत्पादन-व्ययमें वृद्धि करना अनिवार्य होजाता है। इसके अतिरिक्त यदि इस परिस्थितिमें बेकभी ब्याजकी दरमें वृद्धि करदे तो नये उद्योग धन्धे जिस लाभकी आशासे चलाये गयथ, वह आशा क्षीण होने लगती है। टिकाऊ उत्पादक वस्तुओकी मात्रामें वृद्धि होनेपर कुछ समयके बाद उनकी सीमान्त उत्पादकतामें ह्रास होने लगता है। इन सभी कारणोके फलस्वरूप कुछ अनस्थर उद्योग धन्धे पहिले ही धक्केको सम्हालनेमें असमर्थ होतेहै और अपने व्यवसायका क्षेत्र कम करना आरम्भ करदेते है। अन्य उद्योग धन्धेभी शंकित होने लगतेहै और शीघ्रतासे ऋरण को उऋण करनेका प्रयत्न करते है। वे पूजीके लगावसे हाथ खीचने लगते है। वे अपनेको ऋण-शोधनशील बनाये रखनेके लिए पूजीको बचतके रूपमें रखने लगते है। जब चालू बचतकी मात्रा पूजीके लगावके रूपमें बाहर न निकलकर सचित रूपमें रखीजाने लगतीहै तो इससे भयानक आर्थिक विकृतिका सूत्रपात होजाता है। जो आय बचतके रूपमें रोकली गयी उससे उत्पादक वर्गको इसी परिमाणमें हानि होगी जिससे पूजीके लगावको औरभी धक्का पहुचेगा।

जैसेही पूजीके लगावकी मात्रा चालू बचतकी मात्रासे कम होने लगती है, गुणक सिद्धान्त और गति-वृद्धि सिद्धान्त आर्थिक-चक्रको वेगके साथ अपकर्षकी ओर ढकेल देते है। पूजीके लगावमें कमीके कारण आर्थिक साधनोमें बेकारी आने लगतीहै और आय-स्तर गिरने लगता है। प्रारम्भिक आयमें कमीके कारण द्वितीय, तृतीय

तथा आगेके स्तरोंकी आयभी घटती जाती है और आयमें कुल कमी पूंजीके लगाव में कमीसे कईगुना अधिक होजाती है। आयकी कमीके कारण उपभोग्य-वस्तुओं की मागमें भी कमी आजाती है जिससे पूंजीके लगावमें औरभी अधिक ह्रास हो जाताहै और इस कमीसे भी गुणक-रूपी आय वेगसे कम होने लगती है। इसप्रकार आर्थिक-चक्र गर्तकी ओर अग्रसर होन लगता है।

आर्थिक-चक्र गिरताही क्या नहीं जाताहै और कहापर जाकर रुकताहै, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। उपभोग्य वस्तुओंकी मागमें उत्पादक वस्तुओंकी मागकी अपेक्षा अधिक स्थिरता होती है। अतएव आर्थिक अपकर्षकी प्रगतिमें एक रोक इस दिशासे आती है। जीवन-स्तरको अधिक मात्रामें गिरनेसे बचानेकी सभी चेष्टा करते हैं। जिसके निमित्त पुरानी बचतभी व्यय करने लगते हैं। इसप्रकार उपभोग्य वस्तुओंकी माग एक स्तरपर पहुचकर स्थिर होजाती है। इसमें कुछ अश में उत्पादक वस्तुओंकी मागभी बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उत्पादक वस्तुएभी समयके प्रभावसे और बराबर काममें लानसे जीर्ण और अव्यवहार्य होजाती हैं। इन को बदलनके लिएभी पूंजीका लगाव होता रहता है। इसप्रकार चिनगारी सुलगती रहतीहै और यदि इससमय पर पूंजी लगानके नये अवसर प्राप्तहो और उत्पादक वर्गमें आशाका सचार होनेलगे तो शनै शनै उत्थानका क्रम आरम्भ होने लगेगा।

बचत और पूंजीके लगावका सिद्धान्तभी सम्पूर्ण आर्थिक-चक्रको नहीं समझाता है। परन्तु इस दृष्टिकोणसे विवेचना करनेमें एक विशेषता यहहै कि हम इसमें अधिक उदारता पाते हैं। द्रव्यसम्बन्धी मनोवैज्ञानिक तथा अन्य सिद्धान्तोंको इस के अन्तर्गत लिया जासकता है। यही कारणहै कि अर्थ-चक्रकी आधुनिक विवेचनामें उस सिद्धान्तको एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है।

उत्कर्ष और अपकर्ष का प्रतिकार

पूंजीवादी पद्धतिके अन्तर्गत आर्थिक-चक्रका पूर्णरूपसे उन्मूलन करना असाध्य प्रतीत होता है क्योंकि इसके सस्थान और सम्बन्ध इस प्रकारके होतेहैं जिनसे अस्थिरता उत्पन्न हुए बिना रह नहीं सकती है। परन्तु आर्थिक योजना और नियन्त्रण द्वारा कुछ अशतक इसका निराकरण किया जासकता है। इसका भार विशेषरूपसे राज्य

के ऊपर डाला जाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा और द्रव्य-नीति द्वारा आर्थिक अस्थिरतामें कमी लानेका प्रयत्न करे। स्पष्टहै कि आर्थिक विषयोंमें राज्य का जितना अधिक हाथ होगा, उसी हिसाबसे वह इस कार्यमें सफलता प्राप्तकर सकेगा। पहिले महायुद्धके बाद और विशेष रूपसे १६२६-१६३३ के विश्व-व्यापी आर्थिक सकटके बाद राज्यका हस्तक्षेप देशके आर्थिक कार्योंमें बहुत बढ़गया है और यह प्रवृत्ति बढ़तीही जारही है। आधुनिक कालमें राज्य द्वाराभी एक बड़ी मात्रामें पूजी लगानेका कार्य होता है। हमने देखा कि आर्थिक उत्कर्ष और अपकर्ष का एक प्रधान कारण पूजीके लगावकी मात्रामें अस्थिरता आजाना है। अन्य उत्पादक तो द्रव्यात्मक लाभकी आशासे पूजी लगातेहैं और जब लाभकी आशा घटने लगतीहै तो वे भी पूजीके लगावमें कमी करने लगजाते है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक अपकर्ष प्रारम्भ होजाता है परन्तु राज्यके पूजी-लगावका उद्देश्य इसप्रकार का द्रव्यात्मक लाभ नही होताहै। अतएव राज्यतो अपने पूजीके लगावके कार्यमें अस्थिरता आनेको रोक सकता है। साथही साथ राज्य अपनी पूजीके लगावकी नीति द्वारा कुछ अशतक क्षतिपूरकका कार्यभी करसकता है। उदाहरणके लिए यदि आर्थिक परिस्थिति इस प्रकारकी होगयी हो कि पूजीपति पूजीके लगावके परिमाणको घटाने लगगये हो और द्रव्यका सचय होना प्रारम्भ होगया हो तो राज्य को चाहिए कि ऐसी परिस्थितिमें वह अपनी पूजीके लगावमें वृद्धि करके क्षतिपूरकका काम करे। यह आवश्यक है कि योजनाए पहिलसे ही तैयार रहें ताकि उचित समयपर तत्काल यह कार्यरूपमें परिणत की जासकें। नही तो आर्थिक साधनोंके कुप्रयोगकी आशका होगी। राज्यके पास इसप्रकार की योजनाओंकी कमी नही होसकती है। नहर सड़क रेल और अनुपयोगी भूमिको उपयोगी बनाना इत्यादि अनेक प्रकारके कार्य सभी देशोंमें वाछनीय है। इन कार्योंके लिए राज्यको द्रव्य चाहिए। इस सम्बन्धमें राज्यको या तो वह द्रव्य, जो कि बेकार सचित होरहा हो, ऋणके रूपमें लेकर पुन चलनमें लाना चाहिए अथवा नये साख द्रव्यसे अपने कार्यों का सम्पादन करना चाहिए। कर द्वारा द्रव्य प्राप्त करनेकी चेष्टा से पूजीके लगावमें औरभी कमी आनेकी आशका रहती है।

राज्यके पूजीके लगावमें वृद्धि होनसे गणक-सिद्धान्त कार्यान्वित होने लगेगा और इससे उपभोक्ताओंकी आय और मागकी मात्रामें भी वृद्धि होनेकी प्रवृत्ति होगी।

यह आवश्यक है कि राज्यका इस पूंजीके लगावका कार्य अपकर्ष आरम्भ होतेही चालू करदिया जाय। देर होजानेसे जब आर्थिक परिस्थिति गर्तकी ओर बहुत दूर तक अग्रसर होगयी हो तो फिर राज्यको रोकथाम करना बहुत कठिन होजायगा। अपकर्षके कालमें बेकारोको द्रव्य-रूपमें सहायता देकरभी कुछ अशतक उपभोगके पदार्थोंकी माग बनायी रखीजा सकती है। इसीप्रकार सर्वसाधारणके उपभोगकी वस्तुओंपर कर-भार हलका करनेसे उनकी मांगमें वृद्धि होनेकी सम्भावना रहती है।

उत्कर्षके कालमें राज्यको यह देखना पडता है कि पूजीका लगाव असन्तुलित रूप मे न बढने पावे। इसकेलिए राज्यको पूंजीके लगावके नियन्त्रणकी आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त राज्यको अपनी पूजीके लगावकी मात्राको भी इस आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनाना पडेगा। ऐसी परिस्थितिमें राज्यको अपने व्ययमें कमी करनी पडेगी। अपने बजटमें बचत लानेका प्रयत्न करना पडेगा। कर-नीति द्वाराभी इसप्रकार का प्रबन्ध करना पडेगा कि उत्कर्षमें उत्तेजना न आनेपाये।

जैसा ऊपर बतलाया जाचुका है कि आर्थिक क्रियाओंको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि उपभोक्ताओंकी माग बनी रहे। क्योंकि कम आयवाले लोग अपनी आयका अधिकाश उपभोगके पदार्थोंमें व्यय करते हैं और धनी वर्गमें बचत करनेकी प्रवृत्ति अधिक मात्रामे पायीजाती है। अतएव इसप्रकार की कर-नीति जिसके द्वारा धनका वितरण कम आयवालोके पक्षमें हो, उपभोगकी मात्राको प्रोत्साहित करनेमें सहायता देसकेगी।

द्रव्यनीति द्वाराभी आर्थिक-चक्रकी विषमताओंको कम करनेमें सहायता प्राप्त होसकती है। केन्द्रीय बैकका धर्म है कि वह निरन्तर आर्थिक परिस्थितियोंका अध्ययन करतारहे और सदैव सतर्क रहे। जैसेही विषमताओंके लक्षण प्रकट होनेलगें वैसे ही अपने उपकरणोंका उनके प्रशमनके लिए काममें लानलगे और सरकारका ध्यान भी इसकी ओर आकर्षित करे। केन्द्रीय बैकपर बहुत बडा उत्तरदायित्व है। उसको देशकी द्रव्य और बैंक प्रणालीपर पूरा अधिकार प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। ब्याजकी दरका आर्थिक अवयवों और उसके सम्बन्धोंपर बडा प्रभाव पडता है। केन्द्रीय बैंकको चाहिए कि वह समय समयपर आर्थिक परिस्थितिके अनुसार ब्याजकी दरमें परिवर्तन लानेकी चेष्टा करे।

वास्तवमें राजस्व नीति और द्रव्य नीतिका सामंजस्य करकेही उत्कर्ष और अपकर्ष सम्बन्धी व्याधियोंको कम कियाजा सकता है। अतएव सरकार और केंद्रीय बैंक दोनोंकी नीतिमें विरोध नहीं होना चाहिए। केंद्रीय बैंकोंके राष्ट्रीयकरणसे यह आशा कीजाती है कि ये दोनों नीतियां एक दूसरको सहायता देतीहुई आर्थिक-चक्रकी व्याधियोंके प्रशमनमें सफल होसकेंगी।

३१

राजस्व का स्वरूप और क्षेत्र

राज्य और शासन की आवश्यकता

मनुष्य समाजमें रहना पसन्द करता है। प्राचीन कालके इतिहाससे ज्ञात होताहै कि वह किसी कुनबे, कबीले अथवा गिरोहका सदस्य रहा है। आधुनिक कालमें समाजका क्षेत्र बढकर राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय होगया है। जब मनुष्य साथ साथ रहने लगतेहै तो अनेक इसप्रकारकी आवश्यकताए उत्पन्न होजाती है जिनको सामूहिक आवश्यकताए कहसकते है। इसप्रकारकी आवश्यकताओंको पूरा करने का प्रबन्ध समाजको करना पडता है। उदाहरणके लिए बाहरी आक्रमणसे समाज की रक्षा कोई व्यक्ति-विशेष नही करसकता है। यह सारे समाजका ही कर्तव्य हो जाता है कि वह मिलकर शत्रुको मार भगाय। इसी प्रकार मनुष्योंके साथ रहनेसे मारपीट, चोरी, डकैती होनेकी सम्भावना रहतीहै। इसमे अशान्ति पैदा होजाती है। समाजका यहभी कर्तव्य होजाता है कि वह इन व्याधियोसे अपने सदस्योंकी रक्षाका प्रबन्धकर और आततायीको दड दे। इसके अतिरिक्त सक्रामक रोगोसे तथा अग्निकाडसे समाजके व्यक्तियोको बचानेका प्रबन्ध भी करना पडता है। इसप्रकार के सामूहिक कर्तव्योका पालन करनेके लिए तथा समाजके जीवनको व्यवस्थित करनेके लिए राज्य और शासनका सूत्रपात हुआ और शनैः शनै. उनका विकास हुआ। जिसप्रकार श्रम-विभाग और विशिष्टीकरण से मनुष्य अपनी आवश्यकताओंकी अधिक मात्रामें और अधिक सुगमता और कुशलताके साथ तृप्ति करसकता है, उसी सिद्धान्तके अनुसार सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध एक विशेष सस्था द्वारा अधिक प्रवीणता और तत्परताके साथ हो सकता है। एक प्रकारसे राज्य और शासनकी स्थापना और उनका विस्तार श्रम विभाग की विशिष्टताका एक उदाहरण है।

प्रारम्भमें इस प्रकारकी आवश्यकताओंका क्षेत्र परिमित था। राज्यके तीन प्रधान कर्तव्य समझे जातेथे। पहिला—बाहरी आक्रमणसे रक्षाका प्रबन्ध, दूसरा—समाजके भीतर शांति रक्षाका प्रबन्ध और तीसरा—सरकारी इमारत, सडक, पुल और नहर इत्यादिके निर्माणका प्रबन्ध। शनै. शनैः अनुभवसे ज्ञातहुआ कि इन कार्यों के अतिरिक्त अनेक कार्य औरभी है जिनका सम्पादन राज्यद्वारा अधिक सुगमता और कम व्ययके साथ होसकता है। उदाहरणके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य और चिकित्सा का प्रबन्ध करना, डाक, तार, मुद्रा और बाटका प्रबन्ध करना इत्यादि। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ज्ञातहोगा कि आधुनिक कालमें हमारे आर्थिक कार्योंका शायद ही कोई एसा क्षेत्र होगा जिसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें राज्यका हस्तक्षेप न होता हो। दूर जानेकी आवश्यकता नही, आजकल हमको अन्न और वस्त्र सदृश प्रारम्भिक वस्तुओंको प्राप्त करनेके लिए राज्यका मुह देखना पडता है क्योंकि इन वस्तुओंकी कमीहै और जनताके हितके लिए यह आवश्यकहै कि इनका वितरण इसप्रकार से हो कि धनी और निर्धनी सभी लोगोंको उचित मूल्यपर ये वस्तुएं प्राप्त हो। यह कार्य राज्य द्वाराही किया जासकता है। इसप्रकार भिन्न भिन्न परिस्थितियों का सामना करनेके लिए राज्यके आर्थिक कार्योंका क्षेत्र बढता जारहा है और इसके आगेभी विस्तृत होनेकी सम्भावना है।

आर्थिक कार्यों में राज्यके हस्तक्षेप की आवश्यकता

कुछ काल पहिले ऐसी विचारधारा थी कि लोगोंको अपने आर्थिक कार्य करनेकी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एसा कहा जाताथा कि क्योंकि मनुष्य समाजका ही अंग है इसलिए अपने हितके लिए जोकोई भी कार्य वह करेगा उससे समाजका हितही होगा। राज्यका कर्तव्य यही समझा जाताथा कि वह रक्षा, न्याय, सडक इत्यादिका प्रबन्ध करदे। अन्य आर्थिक कार्योंमें राज्यका हस्तक्षेप अनावश्यक हीनही परन्तु अनुचित भी समझा जाता था। इसप्रकार की आर्थिक व्यवस्थाको पूंजीवादका नाम दियागया है।

पूंजीवादके अन्तर्गत आर्थिक कार्यों और आर्थिक सम्बन्धोंको देखनेसे पता चलता है कि किसीभी व्यक्तिके स्वहितके कार्योंसे समाजका हित होना अवश्यम्भावी नही

है। उदाहरणके लिए यदि कोई पूंजीपति मजदूरोंसे १६ घंटे प्रतिदिन काम ले और उनको केवल जीवन-निर्वाह योग्य वेतनदे तो उसका तो लाभही होगा परन्तु मजदूरों और उनके बच्चोंके स्वास्थ्य, शिक्षा और जीवन-स्तरपर उसका बुरा प्रभाव पड़ेगा। इसप्रकार की परिस्थितिको पैदा होनेसे रोकनेके लिए आजकल राज्यकी ओरसे न्यूनतम-वेतन और अधिकसे अधिक कामके घंटे निश्चित करदिये जाते हैं। इसीप्रकार यदि जमींदार किसानोंसे मनमाना लगान वसूल करें और जब चाहें तब उनको निकालदें तो इससे जमीन्दारोंका लाभ और किसानोंकी हानिही होगी। अब इन दोनों वर्गोंकी लाभ-हानिको दृष्टिमें रखतेहुए और यह देखतेहुए कि मजदूरों और किसानोंकी संख्या मिल-मालिकों और जमीन्दारोंकी संख्यासे कईगुना अधिक है, यह निश्चयहै कि इस प्रकारकी स्वेच्छाचारितामें समाजकी हानिही होगी। ऐसी अवस्थाओंमें राज्यका हस्तक्षेप करना नितान्त आवश्यक होजाता है।

इतनाही नहीं आधुनिक कालमें राज्यसे यह आशाकी जाती है कि वह क्रियात्मक रूपसे समाजके आर्थिक कार्योंमें सहयोगदे और अपनी आर्थिक और राजस्व-नीतिको बदलतीहुई आर्थिक परिस्थितिके अनुकूल बनाये। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें उत्पत्तिके साधन कभी कभी बेकार पड़ रहतेहैं और आर्थिक मन्दी—जोकि पूंजीवादमें समय समयपर उत्पन्न होजाती है, के अवसरपर तो यह बेकारी बहुत बड़ी मात्रामें होजाती है। इससे राष्ट्रीय आयमें कमी और रहन सहनमें क्षति होजाती है। ऐसी अवस्थामें राज्यका कर्तव्य होजाताहै कि वह अपनी राजस्व-नीति द्वारा बेकारी हटानेका नहीं तो कम करनेका प्रयत्न तो अवश्य करे और आर्थिक-पद्धतिको उत्कर्ष की स्थिरताकी ओर अग्रसर करे। कर, व्यय और ऋण सम्बन्धी अध्यायोंमें बताया जायेगा कि राज्य किन किन उपायोंसे इसप्रकार के कार्य करसकता है।

राजस्व के मुख्य विभाग

ऊपर दियगये वृत्तान्तसे स्पष्ट होजाता है कि राज्यके आर्थिक कार्योंके क्षेत्रमें बहुत वृद्धि होगयी है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यको साधनोंकी आवश्यकता होती है। ये साधन कहांसे और किस प्रकारसे प्राप्त कियेजाय और इनका समाजके उत्पादन और वितरणके कार्योंमें किसप्रकार का प्रभाव पड़ेगा, इसप्रकारके विषयों

का विवेचन राजस्वका एक मुख्य अंग है। जिसप्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताओंको द्रव्यरूपी आयसे पूरी करताहै इसीप्रकार सामूहिक आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिए राज्यको भी द्रव्यके रूपमें आयकी आवश्यकता होती है। यह आय आधुनिक कालमें प्रधानत राज्य अपनी प्रजासे करके रूपमें लेता है। राज्यकी अपनी सम्पत्ति और अपने उद्योग धन्धोंसे भी कुछ आय होती है। कुछ छोटी मोटी मदें आयकी औरभी है जिनका विवेचन राज्यकी आयके अध्यायमें किया जायगा।

राजस्वका दूसरा विभाग व्यय सम्बन्धी है। सामूहिक आवश्यकताओंकी पूर्तिका प्रबन्ध करनेके लिए राज्यको द्रव्यका व्यय करना पडता है। व्ययकी अनेक मदें है। कितना व्यय किस मदमें कियाजाय और किस कालमें कियाजाय यह एक महत्वपूर्ण विषय है। राज्य जब बडी मात्रामें विविध कार्योंमें व्यय करताहै तो इसका प्रभाव सार आर्थिक क्षेत्रपर पडता है। अतएव राज्यको बहुत सोच समझकर अपनी व्यय नीति निर्धारित करनी पडती है।

अनेक ऐसे अवसर आजाते है जबकि राज्यकी सामान्य आय व्ययके लिए पर्याप्त नहीं होती है। उदाहरणके लिए रेल नहर युद्ध इत्यादि मदोंपर बहुत व्यय होता है और राज्य अपनी सामान्य आयसे इनकी पूर्ति करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। अतएव उसको ऋण लेना पडता है। कभी कभी द्रव्यके अत्यधिक प्रसारको कम करनेके लिएभी राज्य ऋण लेता है। आधुनिक कालमें प्रत्येक राज्यके ऋणकी मात्रामें बहुत वृद्धि होगयीहै और इससे अनेक समस्यायेंभी उत्पन्न होगयी है। अतएव यहभी राजस्वका एक पृथक विभाग बनगया है।

आय और व्ययका हिसाब रखना बजट बनाना बजटकी मदोंको राज्य-परिषद द्वारा स्वीकृत करवाना और स्वीकृतिके अनुसार भिन्न भिन्न विभागो द्वारा भिन्न भिन्न मदोंमें व्ययका प्रबन्ध करना और उसकी जाच पडताल करना—इसप्रकार के कार्यभी बहुत महत्वपूर्ण है। इनका विवेचन राजस्व प्रशासन विभागके अन्तगत कियाजाता है।

राजस्व-शास्त्रके यही चार मुख्य विभाग है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि राजस्वके ये चारो विभाग एक दूसरेसे पृथक है। विवेचनाकी सुगमताके लिए ही इनको अलग अलग कियागया है अन्यथा एकका दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणके लिए राज्यके व्ययका समाजके ऊपर क्या प्रभाव पडा इसको पूरी तौर

पर जानने के लिए यह आवश्यक है कि राज्यने यह धन किसप्रकार प्राप्तकिया और उसका समाजपर क्या प्रभाव पड़ा।

राजस्व शास्त्रमें राज्यके आय व्यय और ऋण सम्बन्धी सिद्धान्तोंका विवेचन कियाजाता है। यह अर्थशास्त्रका ही एक विभाग समझा जाताहै क्योंकि जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा राज्यके आर्थिक कार्योंके अन्तर्गतभी अर्थशास्त्रके ही सिद्धान्त लागू होते है। मूलमें राज्यके सम्मुखभी वही परिस्थितिहै जैसीकि किसी व्यक्तिविशेष के अथवा आर्थिक संस्थाके सम्मुख होतीहै अर्थात राज्यके पास सभी सामूहिक आर्थिक कार्योंको पूर्ण रूपसे सम्पादन करनेके लिए पर्याप्त मात्रामें साधन नहीं है। अतएव उसकोभी उन साधनोंसे अधिकतम आर्थिक क्षेत्र उत्पन्न करनेके लिए उनको भिन्न भिन्न मदोंमें नियमित रूपसे वितरण करना पड़ता है।

राजस्वसे सम्बंधित राज्य शब्दका प्रयोग व्यापक रूपमें होता है। इसके अन्तर्गत केवल केन्द्रीय राज्यके आर्थिक कार्योंका ही नहीं वरन प्रान्तीय राज्यके और स्थानीय निकायों जैसे जिलाबोर्ड म्यूनिसिपल बोर्ड और ग्रामपंचायतके भी आर्थिक कार्यों का समावेश होता है।

अधिकतम सामाजिक-लाभ सिद्धान्त

राज्यके आर्थिक कार्योंके मूलमें एक सिद्धान्त रहताहै जिसकोकि अधिकतम सामाजिक लाभ सिद्धान्त कहाजाता है। इस सिद्धान्तका तात्पर्य यहहै कि राज्यको वही आर्थिक कार्य करने चाहिए जिनके फलस्वरूप समाजका अधिकसे अधिक लाभ हो। वे कार्य कौनसे हैं? सबसे पहिले राज्यको सुरक्षा और शान्तिका ऐसा वातावरण बनाना चाहिए जिसमें सभीलोग निश्चिन्त होकर अपने अपने कार्य करें। इसके उपरान्त राज्यको अपनी प्रजाको सुखी और समृद्ध बनानेका प्रयत्न करना चाहिए। इसकेलिए दो बातोंकी विशेष आवश्यकता है। एकतो यह कि देशके उत्पादनका परिमाणमें वृद्धि कीजाय और दूसरा यहकि उसके वितरणकी असमानताको कम कियाजाय। उत्पादनकी मात्राको बढानेके लिए यह आवश्यकहै कि समाजके उत्पत्तिके साधनोंमें वृद्धि कीजाय। उनकी निपुणता बढायीजाय उनको बेकार होनेसे बचाया जाय और उनका प्रयोग ठीक अनुपातमें कियाजाय। उत्पत्तिकी मात्राको बढानेके

साथ साथ इस बातका भी ध्यान रखाजाना चाहिए कि भिन्न भिन्न प्रकारकी वस्तुओं का परिमाण समाजकी आवश्यकतानुसार हो।

पूंजीवादमें राष्ट्रीय आयका वितरण बहुत असमान होजाता है। इससे आर्थिक क्षमता कमीही नहीं परन्तु आर्थिक पद्धतिके व्यवस्थित और अविरोध रूपसे चलाने में भी रुकावट पैदा होजाती है जिसके कारण आर्थिक संकट और मन्दीकी अवस्था उत्पन्न होजाती है। अतएव केवल न्यायके दृष्टिकोणसे ही नहीं वरन आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता लानेके लिए और उत्पत्ति साधनोंको पूर्ण रूपसे काममें लगाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि वितरणकी असमानताको कम किया जाय।

राज्यको केवल वर्तमान पीढ़ीके आर्थिक क्षमको ही नहीं अपितु भविष्यमें आने वाली पीढ़ीके क्षमका भी ध्यानमें रखना पड़ता है। अतएव यदि किसी कार्यसे वर्तमान पीढ़ीके अधिक हितके निमित्त आनेवाली पीढ़ीके आर्थिक क्षममें अधिक क्षति होनेकी सम्भावना हो तो राज्यको ऐसे कार्योंका नियन्त्रण करना चाहिए। उदाहरणके लिए यदि वर्तमान पीढ़ी खानोंसे सभी कोयला और लोहा निकालले तो इससे भविष्यकी जनताको बहुत क्षति होगी।

इसप्रकार हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि यदि राज्यके आर्थिक कार्यों द्वारा समाजका हित होता हो तो वे कार्य निर्दोष हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि समाजके लाभ हानिके नापनेके लिए हमारेपास कोई मापदण्ड नहीं है। इसलिए अनेक परिस्थितियोंमें यह कहना कठिन होजाता है कि कौनसे कार्योंसे समाजका हित अधिक होगा। उदाहरणके लिए यदि राज्यके सामने प्रश्न है कि दस लाख रुपया शिक्षा अथवा चिकित्सामें व्यय कियाजाय तो यह निश्चय करना कठिन है कि समाजका अधिकतम क्षम शिक्षा प्रसारसे होगा अथवा स्वास्थ्य रक्षा से। ऐसी अवस्थामें अनुमान और अनुभवके आधार परही निर्णय करना पड़ता है।

व्यक्ति और राज्य के आय व्यय सम्बन्धी कार्यों में समानता और भेद

साधारण तौरपर यह कहाजाता है कि कोई भी व्यक्ति अपनी आयके अनुसार अपने व्ययको समीकरण करता है, परन्तु राज्य अपने कर्तव्योंके अनुसार अपने व्ययको

अनुमान करताहै और फिर उसके अनुसार अपनी आयका समीकरण करता है। इस भेदके कई अपवाद है। हम देखतेहै कि अनेक व्यक्ति व्ययके बढजाने से आय बढाने की चेष्टा करते है। उदाहरणार्थ महँगीके अवसरपर कम वेतन पानेवाले शिक्षक, क्लर्क लोग ट्यूशन करके अथवा अन्य कोई सहायक कार्य करके अपनी आय बढाते है। ऐसाभी नहीहै कि राज्य अपनी आयको व्ययके अनुसार अवश्यही बढा सके। यदि ऐसाही होता तो राज्यको ऋण न लेना पडता। अतएव राज्यको व्यय करनेके पूर्व अपनी आयपर दृष्टि रखनी पडती है। प्रधान भेद यहहै कि राज्यके पास किसी भी व्यक्तिकी अपेक्षा आयके अधिक साधन है। उदाहरणके लिए कर लगाकर आय करनेका अधिकार राज्यको है व्यक्तिको नही। कभी कभी राज्य अविनिमय साध्य नोटोंको छापकर और उनको राज-प्रामाणित द्रव्य घोषित करके अपनी आय बढा सते है। यह अधिकारभी सामान्य व्यक्तिके पास नही है। ऋण लेकर तात्कालिक आय बढानकी क्षमताभी साधारण व्यक्तिकी अपेक्षा राज्यकी अधिक रहतीहै क्योकि उसकी साख अधिक होतीहै और वह देशके भीतर और दूसरे देशोसे भी ऋणले सकताहै जहा साधारणत प्रत्येक व्यक्तिकी पहुच नही होती है।

एक बडा भेद राज्यके और अन्य व्यक्तियोके आर्थिक कार्योमें यहहै कि साधारणत' प्रत्येक व्यक्ति अपने धनमे लाभकी आशा करताहै और इसीप्रकार के उद्योग धन्धामें उसको लगाता है और ऐसे मूल्यपर अपनी वस्तुआ और सेवाओंको बेचने की चेष्टा करताहै जिसमे उसको द्रव्य सम्बन्धी लाभहो। परन्तु राज्यका यह दृष्टि-कोण नही रहता है। यदि हम राज्यकी प्रमुख व्ययकी मदोको देखें—जैसे रक्षा, शिक्षा, चिकित्सा सडक इत्यादि तो हमको ज्ञात होताहै कि राज्यका उद्देश्य इनसे अपनी द्रव्य सम्बन्धी आयको बढाना नहीं होता है। कुछ वस्तुओं और सेवाओंको तो राज्य लागतसे कम मूल्यपर कभी कभी नि शुल्कभी बेचता है। उदाहरणके लिए नि शुल्क शिक्षा। यह अवश्यहै कि राज्यको कुछ-वस्तुओके विक्रयसे लाभभी होताहै परन्तु इनकी सख्या कम है।

भविष्यके लिए उपयुक्त प्रबन्ध करनेके हेतु व्यक्तिकी अपेक्षा राज्यका दृष्टि कोण अधिक व्यापक होना है। किसीभी व्यक्तिको वर्तमानकी अपेक्षा निकट भविष्य की अधिक चिन्ता रहतीहै और जैसे जैसे भविष्यकी दूरी बढती जातीहै वैसे वैसे उसकी दृष्टिमें सुदूर भविष्यमें प्राप्त होनेवाली उपयोगिता बहुत कम मालूम पडती

है। उदाहरणार्थ जगल लगानेमें और उसके बढकर आय उत्पन्न करने योग्य होने में बरसो लगजाते हैं। शायदही किसी व्यक्तिको इतना धैर्यहो कि वह इस काममें अपनी पूजी लगाये। परन्तु राज्यको तो दीर्घकालिक दृष्टिकोणसे भविष्यकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखकर प्रबन्ध करना पडता है।

अपने द्रव्यको भिन्न भिन्न वस्तुओंमें व्यय करनेमें राज्यकी अपेक्षा व्यक्तिको अधिक कुशलता रहती है। कोईभी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की उग्रताके अनुसार भिन्न भिन्न वस्तुओंसे प्राप्त होनेवाली उपयोगिताओंकी अपने मनमें तुलना करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करसकता है। परन्तु राज्यको तो इसप्रकार की कोई सीधी अनुभूति होती नही जिसके आधारपर वह भिन्न भिन्न व्ययोसे प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओंके समीकरणका प्रयत्न करसके। अतएव बहुधा राज्य व्ययमें यह पायाजाता है कि शक्तिशाली सस्थाओ, व्यक्तियो अथवा सम्पादकीय टिप्पणियों के प्रभाव और दबावके कारण कम आवश्यकीय विभागोको अधिक और अधिक आवश्यकीय विभागोको कम अनुदान मिलता है।

३२

राज्य का व्यय

राज्य के व्यय का महत्व

पहिले अध्यायमें हमने देखाकि आधुनिक युगमें राज्यके आर्थिक कार्योंका क्षेत्र बहुत बढगया है और इसका समाजके आर्थिक क्षेम परभी यथेष्ट प्रभाव पडता है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यके व्ययका परिमाणभी बहुत बढगया है। इस कारण राजस्वके व्यय विभागका महत्वभी अधिक होता जारहा है। प्राचीन कालमें जब राज्यके कर्तव्य थोडेसे ही थे और इनकी पूर्तिके लिए अधिक परिमाण मे व्ययभी नही होताथा तब इस विषयपर अधिक ध्यान नही दियाजाता था। राजस्व-शास्त्र की पुस्तकोंमें भी इस विषयपर अधिक ध्यान नही दियाजाता था। परन्तु अब यह बात नही है। समाजकी आयका एक बडाभाग अब राज्यके द्वारा व्यय कियाजाता है। अतएव लोगोंको इस बातकी जिज्ञासा होनेलगी है कि यह द्रव्य किसप्रकार व्यय कियाजाता है। इसका सदुपयोग होताहै अथवा दुरुपयोग। इसका समाजपर क्या प्रभाव पडताहै इत्यादि। इसप्रकारके प्रश्नोंके अन्तर्गत राज्यके व्ययका सिद्धान्त निहित है।

राज्य के व्यय का वर्गीकरण

राजस्व-शास्त्रके लेखकोंने अनेक प्रकारसे राज्यके व्ययका वर्गीकरण किया है। प्रत्येकने भिन्न भिन्न दृष्टिकोणसे यह वर्गीकरण किया है। अतएव यह कहना बहुत कठिनहै कि कौन सा वर्गीकरण अधिक उपयुक्त है। भिन्न भिन्न वर्गोंसे इस विषयपर प्रकाश अवश्यही पडता है। अतएव हम कुछ प्रमुख वर्गोंकी विवेचना करेंगे।

एक पुराना वर्गीकरण हितके आधारपर कियागया है। इस आधारपर राज्यके

व्ययके चार वर्ग कियेगये हैं। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिससे समाजके सभी लोगोंका हित होताहै जैसेकि रक्षा, शिक्षा और सडकोंपर कियागया व्यय। राज्य का सबसे अधिक व्यय ऐसेही कार्योंमें होताहै जिससे सर्वसाधारण जनताका लाभ हो। दूसरा वर्ग वहहै जो सार्वजनिक तो समझाजाता है किन्तु उसका लाभ समाज के कुछही लोगोंको प्राप्त होताहै जैसेकि निर्धन और अपाहिजोंकी सहायतापर व्यय। इसप्रकारके व्ययमे इनलोगोंका हिततो होताही है परन्तु समाजका भी हित होताहै क्योंकि राज्यसे सहायता न प्राप्त होनेपर इनमेंसे कई चोरी, डकैती और लूटमार करने लगते हैं और समाजमें अशान्ति पैदा करदेते हैं। तीसरा वर्ग वहहै जिसमें समाजके हितको दृष्टिमें रखतेहुए व्यय कियाजाता है परन्तु इससे विशेष लाभ उन्हीं लोगोंको होताहै जो उसको प्राप्त करनेके लिए कुछ शुल्क देते हैं। उदाहरणार्थ न्यायालयोंकी स्थापना और न्यायाधीशोंकी नियुक्ति और उनपर व्यय सर्व-साधारण हितके लिए कियाजाता है परन्तु व्यक्तिगत लाभ उन्ही लोगोंको होताहै जो न्यायालय को एक निर्धारित कोर्टफीस देते हैं। चौथे वर्गमें वे व्यय आतेहैं जिनसे उन्ही लोगों को लाभ होताहै जो राज्यका उन वस्तुओं अथवा सेवाओंका पूरा मूल्यदेते हैं। राज्यके डाक, तार, रेल इत्यादि विभागोंपर व्यय कियेहुए द्रव्यसे उन्ही लोगोंका हित होताहै जो इन विभागों द्वारा प्रस्तुत वस्तुओं और सेवाओंका पूरा मूल्यदेते हैं। एक पोस्टकार्डका मूल्य तीनपैसा है। अतएव जो मनुष्य तीनपैसा व्यय करने को तत्परहै उसीको पोस्टकार्डसे लाभभी हो सकता है।

राज्यके व्ययके एक दूसरे वर्गीकरण का आधार उस व्ययसे राज्यको प्राप्त होनेवाली आय है। इसकेभी चार वर्ग कियेगये हैं। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जिन से राज्यको कोई आय नहीं होतीहै जैसे निर्धन और अपाहिजोंपर कियागया व्यय। दूसरा वर्ग वहहै जिसमें राज्यके व्ययसे प्रत्यक्ष रूपमें तो आय नहीं होतीहै परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे आयकी वृद्धिमें सहायता मिलती है। उदाहरणके लिए शिक्षापर कियागया व्यय। ऐसा अनुमान कियाजाता है कि शिक्षित लोगोंसे सुगमता और कम खर्चसे कर वसूल होजाता है। तीसरे प्रकारके व्ययमे कुछ आय होतीहै। जैसे इस प्रकारकी शिक्षाका प्रबन्ध जिसमें कुछ व्ययकी पूर्ति विद्यार्थियोंसे लीगयी फीस से होतीहै अथवा इस प्रकारकी नहर जिसकी चालू लागतका कुछ भाग सिचाईके शुल्कसे प्राप्त होसके। चौथा वर्ग उस व्ययकाहै जिससे राज्यको इतनी आयहो

जातीहै कि कुल व्यय वसूल होजाता है और कभी कभी लाभभी होता है। उदाहरणके लिए डाकखानों और रेलोंपर व्यय।

एक अन्य वर्गीकरण राज्यके कर्तव्योंके आधारपर कियागया है। पहिले वर्गमें वह व्ययहै जो देशकी रक्षाके लिए कियेजाते हैं। उदाहरणके लिए सेना, पुलिस, न्यायालय और चिकित्सापर व्यय। दूसरे वर्गमें राज्यके उद्योग धन्धों और व्यापार पर कियेगये व्यय शामिल हैं—जैसे रेल, बिजली इत्यादिपर व्यय। तीसरे वर्गमें देश के आर्थिक विकास सम्बन्धी व्यय हैं। उदाहरणके लिए शिक्षा, सड़क, नहर और बन्दरगाह इत्यादिपर व्यय।

राज्यके कर्तव्योंके आधारपर दूसरे प्रकारसे भी वर्गीकरण कियागया है। इसमें दो मुख्य वर्ग हैं। एक प्रथम श्रेणीका और दूसरा द्वितीय श्रेणीका। प्रथम श्रेणी के व्ययमें रक्षा, शान्ति-स्थापना, प्रशासन और ऋण सम्बन्धी व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीमें शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक बीमा इस प्रकारके समाज-सुधार पर व्यय, राज्यके उद्योग धन्धों और निर्माण कार्योंपर व्यय सम्मिलित है। द्वितीय श्रेणीसे यह नहीं समझना चाहिए कि इनके द्वारा सम्पादित कार्योंका महत्व कम है।

एक वर्गीकरणके अनुसार राज्यके व्ययको उत्पादक और अनुत्पादक वर्गोंमें विभक्त कियागया है। उत्पादक व्यय वहहै जिनसे राज्यको इतनी आय होतीहो जिससे व्यय पूरा वसूल होजाय अथवा जिनसे समाजके आर्थिक क्षेमकी वृद्धिहो—जैसे रेल सड़क, तथा शिक्षा इत्यादिपर व्यय। अनुत्पादक व्ययसे न तो द्रव्य सम्बन्धी आय होतीहै और न समाजके आर्थिक क्षेममें ही वृद्धि। उदाहरणके लिए उस युद्ध से सम्बन्धित व्यय जिसका अन्त पराजयमें हुआ हो।

एक प्रकारका व्यय वहहै जिसके बदलेमें राज्य वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त करता है, अर्थात् व्ययको उन वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य समझसकते हैं। उदाहरणके लिए पुलिसपर व्यय कियेगये द्रव्यको पुलिसमैनोंकी सेवाका मूल्य, अध्यापकोंपर व्यय किये गये द्रव्यको अध्यापकोंकी सेवाका मूल्य समझा जासकता है। इसके प्रतिकूल दूसरे प्रकारका व्यय वहहै जिसके बदले राज्यको प्रत्यक्ष रूपमें कोई वस्तु अथवा सेवा प्राप्त नहीं होती है। उदाहरणके लिए निर्धनों और अपाहिजोंपर कियागया व्यय।

एक और वर्गीकरण देकर हम इस प्रकरणको समाप्त करेंगे। इस वर्गीकरण के अनुसार राज्यका एक व्यय इस प्रकारका होताहै जिसमें राज्य द्रव्यको केवल

हस्तान्तरित करताहै अर्थात् समाजसे द्रव्य लेकर समाजको द्रव्यही वापिस करदेता है। उदाहरणके लिए राज्यकर द्वारा समाजसे रुपया प्राप्त करताहै और उस द्रव्य के एक भागको पेन्शनके रूपमें अथवा निर्धनों और अपाहिजोंकी सहायतामें अथवा ब्याजके रूपमें समाजके व्यक्तियोंको देताहै परन्तु दूसरे प्रकारका व्यय वहहै जिस में राज्य समाजके उत्पत्तिके साधनोंको काममें लाता है। उदाहरणार्थ सड़क, नहर, पुल और शिक्षालय इत्यादिके बनानेमें राज्य जो द्रव्य व्यय करताहै उसमें वह उत्पत्ति के साधनोंका प्रयोग करता है। इस प्रकारके व्ययसे उत्पत्तिके साधनोंके वितरणमें प्रभाव पडता है। पहिले प्रकारके व्ययको हम 'हस्तान्तरित' व्यय और दूसरेप्रकार के व्ययको 'वास्तविक' व्यय कहेंगे।

राज्य के व्ययसम्बन्धी नियम

राज्यके व्ययके कार्योंमें चार नियमोंको ध्यानमें रखना आवश्यक कहागया है। पहिला नियम यहहै कि व्ययसे समाजका अधिकतम हित हो। इस नियमको कार्यान्वित करनेके लिए यह आवश्यकहै कि व्यय करनेसे पूर्व इस बातको अच्छीतरह छानबीन कर ली जानी चाहिए कि किस मदमें व्यय करनेसे समाजको अधिकसे अधिक क्षेम प्राप्त होगा। दूसरा नियम मितव्ययिताका है। मितव्ययिताका अर्थ कृपणता नही है। इसका यह तात्पर्यहै कि राज्यके द्रव्यको व्यय करनेमें उसी प्रकारकी सावधानीसे काम लेना चाहिए जिस प्रकारकी सावधानी कोई व्यक्ति अपने धनको व्यय करने में लेता है। अपव्यय और बरबादी न होनेदेनी चाहिए। तीसरा नियम स्वीकृति का है। इसका यह तात्पर्यहै कि बिना उचित अधिकारके राज्यके द्रव्यका व्यय नही होना चाहिए। पहिले अधिकारियोंसे स्वीकृति प्राप्त करलेनी चाहिए और तब व्यय करना चाहिए तथा स्वीकृतिसे अधिक व्यय नही करना चाहिए और जिसकार्य के लिए स्वीकृति मिलीहो उसी कार्यमें व्ययभी करना चाहिए। चौथा नियम आय-व्ययके सामञ्जस्यका है। इससे यह नही समझना चाहिए कि प्रत्येक अवस्थामें आय से व्यय कम होना चाहिए क्योंकि ऐसेभी अवसर आजाते हैं जबकि राज्यको ऋण भी लेनापडता है। परन्तु इस बातको ध्यानमें रखना चाहिए कि प्रतिवर्ष राज्यका बजट घाटेका बजट न हो।

केन्द्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय व्यय

भारतवर्ष जैसे बडे देशोंमें राज्यका कार्य केन्द्रीय स्तरपर ही नही परन्तु प्रान्तीय और स्थानीय स्तरपर भी होना अनिवार्य होजाता है। कौनसा कार्य किस स्तरपर होताहै यह प्रत्येक देशकी ऐतिहासिक और राजनीतिक स्थितिसे प्रभावित होता है। उदाहरणके लिए ब्रिटिश कालमें भारतवर्षमें लगभग राज्यके सभी आर्थिक कार्यो का केन्द्रीयकरण था। अब धीरे धीरे प्रान्तीयकरण होनेलगा है। इसके प्रतिकूल सयुक्त राज्यमें केन्द्र अपने कार्योके क्षेत्रको बढारहा है। केन्द्रीय, प्रान्तीय अथवा स्थानीय राज्योका व्यय उन कार्यो और कर्तव्योपर निर्भर होताहै जो उनके आधीन कियेगये हो और उनके आयके साधनो परभी निर्भर होता है।

कौनसे कार्य केन्द्रीय राज्य और कौनसे प्रान्तीय अथवा स्थानीय राज्योको सौंपे जाने चाहिए और किसप्रकार उनमें आयके साधनोका बटवारा होना चाहिए इसका कोई प्रामाणिक रूप नही है। प्रत्येक देशमें उसकी ऐतिहासिक और भौगोलिक परिस्थितियोका उसकी शासनपद्धति पर प्रभाव पडता है। साधारणत: इस बातको ध्यानमें रखना पडताहै कि कौनसे कार्य किस स्तरपर अधिक निपुणता और मितव्ययिता के साथ सम्पादित होसकते है। उस स्तरके आयके साधनोको भी ध्यानमें रखनापडता है। सामान्य तौरपर जिन कार्योका सम्बन्ध सारे देशसे हो अथवा जहा एक व्यापक दृष्टिकोणकी आवश्यकता हो और देशभर में एकता और समानताको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता हो एसे कार्य और उनका व्यय केन्द्रीय होताहै। जिन कार्योका क्षेत्र सकुचित होताहै अथवा जिनका सम्बन्ध किसी स्थान-विशेषसे होताहै अथवा जिनके सम्पादनके लिए स्थानीय विशेषताओ का अध्ययन करना पडताहै और विस्तृत रूपसे निरीक्षणकी आवश्यकता होती है ऐसे कार्य प्रान्तीय अथवा स्थानीय स्तरपर सम्पादित होने चाहिए। उदाहरण के लिए बाहरी आक्रमणसे रक्षा, डाक, तार, मुद्रा तथा विदेशोंसे सम्बन्ध इत्यादि कार्य केन्द्रीय स्तरपर, शिक्षा, चिकित्सा, न्याय, रक्षा, सडक, नहर, उद्योग धन्धे और खेती सम्बन्धी कार्य प्रान्तीय स्तरपर और प्रारम्भिक शिक्षा, जल, नाली, ट्राम, बस, रोशनी इत्यादिका प्रबन्ध स्थानीय स्तरपर अधिक कुशलताके साथ होसकता है।

राज्य के व्यय का आर्थिक प्रभाव

राज्यके व्ययका देशके आर्थिक कार्योपर बहुत प्रभाव पड़ताहै और जितनी अधिक मात्रामें राज्यका व्यय होताहै उतनाहीं वह अधिक प्रभावोत्पादक भी होता है। राज्यकी आय समाजकी आयका ही भाग होता है। यदि यह आय राज्य द्वारा व्यय न होकर समाजके व्यक्तियां द्वाराही व्यय होती तो यह सम्भवहै कि वह उन मदों पर और उन परिमाणोंमें व्यय न होती जैसीकि राज्य द्वारा होती है। अतएव हम इस परिणामपर पहुंचतेहैं कि राज्य अपनी व्यय-नीतिसे समाजकी आयका एकभाग इस प्रकारके कार्योंमें लगाताहै जिनमें बिना उसके हस्तक्षेपके वह न लगाया जाता अथवा कमसे कम उतनी मात्रामें न लगता। इसके परिणाम स्वरूप देशकी उत्पत्ति के साधनाके आर्थिक कार्योंके वितरणमें भिन्नता होजाती है। अब प्रश्न यह है कि उत्पत्तिके साधनोंके प्रवाहकी दिशाको बदलनेसे समाजका हितहोगा अथवा अहित यह बहुत गम्भीर विषय है। हमको दो प्रकारकी आर्थिक स्थितियोंको तुलना करनी पड़ती है। एक स्थिति समाजमें उत्पत्तिकी मात्रा और उसके वितरणमें राज्यके हस्तक्षेप करनेके पूर्वकी है दूसरी स्थिति उत्पत्तिकी मात्रा और उसके वितरणपर राज्यके अपनी व्ययनीति द्वारा प्रभाव डालनके बादकी है। इन दो प्रकारकी आर्थिक स्थितियाकी तुलना करनेपर यदि हम इस परिणामपर पहुंचें कि राज्यके हस्तक्षेप करनेके बादकी आर्थिक स्थितिसे समाजका अधिक हित होताहै तो हम कहसकते है कि राज्यके व्ययसे उत्पत्तिके साधनाको भिन्न भिन्न व्यवसायोपर वितरण करनेमें जो परिवर्तन हुआ वहवांछित है। उदाहरणके लिएयदि समाजकी कुछ आय बेकार पड़ीहै और उत्पत्तिके कुछ साधनभी बेकार पड़ेहो तो ऐसी अवस्थामें यदि राज्य उस द्रव्यको कर के रूपमें लेकर उत्पत्तिके बेकार साधनोंको काममें लगानेके तो इस से निस्सन्देह उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी। इसीप्रकार यदि राज्य अपनी कर और व्यय-नीति द्वारा हानिकारक विलासिताकी वस्तुओंसे उत्पत्तिके साधनोंको कम कर के उनको जीवन-निर्वाह अथवा निपुणतादायक वस्तुओंके उत्पादनमें लगाये तो इस से समाजका हितही होगा। इसके प्रतिकूल यदि राज्य अपनी आयका कुछ हिस्सा बरबाद करे जिसको समाजके लोग उपयोगी कार्योंमें लगाते तो इससे समाजकी हानि होगी।

मोटे तौरपर हम कहसकतेहैं कि राज्यके व्ययके द्वारा समाजका अधिकतम हित करनेके लिए यह आवश्यकहै कि उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धिहो, उसकी भिन्न भिन्न मदो में सन्तुलन हो, वितरणकी असमानता कम हो और आर्थिक अस्थिरतामें भी कमी हो। अब हम यह बतानेकी चेष्टा करेंगे कि राज्यके व्ययसे किसप्रकार और किस अशतक इनमें सफलता प्राप्त होसकती है।

राज्य के व्यय पर उत्पादन का प्रभाव

राज्यके वह व्यय जिनसे रक्षा, शान्ति और न्यायका प्रबन्ध होताहै, उत्पादन कार्यके लिए आवश्यक है। परन्तु यह देखागया है कि इन मदोपर विशेषकर बाहरी आक्रमण से रक्षाके लिए बहुत व्यय कियाजाता है। यदि प्रत्येक देश इस मदमें बीस प्रतिशत वृद्धि करदे तो रक्षाका स्तर तो पूर्ववत्ही रहेगा परन्तु इसी परिमाणमें उत्पादनके साधन अन्य मदोसे निकालकर इन मदोपर लगाये जायेंगे। इसके प्रतिकूल यदि प्रत्येक देश अपनी रक्षाके व्ययमें बीस प्रतिशत कमी करदे तो उत्पत्तिके कई साधन अन्य आर्थिक प्रयोजनोंके लिए बचजायेंगे जिनसे समाजका अधिक क्षेम होगा। यदि अन्तर्राष्ट्रीय-सुरक्षा सस्थाओं द्वारा ससारभर में शान्तिका समुचित प्रबन्ध होसके तो इससे प्रत्येक देशमें रक्षापर व्यय कम होगा और उत्पादनके साधन जो युद्ध सामग्रियोके बनानेमें लगेहुए है, अन्य लाभदायक पदार्थोको बनानेके लिए प्राप्त हो सकेंगे।

सामाजिक दृष्टिकोणसे इस प्रकारका राज्यका व्यय वाछनीयहै जिससे उत्पादक शक्ति बढे। इस प्रकारके व्ययमें शिक्षा, चिकित्सा, अन्वेषण, यातायातके साधन, सिचाई और सामाजिक सुरक्षापर व्यय सम्मिलित है। इसीप्रकार पूजीकी वृद्धिभी उत्पादनको बढानेके लिए आवश्यक है। यदि राज्यकी व्यय-नीति द्वारा नयी पूजी बनानेमें सहायता मिले तो इससे भी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी। राज्यके व्यय से उत्पत्तिके परिमाणमें ही वृद्धि नही होतीहै अपितु उत्पत्तिके अन्तर्गत भिन्न भिन्न वस्तुओंकी मात्राओंमें भी सन्तुलन किया जासकता है। यदि समाजके हितकी दृष्टि से कपास अधिक परिमाणमें उत्पन्न करना आवश्यकहो तो राज्य इस व्यवसाय को आर्थिक सहायतादेकर प्रोत्साहन देसकता है। आवश्यकता होनेपर राज्य स्वय ऐसे

उद्योग धन्धोंका राष्ट्रीयकरण कर सकता है जिनकी उत्पत्ति और मूल्यका नियन्त्रण समाजके हितके लिए हो।

उत्पत्तिका परिमाण लोगोंकी काम करनेकी इच्छापर भी निर्भर होता है। यदि राज्यके व्ययसे लोगोंके काम करनेकी इच्छामें ह्रास हो तो इससे उत्पत्तिकी हानि होना सम्भव है। यदि लोगोंको बिना किसी बन्धनके राज्यसे आर्थिक सहायता मिलनेकी आशा हो तो सम्भव है कि कुछ लोगोंपर इसका प्रभाव कामसे जी चुराने पर पड़े। परन्तु यदि आर्थिक सहायता बीमार पड़नेपर अथवा अनिच्छामयी बेकारीके समय दी जाय तो इससे काम करनेकी इच्छाओंमें कमी नहीं होगी।

आधुनिक कालमें राज्यके व्यय द्वारा आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता लानेको तथा मन्दी और बेकारीको कम करनेको बहुत महत्व दिया जा रहा है। अनुभवसे ज्ञात हुआ है कि पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें स्थिरता नहीं रहती है। समय समयपर इसमें मन्दी और बेकारी उत्पन्न होजाती है। राज्यका यह कर्तव्य समझा जाता है कि वह इन व्याधियोंसे समाजकी रक्षा करे। अन्य उपायोंके साथ साथ राज्यकी व्यय नीति भी इस कार्यमें सहायता कर सकती है। यह आशा की जाती है कि अपने सार्वजनिक निर्माणके कार्योंके द्वारा राज्य आर्थिक मन्दीको रोकथाम कर सकता है। मन्दीके अवसरपर पूंजीपति उत्पत्तिकी मात्रामें शिथिलकर उत्पादक वस्तुओंके उत्पादनमें कमी करदेते हैं जिससे उत्पत्तिके साधनोंमें बेकारी होने लगती है। ऐसे अवसरपर यदि राज्य सार्वजनिक निर्माण कार्यमें वृद्धि करे तो बेकारोंको रोजगार मिलेगा उनकी आयमें वृद्धि होगी और उपभोग्य वस्तुओंकी मांगमें वृद्धि होनेके कारण अन्य व्यवसायोंका उत्थान होने लगेगा। एक बातसे अवश्य सावधान रहना पड़ेगा कि राज्यके कार्य अन्य व्यवसायोंसे प्रतिस्पर्धा न करें नहीं तो जिस परिमाणमें राज्य द्वारा उत्पादनके साधनोंको काम मिलेगा उसी परिमाणमें अन्य व्यवसायोंमें बेकारी होगी। यह भी आवश्यक है कि राज्य बेकारीको कम करनेके लिए कोई भी कार्य बिना किसी योजनाके आरम्भ न करे। इससे उत्पत्तिके साधनोंकी बरबादी होनेकी सम्भावना रहती है। मन्दी और बेकारी आनेके बहुत पहिलेसे ही राज्यको निर्माण-कार्यकी योजनाएं तैयार रखनी चाहिए। इस बातका भी ध्यान रखना पड़ता है कि इन निर्माण कार्योंमें लगानेके लिए द्रव्य अधिक मात्रामें कर द्वारा नहीं वरन ऋण लेकर प्राप्त करना चाहिए। मन्दीके समय द्रव्यके चलनमें वेग लानेकी आवश्यकता है।

करके भारकी अधिकतासे सम्भव है कि पूंजीके लगावकी मात्रामें औरभी कमी आ जाय। इसलिए राज्यको उस द्रव्यको जो समाजमें बेकार पडा हुआ हो, ऋणके रूपमें प्राप्तकर उसको निर्माणके कार्यमें लगाकर उसके चलनके वेगमें वृद्धिकी चेष्टा करनी चाहिए।

राज्य के व्यय का वितरण पर प्रभाव

पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें धनके वितरणमें बहुत असमानता होजाती है। अतएव यदि राज्यके व्ययके द्वारा इस असमानतामें कमी होसके तो इससे समाजके आर्थिक क्षेममें वृद्धि होगी। अनेक प्रकारसे राज्य गरीब लोगोंकी आयमें वृद्धि करके असमानता कम करसकता है, बेकारों और अपाहिजोंको आर्थिक सहायता देकर गरीबों के लिए निःशुल्क शिक्षा और चिकित्साका प्रबन्ध करके इस वर्गकी आर्थिक स्थिति सुधारी जासकती है। इसीप्रकार से मजदूरोंके लिए सस्ते मकान बनवाकर और जिन जीवन निर्वाह और निपुणता दायक पदार्थोंका गरीब लोग अधिक मात्रामें सेवन करतेहैं, उन व्यवसायोंको आर्थिक सहायता देकर उनका मूल्य कम करवाके भी इनकी वास्तविक आयमें वृद्धिकी जासकती है। आधुनिक कालमें प्रत्येक देशमें राज्यकी आयके एक बडे हिस्सेको सामाजिक-सुरक्षाकी मदोंमें व्यय करनेकी प्रवृत्ति होरही है। इसका अधिक लाभ गरीब लोगोंको मिलता है। क्योंकि इस व्ययका एक बडा भाग धनी लोगोंसे वर्द्धमान कर के रूपमें लियाजाता है। इसीलिए यह आशा कीजाती है कि इस प्रकारकी नीतिसे धनके वितरणकी असमानतामें कमी होगी।

कभी कभी राज्यके व्ययसे असमानतामें वृद्धिभी होजाती है। यदि राज्यके ऊपर बहुत अधिक ऋणहो और राज्यके साहूकार धनी वर्गके लोग हों तो उनको एक बडी रकम ब्याजके रूपमें मिलजाती है। यदि इस रकमका कुछ हिस्सा गरीब लोगोंसे करके रूपमें वसूल कियाजाय तो इससे असमानतामें वृद्धि होगी। जिस देशमें अप्रत्यक्ष करोंकी प्रधानता है, जिनका भार अधिक मात्रामें गरीबोंपर पडता है और यदि इस देशमें सामाजिक-सुरक्षाकी मदोंमें राज्य बहुत कम द्रव्य व्ययकरे तो ऐसी अवस्था में वितरणकी असमानतामें वृद्धि होगी। कुछ काल पूर्व भारतवर्षमें यह अवस्थाथी।

३३

राज्य की आय

राज्य की आय की मदें

हम देखचुकेहैं कि आधुनिक कालमें राज्यके आर्थिक कार्यों और कर्त्तव्योंकी संख्या बहुत बढगयी है और बढती जारही है। इन कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यको साधन चाहिए। अन्ततोगत्वा ये साधन वस्तुओं और सेवाओंके रूपमें ही होतेहैं परन्तु आदिमें ये साधन राज्यको द्रव्यके रूपमें इकट्ठा करने पडते है। आधुनिक कालमें राज्यकी आयका एक बडा भाग जनतासे कर के रूपमें वसूल कियाजाता है। यह भाग कुल आयका दो तिहाईसे तीन चौथाई तक होता है। प्राचीन कालमें राजाओं और राज्यके पास अपनी निजकी सम्पत्ति अधिकतर भूमिके रूपमें होतीथी जिसकी आयसे राज्यके सीमित कार्य अधिकतर सम्पादित होते थे। विशेष अवस्थामें जैसे युद्धकालमें राज्य अपनी प्रजासे दबाव डालकर आवश्यक सामग्रिया प्राप्त करलेता था। परन्तु आजकल राज्योंके पास अपनी सम्पत्ति बहुत थोडी रहतीहै किन्तु उस की आवश्यकताए बढगयी है। दबाव डालकर सामग्रिया प्राप्त करनेकी प्रथाभी अब बहुतकम काममें लायी जाती है। इसलिए राज्यको अपनी आयको बढानेके लिए कर-प्रणाली की व्यवस्था करनी पडी है।

कर से राज्यको सबसे बडी आयहोती है। कर वह रकमहै जो प्रजाको राज्यको अवश्यमेव देनी पडती है। इसके भुगतानमें इस बातका विचार नही होनाहै कि कर देनेवालको उस रकमके बराबर राज्यसे प्राप्ति हो। करका परिमाण किस सिद्धान्त के अनुसार निश्चित कियाजाना है उसका विवेचन एक स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा। परन्तु कर की अपेक्षा कुछ अन्य मदेंभी है जिनसे राज्यको आय होती है। पहिले इन मदोंपर प्रकाश डालकर हम इनका वर्गीकरण करेंगे।

सबसे पहिले हम राज्यकी सम्पत्तिसे प्राप्त होनेवाली आयकी विवेचना करेंगे।

प्राचीनकालमें राज्यकी प्रधान सम्पत्ति भूमिके रूपमें थी जिसमें खेती होती थी। इनसे राज्य को पर्याप्त मात्रामें आयहो जातीथी, परन्तु आजकल इसरूपमें राज्य के पास भूमि बहुत कमहै जिसमें राज्यकी ओरसे खेती होतीहो और खेतीके कार्य से उसको आय हो। जगलोके रूपमें राज्यके पास विस्तृत भूमि अबभी रहती है। जगलोसे विविध रूपमें जैसे लकडी, घास, वनस्पति और जगलोमें उत्पन्न हुई वस्तुओंको बेचनेसे राज्यको कुछ आयतो अवश्यही होतीहै, परन्तु जगलो को राज्य के अधीन रखनेका मुख्य उद्देश्य आय नही है। जगलोके सरक्षणका मुख्य उद्देश्य बाढ की गतिको और सतहकी उपजाऊ मिट्टीको बहनेसे रोकना है। इसीप्रकार राज्य खानोवाली भूमि का भी सरक्षण करता है जिससे वर्तमान पीढी सभी खनिज पदार्थों का अपने काममें लाकर भविष्यकी पीढियो को वचित न करदे। लाइसेंसदारोसे राज्यको अवश्यही रॉयल्टी (मालकाना) मिलती है।

राज्य के उद्योग-धन्धे

राज्यको कुछ आय अपने उद्योग-धन्धोमे भी होती है। उदाहरणके लिए भारतवर्ष में केन्द्रीय सरकारको रेलमे और स्थानीय सरकारोको ट्राम और बसोमे आय होती है। परन्तु राज्यके उद्योग-धन्धोका ध्येय हमेशा आयही नही होता है। प्राय: राज्य उन उद्योग-धन्धोको अपने हाथमें लेताहै जिनका समाजके क्षेमसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो। कुछ इस प्रकारके व्यवसाय होतेहै जो समाजके लिए हितकारी है, परन्तु उनपर पूजीपति रुपया लगानेको तैयार नही होतहै, क्योकि उनपर प्रारम्भिक व्यय बहुत मात्रामें करना पडता है और लाभकी आशा बहुत कम अथवा दीर्घकालके बाद होतीहै जैसे जगल लगाना और नहरें बनवाना आदि। कुछ उद्योग-धन्धोका राष्ट्रीयकरण इसकारण होताहै कि उनका सम्बन्ध युद्धसे रहताहै जैसे अस्त्र शस्त्रके कारखाने। कुछ सार्वजनिक सेवाए जैसे पानी, बिजली इत्यादि इस प्रकारकी होतीहै जिनका यदि राज्य द्वारा प्रबन्ध न हो तो स्वतन्त्र एकाधिकारियो के हाथमें पडनेसे उनके मनमाने मूल्य लियेजाने की सम्भावना रहती है। अत. हम देखते है कि इनका प्रबन्ध म्यूनिसिपेल्टियों द्वारा होता है। कभी कभी एकाधिकारी की शक्तिको कम करनेके लिए और प्रतियोगिताका समावेश करनेके लिएभी राज्य

को उस व्यवसायमें हिस्सा लेनेको प्रेरित कियाजाता है। हानिकारक पदार्थोंके उत्पादन और व्यापारका नियन्त्रण करनेके लिएभी राज्य ऐसे धन्धोंको अपने अधीन रखना चाहता है। भारतवर्षमें अफीमका व्यापार इसका उदाहरण है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्य केवल आयके निमित्त ही उद्योग-धन्धोंको अपने हाथमें नहीं लेता है। इस नीतिके अन्तर्गत राज्यके उद्योग-धन्धोंमें उत्पन्न हुई वस्तुओं और सेवाओंका मूल्य निर्धारण करनाभी रहता है। यदि राज्यको अपनी आय अधिकतम करनीहो तो वह ऐसे मूल्य निर्धारित करेगा जिनसे उसको अधिकतम लाभ हो। परन्तु अनेक एस उदाहरण मिलतहैं जहां यह मूल्य केवल लागतके बराबर होता है। कभी कभी बिना मूल्यके भी राज्यसे सेवाएं और वस्तुएं मिलती हैं। उनकी लागत राज्यकी आयसे पूरीकी जाती है। पोस्टकार्ड को केवल लागत पर बेचना, मजदूरों को लागतसे कम किराये पर मकान देना, नि:शुल्क शिक्षा और चिकित्सा इसके उदाहरण हैं। आंकड़ोंसे पता चलताहै कि राज्यके उद्योग-धन्धोंसे अधिक आय नहीं होती हैं। वर्तमान कालमें कुछ राज्य प्रधानत: आयके लिए कुछ उद्योग-धन्धोंका राष्ट्रीयकरण करना चाहते हैं। यदि बड़ी मात्रा में इस प्रवृत्तिका विकासहो तो सम्भवहै कि भविष्यमें इस मदसे राज्यको पर्याप्त आय होने लगे।

प्रशासनकारी आय

शासन सम्बन्धी कार्योंमे भी राज्यको कुछ आय होजाती है। राज्यके कुछ ऐसे विभाग होतेहैं जिनका उपयोग करनेके लिए फीस देनी पड़ती है। उदाहरणके लिए न्यायालयका उपयोग करनेके लिए कोर्टफीस देनीपड़ती है। इसीप्रकार दस्तावेजोंकी रजिस्ट्री करानेके लिए फीस देनी पड़तीहै जिससे उसपर राज्यकी मुहर लग जानेसे दस्तावेज सम्बन्धी लेन-देन अथवा क्रय-विक्रय राज प्रमाणित हो जाता है। जनताको अनेक उद्योग-धन्धोंको चलानेके लिए लाइसेंस लेना पड़ता है। लाइसेंस प्राप्त करनेसे किसी कामको करनेकी अनुमति मिलजाती है और लाइसेंस लेनेके लिएभी रुपया जमा करना पड़ताहै जिससे राज्यको आय होती है। इस प्रकार हम देखतेहैं कि फीस और लाइसेंस से आयके साथ साथ नियन्त्रणका

कामभी लिया जाता है। यह नही समझना चाहिए कि फीससे विभागका पूरा व्यय निकल आता है। फीसकी दर निर्धारित करते समय इस बातको महत्व नही दिया जाता है।

थोडीसी आय राज्यको जुर्माने और दडसे भी होजाती है। राज्यके नियमोंका उल्लघन करनेपर दड दियाजाता है। कभी कभी यह दड द्रव्यके रूपमें वसूल कियाजाता है, जिसको जुर्माना कहते है। कुछ आय भेंटके रूपमें भी होजाती है। कुछ लोग राज्यको पाठशाला, चिकित्सालय, पुस्तकालय खोलनेके लिए रुपया देतेहै अथवा युद्धके समय रुपयो और अन्य वस्तुओसे सहायता करते है। कभी कभी लावारिस माल भी सरकारके हाथ लगजाता है। परन्तु इनसब मदोकी आय बहुतही कम होतीहै और इस पर अधिक भरोसा नही किया जासकता है।

एक विशेष प्रकारका देय होताहै जो कर से मिलता जुलता होताहै। राज्य इस देयको उन लोगोसे वसूल करताहै जिनकी सम्पत्तिको उसके किसी कार्य विशेष से प्रत्यक्ष लाभ हुआहो और इस देयके अनुपातका आधार लाभकी मात्रा रहती है। उदाहरणके लिए यदि किसी स्थानमें पानीके बहावका उचित प्रबन्ध किया गयातो उससे उस स्थानके मकानो और दुकानोका मूल्य बढ जायगा। नाली बनानेमें, सडकको ठीक करने इत्यादिमें म्यूनिसिपैल्टीका जो व्यय हुआ उसको वह इस विशेष देय द्वारा उन लोगोसे वसूल करलेतीहै जिनके मकानो अथवा भूमिके मूल्यमें वृद्धि हुई। यह देय अनिवार्य होताहै और इसीलिए यह कर से मिलता जुलताहै परन्तु यह एक विशेष लाभके बदलेमें लियाजाताहै इसकारण यह कर से भिन्न है।

प्राचीन कालमें विशेषकर युद्धकालीन सकटावस्थामें कई राज्योने अविनिमय-साध्य नोटोंको छापकर उनसे अपनी आय बढाई और उससे सैनिकोको वेतन देनेका और सामग्रियोके मूल्यके भुगतान करनेका काम लिया। इससे द्रव्यके अत्यधिक प्रसार होनेके कारण तत्सम्बन्धी आर्थिक व्याधियोंका सृजन होता है। अतएव आधुनिक कालमें यह उपाय बहुत निन्दात्मक समझा जाताहै और इसका प्रयोगभी इस रूपमें नही कियाजाता है। एक असाधारण प्रकारकी आय ऋण लेनेसेभी होती है। यह असाधारण इसलिए है कि भविष्यमें इसको लौटाना पडता है। इस विषय का आजकल बहुत महत्व होगया है। इसीलिए हम इसको एक स्वतन्त्र अध्याय देंगे।

राज्य की आय का वर्गीकरण

जिस सिद्धान्तपर राज्यके व्ययका वर्गीकरण कियागया था, उसी सिद्धान्तपर आय-का वर्गीकरण भिन्न भिन्न लेखकोंने भिन्न भिन्न आधारपर किया है। इनमेंसे मुख्य मुख्य वर्गीकरणो को आगे दियाजाता है।

एक पुराने वर्गीकरणके अनुसार राज्यकी आयको दो हिस्सोमें विभाजित किया गया है। एक हिस्सेमें राजा अथवा राज्यकी सम्पत्तिकी आय और दूसरे हिस्सेमें प्रजासे प्राप्त आय रक्खीजाती है। एक और वर्गीकरणसे आयके तीनभाग किये गये हैं। पहिले भागमें वह आयहै जो राज्यको अपनी सम्पत्तिसे, अपने उद्योग-धन्धोसे, दान और भेंटमे अथवा अपहरणसे प्राप्त होती है। दूसरे भागमें वह आय है, जो कर, फीस, विशेष-देय और जुर्मानेसे प्राप्त होती है। तीसरे भागमें वह आय शामिल है जो ऋणसे प्राप्त होती है। तीसरे वर्गीकरणके भी तीन भाग हैं। पहिले भागमें वह आयहै जो स्वतन्त्र रूपसे होतीहै जैसे दान, भेंट। दूसरे भागकी आय नियतात्मक होतीहै जैसे राज्यकी सम्पत्ति और उद्योग-धन्धोसे आय। तीसरे भाग में अनिवार्य-देय आय शामिलहै जैसे कर, फीस, जुर्माना विशेष देय इत्यादि। एक और वर्गीकरणमें राज्यकी आय दो भागोमें विभक्तहै। पहिले भागको साधारण आय कहतेहैं जिसमें कर, फीस, राज्यकी सम्पत्ति और उसके उद्योग-धन्धोकी आय शामिल है। दूसरे भागको असाधारण आय कहते है। इसमें राज्यकी सम्पत्तिको बेचनसे अथवा ऋणसे प्राप्त होनेवाली आय शामिल है। आधुनिक कालमें जो वर्गीकरण प्रचलितहै उसके अनुसार राज्यकी आयके दो बड़े भाग किये गये हैं। पहिले वर्गमें वह सब आय शामिलहै जो करोसे प्राप्त होतीहैं और करोके अतिरिक्त आय जैसे राज्यकी सम्पत्ति और व्यवसायोसे प्राप्त, प्रशासन सम्बन्धी मदोसे प्राप्त और ऋणसे प्राप्त दूसरे भागमें रखी गयी है।

राज्य की अच्छी आय-पद्धति की विशेषताए

राज्यकी आय-पद्धति को समाजके आर्थिक कार्योमें एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अतएव इसकी व्यवस्था और नियापर विशेष ध्यान देनापड़ता है। आधुनिक

कालमें सभी देशोंकी आय पद्धतिमें करोंको विशेष स्थान प्राप्त है, क्योंकि इसी मद से अधिकतम आय होती है। इसीलिए अच्छी आय-पद्धतिकी विशेषताएं अच्छी कर-प्रणालीपर अधिकांश रूपसे लागू होती हैं।

एक बात ध्यानमें रखनेकी है कि सारी आय-पद्धतिको सम्पूर्ण रूपसे देखना चाहिए। उसके एक हिस्सेको लेकर किसी निर्णय पर पहुंच जाना उचित नहीं है। प्रायः ऐसा सम्भव है कि एक कर अलगसे इस प्रकारका हो जिसका भार गरीब लोगोंपर अधिक हो परन्तु दूसरी ओर यह भी हो सकता है कि सभी करोंका सामूहिक प्रभाव इस प्रकारका हो कि धनी लोगोंपर अधिक भार और गरीबोंपर कम भार पड़े। अच्छी आय-पद्धतिके अवयव सन्तुलित रूपसे एक दूसरेसे सम्बन्धित होने चाहिए। उनमें विशृंखलता नहीं होनी चाहिए। यदि राज्यकी आयको बढ़ाना है तो यह नहीं होना चाहिए कि आयकी किसी मदको लेकर उसकी दर बढ़ा दी जाय। प्रत्येक मदको पूरे प्रकरणमें अध्ययन करके किसी निश्चय पर पहुंचना चाहिए।

अच्छी आय-पद्धतिका मुख्य गुण यह है कि समाजके ऊपर उसका भार कमसे कम हो। यह तभी हो सकता है जबकि भिन्न भिन्न श्रेणीके व्यक्तियोंपर उसका भार उचित रूपसे विभाजित हो। उदाहरणके लिए यह मानी हुई बात है कि अप्रत्यक्ष करोंका भार गरीबोंपर अधिक होता है और प्रत्यक्ष करोंका धनी लोगों पर। अतएव यदि किसी देशमें अप्रत्यक्ष करोंकी प्रधानता हो तो कर-प्रणाली न्यायानुकूल नहीं कही जा सकती है। इस विषयपर अधिक प्रकाश अगले अध्यायमें डाला जायगा।

उत्पादक आय पद्धतिका एक विशेष गुण समझा जाता है। यदि और सब बातें यथावत् हों तो वह आय-पद्धति अधिक उपयुक्त समझी जाती है जो अधिक उत्पादक हो। राज्यको आयकी आवश्यकता है। यदि पद्धतिमें और सभी गुण विद्यमान हों, परन्तु आय बहुत अपर्याप्त हो तो ऐसी आय-पद्धति किस कामकी। अतएव आय-पद्धतिकी और उसके अवयवोंकी ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे राज्यको पर्याप्त मात्रामें अनवरत आय होती रहे। इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि आय अनवरत हो। यदि राज्य एक ही वर्ष जंगलके सभी पेड़ काटकर लकड़ी बेच डाले तो इससे उस वर्षमें तो बहुत आय होगी परन्तु अगले वर्षोंमें जंगलोंसे प्राप्त आय बन्द हो जायगी। इसीप्रकार यदि करोंकी दर इतनी बढ़ादी जाय कि पूंजी-

पतियोका उत्साह भग होजाय और उत्पत्तिकी मात्रा और राष्ट्रीय आयका ह्रास होनेलगेतो इससेभी राज्यकी आय कम होने लगेगी। अन्ततोगत्वा राज्यकी आय समाजकी आयपर निर्भर है। यदि समाज सम्पन्न होगा तो राष्ट्रभी अपनी आय सुगमतासे बढा सकेगा। इसलिए यह आवश्यकहै कि कर इस प्रकारके हो और ऐसी मात्रामें लगाये जायें कि उत्पत्तिके स्रोत सूखने न पायें। जहातक होसके राज्य को अपनी आय-पद्धतिको देशकी आर्थिक-पद्धतिके अनुकूल बनाकर उत्पादन कार्योंमें स्थिरता और वृद्धि लानेकी चेष्टा करनी चाहिए, उत्पादनके अन्तर्गत आय को एकत्र करनेमें मितव्ययिता भी शामिल है।

अच्छी आय-पद्धतिमें लोच हानाभी आवश्यकहै अर्थात् आय-पद्धति और उसके अवयव इस प्रकारके होने चाहिए कि आवश्यकतानुसार उनसे आय सुगमतासे घटायी और बढायी जासके। कभी कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाती है जैसे युद्धकाल में जबकि शीघ्रतासे आयको बढानेकी आवश्यकता पडजाती है। ऐसी परिस्थिति में यदि आय-पद्धतिमें लोच न होतो उसको समयानुकूल नही बनाया जासकता। आयमें आवश्यकतानुसार घटबढ करनेके लिए दो बातोंको ध्यानमें रखना पडता है। एकतो यह कि पद्धतिकी मदें विस्तृतहो और दूसरी बात यहहै कि साधारण अवस्थामें इनसभी मदोसे अधिकतम प्राप्य आय वसूल न कीजाय अर्थात् सकटावस्था के लिए कुछ अवकाश रखना चाहिए।

आय-पद्धतिमें विशेषकर कर-प्रणालीमें एकबात ध्यानमें रखनी चाहिए कि कर देनेवालोंको अकारण कष्ट और झझट न हो। राज्यके प्रति उनका सद्भाव बनारहे इसकेलिए यह आवश्यकहै कि कर का परिमाण निश्चितहो और देनेकी विधि और काल सुविधाजनक हो। कर वसूल करनेवाले कर्मचारी स्वेच्छाचारिता न करने पावें। साथही आय पद्धति सुगम और सुबोध होनी चाहिए। इससे भी कर वसूल करनेमें सहायता मिलतीहै और करदेन वालाका विरोधभी कम होजाता है।

जैसा हम ऊपर सकेत करआयेहै, आय-पद्धति विस्तृत होनी चाहिए अर्थात् एक या दो मदो तकही सीमित नही रहनी चाहिए। अगले अध्यायमें हम एककर-प्रणाली और बहुकर-प्रणालीकी विवेचना करेंगे। यहापर इतनाही कहकर हमें इसप्रकरणको समाप्त करतेहै कि भिन्न भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे कर प्राप्त करनेमें सुविधा, सुगमता और मितव्ययिता होती है।

३४

कर-प्रणाली

कर की उत्पत्ति और विकास

पिछले अध्यायमें बताया गयाहै कि आधुनिक कालमें राज्यकी आयका एक बहुत बडा हिस्सा करोंसे प्राप्त होताहै जो प्रजासे अनिवार्य रूपसे राज्यके कार्योंके लिए वसूल कियेजाते हैं। आजकल करोंकी अनिवार्यताका विरोध नहीं होताहै, परन्तु प्रारम्भमें जब इस नीतिका प्रयोग कियागया तब इसका विरोध हुआ। लोगोंको इस बातका विश्वास धीरे धीरे हुआ कि करोंसे राज्यको जो आय होतीहै, उसको राज्य ऐसी मदोंमें व्यय करताहै जिनसे समाजके व्यक्तियोंकी इस प्रकारकी आवश्यकताओंकी पूर्ति होतीहै जिनको वे व्यक्तिगत स्तरपर अच्छी तरह पूरी नहीं करसकते हैं। यदि पूरी कर भी सकें तोभी उनको रुपया व्यय करनाही पडगा। उदाहरणके लिए राज्य द्वारा रक्षा शिक्षा और चिकित्सा इत्यादिका प्रबन्ध होता है। इनसे सभीको लाभ होताहै और यदि राज्य इनका प्रबन्ध न करता तो व्यक्तिगत रूपसे इनका प्रबन्ध करना पडता। जब लोग कर देतेहैं तो उनको यह समझकर सन्तोष करना चाहिए कि इन मदोंपर स्वय व्यय न करके वह रुपया राज्यको देतेहैं जो इनका प्रबन्ध करता है। यहातक बात समझमें आतीहै कि समाजके लोगों को अपने हितके लिए राज्यको साधन उपलब्ध करने चाहिए। अन्ततोगत्वा इन साधनोंकी आवश्यकता श्रम तथा वस्तुओंके रूपमें होती है। द्रव्यमयी आर्थिक पद्धतिमें यह साधन द्रव्यके रूपमें ही अधिक उपयुक्त होते हैं। परन्तु जब यह प्रश्न उठताहै कि कौन व्यक्ति कितना दे तब कठिनाई का सामना करना पडता है। किस व्यक्तिसे कितना रुपया कर के रूपमें लियाजाय इसको अधिकारियोंकी स्वेच्छाचारितापर नहीं छोडा जासकता है। इसका निर्णय किसी सिद्धान्तके अनुसार होना चाहिए।

कर के सिद्धान्त

इस प्रकरणमें दो सिद्धान्त प्रतिपादित हुए हैं। इनमेंसे एकको 'लाभ-सिद्धान्त' और दूसरेको 'शक्ति अथवा क्षमता सिद्धान्त' कहते हैं। लाभ-सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको राज्य-कोषमें इतना द्रव्य करके रूपमें देना चाहिए जितने बराबर राज्य के कार्योंसे उसको लाभ हुआ हो। सरसरी तौरपर बाततो ठीक मालूम देतीहै कि यदि राज्यको कर इसलिए दियेजातेहैं कि उनसे समाजका लाभ होताहै तो प्रत्येक व्यक्तिको लाभके अनुपातमें ही करदेना चाहिए, परन्तु जब इस सिद्धान्तको कार्य रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा कीजाती है तो कई समस्याए सामने आती हैं। पहिली बात तो यहहै कि राज्यद्वारा अनेक प्रकारकी सेवाए उपलब्ध होतीहैं जिनमें से कई ऐसीहैं जिनसे प्राप्त लाभको व्यक्तिगत स्तरपर मापना असम्भवसा ही है। उदाहरण के लिए मान लीजिए उत्तर प्रदेशकी सरकार ६ करोड रुपया प्रतिवर्ष पुलिस पर व्यय करतीहै जिससे प्रान्तमें शान्ति बनी रहे। इस सामाजिक सेवासे कितना लाभ श्री उमाकान्तको हुआ, इसको रुपये-आने-पाईमें प्रकट करना असम्भव मालूम पडता है। यही समस्या सेनापर, स्वास्थ्य-रक्षा सम्बन्धी कार्योंपर और एडमापग व्ययकी भी है। यदि किसी प्रकारसे इस बातका हिसाब लगाभी लियाजाय कि प्रत्येक व्यक्तिको राज्यके कार्योंसे कितना लाभ हुआ तो दूसरी समस्या यह उत्पन्न होतीहै कि क्या प्रत्येक व्यक्तिसे प्राप्त हुए लाभके अनुसार कर वसूल करना न्याय-सगत है। इस युगमें राज्य अपनी आयका एक बडा हिस्सा ऐसे कार्योंमें व्यय करता है जिससे निर्धना, अपाहिजो, बेकारो, विधवाओ, अनाथो और बूढा इत्यादि प्रकार के वर्गोंको लाभ होता है। क्या इन लोगोंसे यह कहना न्यायसगत होगा कि जितना लाभ उनको राज्यद्वारा हुआहो उसी अनुपातमें वे करके रूपमें राज्य-कोषमें रुपया जमा करदें? यह तो मूर्खताकी बात होगी। अत इस लाभ-सिद्धान्तके बारेमें हम इतनाही कहसकते हैं कि सारे समाजके दृष्टिकोणसे इस बातमें कुछ सार है कि सबको मिलकर राज्यको समाज-हित कार्योंके लिए पर्याप्त द्रव्य कर के रूपमें देना चाहिए। परन्तु प्रत्येक व्यक्तिके भागका निर्णय इस सिद्धान्तके आधारपर करना बहुत कठिन ही नही, प्रत्युत अनेक परिस्थितियोंमें अनुचितभी है।

लाभ-सिद्धान्तका ही प्रतिरूप एक सिद्धान्त औरभी प्रतिपादित कियागया है

जिसको लागत-पूरक अथवा क्षति-पूरक सिद्धान्त भी कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार राज्यको लागतके अनुपातमें कर लेना चाहिए अर्थात् किसी व्यक्तिको कोई सेवा उपलब्ध करनेमें जितना राज्यका व्यय होताहै उतनाही उस व्यक्तिसे कर लेना चाहिए। इस सिद्धान्तको कार्यरूपमें परिणत करनेमें भी वेही कठिनाइया होतीहैं जिनका लाभ-सिद्धान्तमें विवेचन किया जाचुका है। सार्वजनिक सेवाओंको उपलब्ध करनेसे राज्य द्वारा प्रत्येक व्यक्तिका जो लाभ हुआहो उसमें राज्यकी कितनी लागत लगी इसका हिसाब लगाना बहुत कठिन कामहै और अनेक व्यक्ति एसेहै जो इस लागतको चुकता करनेमें असमर्थ हैं।

शक्ति अथवा क्षमता सिद्धान्त

दूसरा सिद्धान्त शक्ति अथवा क्षमता सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार जनताको अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुसार राज्यको कर देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि सभीको राज्यकी सेवाओंसे उसी अनुपातमें लाभ हो। देखनेमें यह सिद्धान्त असंदिग्ध मालूम होताहै कि जो जितना देसकता है उतनादे और बाहरी तौरपर आधुनिक कर-प्रणालिया इसीके आधारपर बनी मालूम पडतीहै, परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार कर का परिमाण निर्धारित करनेमें भी अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पडता है। पहिली कठिनाई यहहै कि कर देनेकी शक्ति अथवा सामर्थ्य किस वस्तुसे नापीजाय। व्यवहारमें तीन मापदड काममें लायेगय है (१) सम्पत्तिका परिमाण (२) आय (द्रव्यके रूपमें) का परिमाण और (३) व्ययका रूप। इन तीनोंमें से अनुभवके आधारपर आयका परिमाण कर देनेकी क्षमताको नापनेके लिए अधिक सुगम और उपयुक्त समझा गयाहै अर्थात् लोग अपनी आयके अनुसार कर दें। तो क्या हम इससे यह परिणाम निकाल सकतेहै कि बराबर आयवालोंके कर देनेकी क्षमताभी बराबर होतीहै। वास्तवमें यहबात नहीं है। दो व्यक्तियोंमें जिनकी आय बराबरहो बडे कुटुम्ब वालेकी क्षमता अविवाहित अथवा छोटे कुटुम्ब वालेसे कम होती है। इसीप्रकार अपने व्यक्तिगत परिश्रमसे उपार्जित आयमें शेयर बौंड, मकान सदृश सम्पत्तिसे प्राप्तकी हुई आयसे कम कर-क्षमता होतीहै, क्योंकि बीमारी, बेकारी और बुढ़ापेमें श्रमकी शक्ति क्षीण होनेसे आय कम या बन्द होजातीहै, परन्तु सम्पत्ति

से आय मिलती रहती है। समान आय होनेपर स्थिर आयमें अस्थिर आयसे अधिक कर-क्षमता होती है। इसप्रकारके अपवादोंको ध्यानमें रखकरही आयके परिमाण को कर-क्षमताका माप-दड समझाजाता है।

परन्तु इतनेही पर हमारी कठिनाइयोंका अन्त नही होजाता है। यह मानाकि अन्य बातें समान होनेपर अधिक आय वालेको कम आय वालेसे अधिक कर-क्षमता होतीहै, परन्तु कितनी अधिक? क्या कर-क्षमता उसी अनुपातमें बढतीहै जिस अनुपात में आय बढतीहै या उससे अधिक अनुपातमें? इस प्रश्नका उत्तर देनेसे पहिले हमको कुछ गहराईमें उतरना पडता है। जब मनुष्य कर देतेहैं तो वास्तवमें वे उन वस्तुओं और सेवाओंकी तृप्ति (तुष्टि) का त्याग करतेहैं जो उस द्रव्यसे प्राप्त होती है। उदाहरणके लिए जो व्यक्ति दस रुपया कर देताहै वह दस रुपयेसे जिन वस्तुओं और सेवाओंको मोललेता उनसे प्राप्त होनेवाली तुष्टिका त्याग करताहै और जो व्यक्ति बीस रुपया कर देताहै वह बीस रुपयेके व्ययसे प्राप्त तुष्टिका त्याग करता है। एक मत यहहै कि भिन्न भिन्न आयके व्यक्तियोंको इतना कर देना चाहिए जिसमें उनकी तुष्टि-त्यागकी मात्रा बराबर हो। हमारे उदाहरणमें यदि दस रुपया कर देनवाले की आय दोसौ रुपया और बीस रुपया कर देनवाले की आय चारसौ रुपया प्रतिमास होतो क्या हम कहसकते है कि कर देने से उनका समान तुष्टि-त्याग हुआ? क्रमागत-उपयोगिता-ह्रास नियमके अनुसार जैसे जैसे आयमें वृद्धि होती जातीहै वैसे वैसे आयकी सीमान्त उपयोगिता कम होतीजाती है। यह सम्भवहै कि दोसौ रुपया आयवालेको दस रुपया कर देनेमें चारसौ रुपया आयवालके बीस रुपया कर देनेकी अपेक्षा अधिक तुष्टि त्याग करना पडताहो क्योंकि पहिले व्यक्तिको कुछ जीवन-रक्षक अथवा निपुणतादायक पदार्थोंसे अपनको वचित करना पडताहो और दूसरे व्यक्तिको सम्भव है कुछ विलासिताकी वस्तुओंका उपभोग कम करना पडे। अतएव समान तुष्टि-त्यागके सिद्धान्तके अनुसार अधिक आयवालोंको कम आय वालोंकी अपेक्षा अधिक अनुपातमें कर देना चाहिए अर्थात समान तुष्टि-त्यागके लिए दोसौ रुपये आयवाले व्यक्तिको दससे कम कर देना चाहिए। एक सिद्धान्त यहभी है कि राज्यको इस परिमाणमें कर लेना चाहिए जिससे समाजका तुष्टि-त्याग न्यूनतम हो। इस सिद्धान्तके अनुसार कर-प्रणाली बनानेमें गरीब लोगोंसे एक निर्धारित सीमातक बिल्कुल कर नही लेना चाहिए। उसके ऊपरकी आयमें वर्धमान कर लगाना

चाहिए। इस प्रकरणमें हम यह बतादेना चाहतेहैं कि भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके आयकी सीमान्त-उपयोगिताको नापनेका कोई साधन नहीं हैं। इसलिए उनकी तुलना करना कठिन है। यह तुलना एक विचारयुक्त अनुमानके आधारपर कीजाती हैं।

वर्धमान और आनुपातिक कर

वर्धमान-कर उसको कहतेहैं जिसकी दर आयकी वृद्धिके साथ साथ बढती जाती है। जैसे दासौ रुपया मासिक आयपर पाच प्रतिशत, चारसौ की आयपर दस प्रतिशत, आठसौ की आयपर बीस प्रतिशत इत्यादि। आनुपातिक कर में कर की दर समान रहतीहै चाहे आयका परिमाण कुछभी क्यों न हो। यदि पाच रुपया प्रतिशत आय-करहो तो पूर्वोक्त उदाहरणमें दोसौकी आयपर दस रुपया, चारसौ की आयपर बीस रुपया और आठसौकी आयपर चालीस रुपया कर देना पडगा। स्पष्टहै कि दस रुपया, बीस रुपया और चालीस रुपया कर का परिमाण दोसौ रुपया, चारसौ रुपया और आठसौ रुपया आयके परिमाणके अनुपातमें है। अब नीचे दीगयी तालिकापर ध्यान दीजिए:

आय	आनुपातिक कर की दर	कर का परिमाण	बची आय	वर्धमान कर की दर	कर का परिमाण	बची आय
२०० रु	५ %	१० रु	१९० रु	५ %	१० रु	१९० रु
४०० रु	५ %	२० रु	३८० रु	१० %	४० रु	३६० रु
८००·रु	५ %	४० रु	७६० रु	२० %	१६० रु	६४० रु

इस तालिकासे एकबात स्पष्टहै कि आनुपातिक दर लगानेसे कर का परिमाण आय के परिमाणके अनुपातमें ही है और कर देनेके बाद जो आय बच जातीहै वहभी उसी अनुपातमें रहतीहै जिस अनुपातमें पहिले थी। इसके समर्थकोंके अनुसार यह आनुपातिक कर की विशेषताहै कि कर देनेके बादभी कर देने वालोंके पारस्परिक

आर्थिक स्तरमें कोई बदलाव नहीं होता है। इन लोगोंके अनुसार राज्यको अपनी कर-नीति द्वारा भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोंकी पारस्परिक आर्थिक स्थितिमें विषमता पैदा नहीं करनी चाहिए। जैसाकि हम नीचे समझायेंगे यह तर्क ठीक नहीं है। एक बात और इस कर के पक्षमें यह कही जातीहै कि यह एक सुदाव सीधा कर है जो बहुत आसानीसे समझमें आ जाताहै और इसकी गणितभी सुगमतासे होजाती है। परन्तु केवल सिधाईही कर का गुण नहीं माना जासकता है।

ऊपर दीगयी तालिकामें वर्धमान कर का भी चित्रण कियागया है। अधिक आय पर करकी दरभी अधिकहै और करका परिमाणभी आयके अनुपातकी अपेक्षा अधिक है। बचीहुई आयको देखनेसे पता चलताहै कि उसका वितरण पहिलेसे कम विषम होगया है। इस कर के समर्थक अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए समानतुष्टि-त्याग, और न्यूनतम तुष्टि-त्यागके सिद्धान्तका सहारा लेते हैं। इनका कहनाहै कि क्यों-कि आयकी वृद्धिके साथ साथ उसकी सीमान्त-उपयोगिता घटती जातीहै और बहुत अधिक आयके स्तरोंपर शीघ्रतासे कम होतीहै, अतएव समान तुष्टि-त्याग और न्यूनतम तुष्टि-त्यागके दृष्टिकोणसे वर्धमान करका प्रयोग होना चाहिए। एक विशेष बात वर्धमान कर के सम्बन्धमें यहहै कि इसके द्वारा राज्यको पूंजीवादके अन्तर्गत सम्पत्ति और आयके वितरणकी विस्तृत विषमताको कम करनेमें सहायता मिलती है। समाजका क्षेम अधिकसे अधिक बनानेके लिए यह आवश्यकहै कि वितरणकी विषमतामें कमी कीजाय और इसके सम्पादनके लिए कर नीतिका प्रयोग एक वांछित उपकरण सिद्धहुआ है। वर्धमान कर में एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिए कि करकी दर इसप्रकार की न होनपावे जिससे पूंजी संचयके कार्यमें और उत्पादनके साधनोंको काममें लगानेमें शिथिलता आजाये।

वर्धमान कर के विपरीत ह्रास-मान कर होताहै जिसकी दर आयकी वृद्धिके साथ साथ घटती जाती है। इसप्रकार के कर को किसी सिद्धान्तपर भी न्यायसगत नहीं ठहराया जाता और प्रत्यक्ष रूपसे यह प्रयोगमें नहीं आता। परन्तु अप्रत्यक्ष रूपमें कभी कभी इसप्रकार का परिणाम देखनेमें आता है। उदाहरणके लिए अंग्रेजी राज्यमें भारतवर्षमें नमकके कर का भार धनी लोगोंपर कम और निर्धनोंपर अधिक था।

कर-क्षमता-सिद्धान्तके पक्षमें अनेक बातें कही गयीहैं जाकि राज्यके अधिकारियों

को मान्यभी है। परन्तु जब हम कर-प्रणालियोंका अध्ययन करतेहै तो हमको कहीं भी ऐसी प्रणाली नहीं मिलती जिसका आधार केवल यही सिद्धान्त हो। उदाहरण के लिए परोक्ष करों का भार विशेषकर उन वस्तुओंपर लगनेवाले करोंका जिनका उपयोग गरीब जनता करतीहै, धनी लोगोंकी अपेक्षा गरीबोंपर अधिक पडता है। परन्तु किसीभी राज्यमें अभीतक इनका प्रयोग छोड़ा नहीं गया है। परिस्थितिके अनुसार कर प्रणाली प्रभावित होतीरहती है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष कर

इस प्रकरणमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर का भेद स्पष्ट कर देना उचित होगा। प्रत्यक्ष करोंमें प्राय: ऐसे कर समझे जातेहैं जिनका भार वहीलोग वहन करतेहैं जिनपर कर लगाया जाताहै अर्थात् कर देनेवाले उसको दूसरे लोगोंसे वसूल नहीं करसकते है। इसके विशिष्ट उदाहरण *आय कर, सम्पत्ति-कर और उत्तराधिकारी-कर है।* इसके प्रतिकूल परोक्ष कर उनको कहतेहैं जिनका भार प्रारम्भिक कर देनेवाला पूरे अथवा आंशिक रूपमें अपने कधोंसे उतारकर दूसरोंके कन्धोंपर डाल देताहै अर्थात् वहभी कर की रकमका पूरा अथवा उसका कुछ हिस्सा दूसरे लोगोंसे अपनी आर्थिक क्रियाओंके द्वारा वसूल करलेता है। अत वास्तवमें राज्यको कर दूसरेही लोगोंसे प्राप्त होता है। इसके उदाहरण आयात-निर्यात-कर, बिक्री-कर और उत्पत्ति-कर है। संक्षेपमें परोक्ष कर वहहै जो दूसरोंपर डाला जासकताहै और प्रत्यक्ष कर वहहै जो दूसरोंपर डाला नहीं जासकता है। एक और प्रकारसे भी *यहभेद स्पष्ट समझाया* गया है। प्रत्यक्ष कर मनुष्योंपर और परोक्ष कर वस्तुओंपर लगाये जाते है। अत: प्रत्यक्ष करोंको वर्धमान किया जासकता है, परन्तु परोक्ष करोंको वर्धमान करनेमें कठिनाई पडती है। प्रत्यक्ष और परोक्ष कर का भेद वास्तविक नहीं है। उदाहरण के लिए किसी वस्तुपर आयात-कर लगाया गया, परन्तु किसी कारणसे उसपर का बोझ उस वस्तुके भेजनेवाले परही रहगया अर्थात् वह अपनी वस्तुके मूल्यको बढा *न पाया जिससे वह कर वसूल करपाता। चूंकि कर का भार दूसरोंपर न डाला जा* सका इसलिए इसको प्रत्यक्ष कर समझना चाहिए, परन्तु साधारणत: वस्तुओंपर लगाया गया कर परोक्ष समझा जाता है।

एककर प्रणाली और बहुकर प्रणाली

आधुनिक कालमें राज्य अनेक प्रकारके कर लगाताहै और उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। परन्तु समय समयपर कर-प्रणालीको संक्षिप्त बनानेके विचार प्रकट किये गये हैं। इस प्रकरणमें एककर-प्रणालीकी विशेष रूपसे चर्चा हुई है। फ्रान्सकी एक आर्थिक विचार-धाराके लोगों (जिनको फिजियोक्रेट्स् कहते हैं) के कथनानुसार राज्यको केवल एकही कर लगाना चाहिए क्योंकि उनकी धारणा थी कि आर्थिक पद्धतिमें कर चाहे कहींपर लगाया जाय घूमफिरकर वह अन्तमें भूमि-कर परही जमेगा। जैसाकि हम अगले अध्यायमें बतायेंगे उनकी यह धारणा भ्रान्तियुक्त थी। कुछ समय हुआ अमेरिकामें हेनरी जॉर्ज नेभी एककर प्रणालीके लिए बहुत प्रयत्न किया था। उनकाभी यही कहनाथा कि राज्यको केवल एक भूमि-करही लगाना चाहिए। उसका एक कारण यहहै कि भूमि-कर उद्योग-धन्धोंके विकासमें बाधा नहीं पहुंचायगा, परन्तु प्रधान कारण यह बताया जाताहै कि भूमिकी एक विशेषता यहहै कि वह प्रकृतिकी देनहै और क्योंकि भूमिका क्षेत्र परिमितहै अतएव जनसंख्या की वृद्धिसे भूमिकी मांग और उसका मूल्य बढ़ताजाता है। मूल्यमें यह वृद्धि जो किसी व्यक्ति विशेषके उद्योगसे नहीं हुईहै समाजको प्राप्त होनी चाहिए अतएव राज्यको इसे करके रूपमें लेलना चाहिए। इस तर्कमें एक कठिनाई यह मालूम पड़तीहै कि भूमिके किसी टुकड़की मूल्य-वृद्धिमें कितना हिस्सा जनसंख्या और मांग की वृद्धिके कारणहै और कितना हिस्सा उसके स्वामीकी पूंजी और परिश्रमके कारण। बिना इस बातका विचारकिये जो भूमि कर हेनरी जॉर्जकी योजनाके अनुसार लगाया जायगा उससे भूमिके सुधारमें पूंजी लगानेमें उत्साह कमहो जायगा। केवल भूमि-कर लगानेसे कर-क्षमता सिद्धान्तकी अवहेलना होतीहै, क्योंकि एक करोड़पतिको जिसके पास भूमि नहींहै कुछभी कर नहीं देना पड़गा। इसके अतिरिक्त भूमि-कर आधुनिक राज्यके बढ़तेहुए व्ययका पूरा करनेमें अपर्याप्त होगा विशेषकर उन देशोंमें जहां कि जनसंख्याकी वृद्धि रुकगयीहै और घटनेभी लगी है।

एककर-प्रणालीमें केवल आय-कर लगानेका भी सुझाव किया गयाहै क्योंकि अन्ततोगत्वा सभी कर आय-करसे ही दिये जातेहैं अतएव यह सीधा मार्गहै कि कर आय परही लगाया जाय। भूमि-कर की तुलनामें यह कर अधिक उपयुक्त प्रतीत

होता है। यह प्रत्येक प्रकारकी आयपर लगाया जासकता है और वर्धमान कर-नीति का प्रयोग करके इसको क्षमता-सिद्धान्तके अनुकूलभी बनाया जासकता है। फिरभी केवल आय-कर लगानेमें कुछ असुविधाएं है। अनुभवके आधारपर ज्ञात हुआहै कि कर लगाने और उसको इकट्ठा करनेमें बहुत परेशानी और व्ययभी होता है। पूजीवादी देशोमें कम आयवालेही अधिक सख्यामें पायेजाते हैं। यहभी देखा गयाहै कि और करोंकी अपेक्षा आय-कर से बचत करनेके उत्साहमें मन्दी आनेकी प्रवृत्ति रहती है। इसके अतिरिक्त यदि आयपर ही कर लगायाजाय तो जो बडी बडी सम्पत्तिया उत्तराधिकारियोको मिलतीहैं और जिनमें पर्याप्त मात्रामें कर देनेकी क्षमता होती है वह कर से मुक्त रहेंगी। इन अन्तिम दो समस्याओका कुछ अशमें समाधान हो सकताहै, यदि बचतके ऊपर आय-कर न लगाया जाय और उत्तराधिकारीकी सम्पत्ति को उत्तराधिकारके समय आय मान लियाजाय।

एककर-प्रणाली का एक रूप यह बताया जाताहै कि सम्पत्तिके मूल्यपर कर लगाया जाये। इस सम्पत्ति-कर का क्षेत्र आय-कर से सकुचित होगा, क्योंकि इसमें परिश्रमसे जो आय होतीहैं उसपर कर नही लिया जावेगा। अनेक व्यक्ति जैसे वकील, डाक्टर, इजीनियर और लेखक अपने परिश्रमसे बहुत धन पैदाकरते हैं और इनकी कर-क्षमता बहुत रहती है। इसके अतिरिक्त अनुभवसे और सैद्धान्तिक दृष्टि कोणसे भी यह सिद्ध होगयाहै कि सम्पत्तिकी अपेक्षा आय, कर का अधिक उपयुक्त आधार है। सम्पत्तिका मूल्य आकनेमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयोका सामना करना पडता है।

एककर-प्रणालीके इन उदाहरणोमें जो अलग अलग असुविधायें और दोष बताये गयेहैं इनके अतिरिक्त सभी प्रकारकी एककर-प्रणालियोमें कुछ समान असुविधायें और दोष होते हैं। इनको बहु-कर-प्रणालीके लाभोके प्रकरणमें समझा जासकता है। बहुकर-प्रणालीका मुख्य लाभ यहहै कि यदि किसी कर से क्षमता-सिद्धान्तका उल्लघन होगया होतो उसका प्रतिकार अन्य करोंसे किया जासकता है। इसके अतिरिक्त बहुकर-प्रणाली द्वारा भिन्न भिन्न आर्थिक वर्गोंके और भिन्न भिन्न आर्थिक स्थितियोके अनुसार भिन्न भिन्न करोका प्रयोग किया जासकता है। जैसाकि राज्य की अच्छी आय-पद्धतिकी विशेषताओंके विवेचनमें बताया जाचुका है। बहुकर-प्रणालीसे आय लोचदार बनायी जासकती है। एककर-प्रणालीकी अपेक्षा बहुकर-

प्रणालीमें करस बचकर निकलनेकी चेष्टाको पकड़की जासकतीहै क्योंकि जब अनेक करोंके सम्बन्धमें आंकड़े इकट्ठा कियेजायेंगे तो इनकी जांच पड़ताल करनेसे वास्तविक स्थितिका बोध अधिक सुविधाके साथ होसकेगा।

ऊपर दियेगये विवेचनसे हम इसी परिणामपर पहुंचतेहैं कि किसीभी एककर-प्रणालीकी अपेक्षा बहुकर प्रणाली अधिक श्रेयस्करहै। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि जितने अधिक कर होंगे उतनीही अच्छी कर प्रणालीभी होगी। करोंकी बहुतायतसे भी झंझट और असुविधाएं उत्पन्न होजाती हैं। थोड़ेसे सप्रभाव करों का प्रयोग होना चाहिए। जहांतक धनी लोगोंका सम्बन्ध है उनपर आय-कर, सम्पत्ति कर, उत्तराधिकार-कर और विलासिताकी वस्तुओंपर कर का प्रयोग होना चाहिए। यदि गरीब लोगोंसे कर लेना आवश्यक होजाता है तो उनसे इस प्रकारकी वस्तुओंपर कर वसूल करना चाहिए जो वस्तुएं जीवन निर्वाहके लिए आवश्यक और निपुणता दायक न हों और जिनका प्रचुर मात्रामें सेवन होताहो जैसे तम्बाकू शराब इत्यादि।

कर सम्बन्धी नियम

करोंके विषयमें अबतक जो कुछ कहागया है उसके आधारपर कर सम्बन्धी नियम बनायेगये हैं। सबसे पुराने नियम अंग्रेजी अर्थशास्त्री स्मिथके प्रतिपादित नियम समझे जाते हैं जो अबतक आदरकी दृष्टिसे देखेजाते हैं। बादमें इनमें कुछ और नियमभी जोड़ दियेगये हैं। स्मिथके प्रतिपादित चार नियम हैं

(१) समानता अथवा क्षमता नियम—इस नियमका तात्पर्य यहहै कि प्रजाके लोगोंको अपनी शक्ति और सामर्थ्यके अनुपातमें राज्यको कर देना चाहिए। यह कर उस अनुपातमें होना चाहिए जिस अनुपातमें राज्यकी छत्र छायामें वे अपनी आयका उपभोग करते हैं। स्मिथके मन्तव्यसे इस प्रकारसे कर देनेवालोंके तुष्टि-त्यागमें समानता होगी और इसप्रकार की कर-प्रणालीभी न्यायसंगत होगी। पाठकोंके ध्यानमें आगया होगाकि इस नियमकी झलक कर के क्षमता-सिद्धान्तमें भी पाई जाती है। लोगोंको शंकाहै कि स्मिथ आनुपातिक कर के पक्षमें था अथवा वर्धमान कर के, क्योंकि नियमकी व्याख्यामें जिस भाषाका प्रयोग उसने कियाहै उससे स्पष्ट

बोध नहीं होता है कि उसका अभिप्राय क्या था?

(२) निश्चयताका नियम—प्रत्येक व्यक्तिके कर का परिमाण निश्चित होना चाहिए न कि मनमाना। देनेका समय और विधिभी स्पष्ट और सुगम होनी चाहिए। राज्यको भी निश्चयतासे बोध होजाता है कि उसको कर से कितनी आयकी आशा करनी चाहिए। इस नियमका पालन होनेसे कर देनेवालोंका राज्यके प्रति सद्भाव होता है।

(३) सुभीतेका नियम—प्रत्येक कर इस विधिसे और ऐसे समयपर लगाना चाहिए जिस प्रकार कर देनवालोको सुभीता हो।

(४) मितव्ययिताका नियम—प्रत्येक करकी व्यवस्था इस प्रकारकी होनीचाहिए जिससे राज्यके कोषमें कर के परिमाणका अधिकसे अधिक भाग जमाहो अर्थात् कर उगाहने और प्रबन्ध करनेमें व्यय कमसे कम हो। इस नियमकी व्याख्या आजकल अधिक व्यापक रूपसे कीजाती है। उगाहनेके दृष्टिकोणसे कोई कर मितव्ययी होसकता है, परन्तु यदि उसके कारण लोग उत्पत्तिकी मात्राको कम करदें तो इससे राष्ट्रीय आय कम होजायेगी और राज्यको भविष्यमें कम कर मिल सकेगा।

एक नया नियम उत्पादकता का है। अधिकांश कर आयके लिएही लगायेजाते है। यदि सब नियमोंका पालन होगया परन्तु आय पर्याप्त नही हुई तो राज्यके कार्योमें रुकावट पडने लगेगी। यदि करोसे यथेष्ट आय हो तो छोट मोट दोषोंपर पर्दा पडजाता है। परन्तु एक बातका ध्यान रखना पडताहै कि उत्पादकता वर्तमान कालकी ही नही, परन्तु अनवरत होनी चाहिए।

एक और नियमके अनुसार कर में लोच होनी चाहिए अर्थात् आवश्यकतानुसार कर में कम अथवा अधिक आय प्राप्त करनेका गुण होना चाहिए।

इन सभी नियमोका एकसाथ पालन करना सर्वदा सम्भव नही होता है। सघर्ष होनपर अधिक महत्वपूर्ण नियमका अधिक ध्यान रखना पडता है।

३५

कर-भार का हस्तान्तरण और आर्थिक प्रभाव

कर-भार

राज्य प्रारम्भमें जिस व्यक्ति अथवा संस्थासे कर लेताहै उस कर का भार यह आवश्यक नहीहै कि उन्हींपर रहे। वे इस बातकी चेष्टा करतेहै कि किसी विधिसे वे उस भारको पूर्ण अथवा आंशिक रूपमें दूसरोंपर डालकर स्वयं उस भारसे मुक्त हो जायें। कभी कभी वे ऐसा करनेमें समर्थ होजाते है और कभी कभी नहीभी होते। कर-भारको दूसरोंपर डालनेकी क्रियाको हम कर का हस्तान्तरण कहेंगे। हस्तान्तरित करते करते एक ऐसी स्थिति आजाती है जहांपर आगे हस्तान्तरित करना सम्भव नही होता। जिस स्थानपर यह क्रिया रुकजाती है उसको हम कर-भार का विराम कहेंगे। उदाहरणके लिए कल्पना कीजिए राज्यने हरिसे १० रु० कर के रूप में लिया हरिने मोहनसे वह रुपया वसूल किया और मोहनने रामसे वसूल किया। परन्तु राम उस भारको अन्य किसीपर न डाल सका। उसको स्वयं उसे वहन करना पडा। यहां हस्तान्तरण कार्यका अन्त होगया, अर्थात् कर-भार विराम अवस्थामें पहुंचगया। इस प्रकरणमें जब हम कर-भार शब्दका प्रयोग करतेहै तो उससे द्रव्य की उस मात्राका समझना चाहिए जो राज्यको कर के रूपमें प्राप्त हुई हो।

प्रसरण-सिद्धान्त

कर-भारको हस्तान्तरित करनेके और उसके विराम-स्थानके विषयमें समय समय पर लोग भिन्न भिन्न परिणामोंपर पहुंचे है। एक सिद्धान्तके अनुसार जिसको प्रसरण-सिद्धान्त कहतेहैं, किसीभी कर को, कहींपर भी और किसी प्रकारसे भी क्यो न लगाया जाये, वह हस्तान्तरित होता जायेगा, यहांतक कि अन्तमें उसका भार थोड़ा

थोडा सभी लोगोपर पडेगा। जिसप्रकार किसी तालावमें कंकड डालनेसे पहिले एक छोटा वृत्त बनताहै, फिर उससे बडा और फिर उससे भी बडा, इसप्रकार अन्त में वह सारे तालाबकी सतहको घेर लेता है। इसीप्रकार इस कर-प्रसरण सिद्धान्तके अनुसार कर का भार फैलते फैलते सारे समाजपर पडताहै और उस भारको निश्चित करना असम्भव होजाता है। यह धारणा ठीक नही है। कुछ कर जिनमें प्रत्यक्ष-कर अधिक सरयामें है, एसेभी होतेहै जिनका भार देनेवाले परही पडताहै और जिसको वह हस्तान्तरित नहीं करसकता है। कुछ कर एसेभी है जो हस्तान्तरित होतहै परन्तु उनके सम्बन्धमें यह ज्ञान किया जासकता है कि अन्तमें किसपर कितना भार पडा। हा, कुछ कर अनेक बार हस्तान्तरित होतेहैं और इनके बारेमें भारके वितरण को मालूम करना अवश्यही कठिन कार्य होजाता है।

कर को हस्तान्तरित करने की क्रिया

कर को आगे और पीछे दोना ओर हस्तान्तरित किया जासकता है। कल्पना कीजिए, राज्यने सिगरेटपर कर लगा दिया। यदि सिगरेट बनानेवाला कर का सिगरेटके मूल्यमें जोडकर उसको सिगरेट मोल लेनेवालोंसे वसूल करलेता है तो इस कर-भारको आगेकी ओर हस्तान्तरित करना कहते है। परन्तु यदि वह इस कमीको सिगरेट बनानेवाले मजदूरोका वेतन घटाकर अथवा कच्चे मालको सस्ते दामोमें खरीदकर पूरी करलें तो ऐसी दशामें कर-भारको पीछेकी ओर हस्तान्तरित करना कहते है। कर देनेवाला दोना प्रकारसे अपनेको कर-भारसे मुक्त करनेकी चेष्टा करताहै, परन्तु अधिकतर कर-भार आगेकी ओरही हस्तान्तरित होता है।

कर एक प्रकारकी लागतहै और जिसप्रकार लोग लागतको मूल्यमें शामिल कर लेतेहै उसीप्रकार कर को भी मूल्यमें शामिल करके वसूल करनेकी चेष्टा कीजाती है। मूल्यके द्वाराही कर का भार हस्तान्तरित किया जासकता है। अत: यह स्पष्ट है कि यदि कर को मूल्यमें सम्मिलित करनेका सुयोगहै तबतो उसको हस्तान्तरित किया जासकता है अन्यथा नहीं। अनेक कर ऐसेहै जिनमें यह सुयोग प्राप्त नही। इस लिए कर देनेवालेही उसका भार वहन करतेहै। आय कर के सम्बन्धमें ऐसीही परिस्थिति रहती है।

यदि कर का मूल्यमें समावेश करनेका सुयोग हो, तबभी यह आवश्यक नहीहै कि वह अवश्यमेव हस्तान्तरित हो जायेगा। मान लीजिए एक टिन सिगरेटका मूल्य २ रु० है और उसपर राज्यने २ आना कर लगाया। अब यदि सिगरेट बेचने वाला सिगरटका मूल्य २रु० से बढ़ाकर २ रु० २आ० कर दे और उसके ऐसा करनेसे उसकी आयमें क्षति न हो, तो वह सफलतासे कर-भारका अपने ग्राहकोंके ऊपर डाल सकता है। कुछ लोग सोचतेहैं कि विक्रेता कर की मात्राको मूल्यमें जोड देता है और अपने ग्राहकोंसे वसूल करता है। कुछ प्रत्यक्ष उदाहरणभी ऐसे दिखाई पडतेहै जिनमें कर लगानेके बादही वस्तुका मूल्यभी ठीक उतनाही बढ जाताहै जितनी कि करकी मात्रा होती है। पर इससे यह परिणाम निकालना गलत होगा कि प्रत्येक कर वस्तुके मूल्यमें जोडकर दूसरोंपर डाल दिया जाताहै। माना कि विक्रेताको अपनी वस्तुका मूल्य बढानेकी स्वाधीनताहै, परन्तु क्या इससे यह सिद्ध होजाताहै कि वह जितना चाहे उतना मूल्य बढा देगा? यदि यही बात होती तो वह सिगरेटका मूल्य कभीका बढाचुका होता कर लगानेके समयकी प्रतीक्षा न करता। विक्रेताको इस बातका ध्यान रखना पडताहै कि किस मूल्यपर उसकी अधिकतम बिक्री होगी और अधिकतम लाभ होगा। अन्य परिस्थितियां समान रहने पर मूल्यमें बदलाव होनसे मांगके परिमाणमें भी बदलाव होजाता है जिसे विक्रेता को ध्यानमें रखना पडता है। यदि मूल्यमें वृद्धि करनसे उसकी बिक्री घट गई तो यह सम्भवहै कि कर वसूल हो जानेपर भी उसके लाभकी मात्रामें कमी होजाये। अतएव उसको मूल्य बढानसे पूर्व मांगकी दशाका अध्ययन करना पडताहै। किसी भी वस्तुकी मांगके परिमाणमें मूल बात उपयोगिता रहती है। कर लगानेसे किसी वस्तुकी उपयोगिता बढ तो नहीं जाती जिसके कारण ग्राहक अधिक मूल्यपर भी उस वस्तुको उतनेही परिमाणमें मोललें जितनी कि वे कर लगनेके पूर्व कम मूल्यपर लिया करते थे। मूल्यकी वृद्धि होनसे कुछ लोग उस वस्तुको कम परिमाणमें लेंगे और कुछ लोग प्रतिनिधि वस्तुओंका प्रयोग करने लगेंगे। हां यदि वह वस्तु अत्यन्त आवश्यक प्रयोगकी है, उसकी प्रतिनिधि वस्तुभी कोई नहीं है और उसकी मांग बलोचहै तो ऐसी परिस्थितिमें ग्राहक मूल्य वृद्धि होजाने परभी अपनी मांगके परिमाणको कम नहीं करेंगे और ऐसी दशामें विक्रेता सफलतापूर्वक कर को हस्तान्तरित कर सकेंगे।

माग और पूर्ति का प्रभाव

इस विवेचनसे पाठकोंकी समझमें आगया होगा कि कर के भारको हस्तान्तरित करना केवल विक्रेताओ की इच्छा पर निर्भर नही करता। कर को मूल्यमें समावेश करके वसूल किया जा सकताहै अथवा नही, यदि हा तो किस अशतक? इन बातोंका विचार करनेके लिए हमको उन सभी बातोको ध्यानमें रखना पडताहै जिनसे मूल्य निर्धारित होता है। इसी लिए कहाजाताहै कि कर-हस्तान्तरण का अध्ययन करने के लिए हमको मूल्य-निर्धारण क्रियाका अध्ययन करना पडता है। मूल्य निर्धारित करनेमें माग और पूर्ति और उनको प्रभावित करनेवाली बातोका अध्ययन करना पडता है। जिन बातोका माग और पूर्तिपर प्रभाव पडताहै उन्हीसे मूल्य निर्धारित होताहै और उनके विवेचनसे ही कर के हस्तान्तरित करनेकी समस्या परभी प्रकाश पडता है। अतएव हम इन्ही विषयोकी विवेचना करेंगे।

पहिले पूर्तिपर ध्यान दीजिए। किसी वस्तुका विक्रेता यदि कर वसूल करनेके लिए उस वस्तुके मूल्यको बढाना चाहताहै तो उसको उस वस्तुके परिमाणको घटाना पडेगा। जैसे जैसे किसी वस्तुका परिमाण घटता जाता है वैसे वैसे, अन्य बातें यथावत् रहनेपर उस वस्तुके मूल्यमें वृद्धि होतीहै, क्योंकि वैसे वैसे उसकी सीमान्त उपयोगिता बढती जातीहै। विक्रेता उस वस्तुके परिमाणको घटायेगा अथवा घटा सकताहै कि नहीं यह अनेक स्थितियोपर निर्भर करताहै। उत्पत्तिकी मात्राको घटानेके लिए उसके उत्पादनके साधनोको उस धन्धेसे निकालकर किसी दूसरे धन्धेमें लगाना पडेगा। यदि वह धन्धा इस प्रकारका हो जिसमें मशीन इत्यादि अचल पूजीकी अधिकता हो जिसको सुगमतासे दूसरे धन्धेमें न लगाया जा सकता हो, तो उत्पत्तिके परिमाणको अधिक नही घटाया जासकता। अनेक अवस्थाओंमें उत्पत्तिके साधनोको बेकार रखकर उनकी लागतको वहन करनेकी अपेक्षा यह लाभदायक होताहै कि उनको काममें लगे रहने दियाजाये। हा, यह अवश्य होगा कि दीर्घ-कालमें मशीन इत्यादिके घिस जानेके बाद नई पूजी उस धन्धेमें नही लगाई जायेगी जिससे उत्पत्तिकी मात्रा कम होजायेगी। परन्तु निकट भविष्यमें उत्पत्तिकी मात्रामें विशेष कमी नही होगी। इसके अतिरिक्त यदि किसी धन्धेमें इस प्रकारके साधन लगेभी हो जिनको सुगमतासे एक धन्धेसे दूसरे धन्धेमें लगाया जासकताहै तो ऐसा

करनके लिए भी दो बातोंकी आवश्यकता है। पहिले तो यह कि पूंजीपति को अन्य धंधेका ज्ञान हो और वह नये धंधेकी जोखिमोंको सहन करनेके लिए तत्पर हो। दूसरी बात यह है कि अन्य उद्योग धंधेमें पूंजी लगानेसे पहिले धंधेकी अपेक्षा अधिक लाभ होनेकी सम्भावना हो। यदि सभी उद्योग धंधोंपर कर लगा हुआ हो तो पूंजीका एक धंधेसे हटाकर दूसरेमें लगानेमें अधिक लाभकी आशा कम ही होगी। संक्षेपमें कह सकते हैं कि यदि किसी विशेष प्रकारकी क्षतिके किसी वस्तुका उत्पादक उस धंधेमें लगे हुए साधनोंको दूसरे धंधेमें लगाकर पहिली वस्तुके परिमाणमें कमी कर सके तो ऐसी स्थितिमें वह करके भारको मूल्यमें डालकर ग्राहकोंसे वसूल कर सकेगा। अर्थात् किसी वस्तुकी पूर्तिमें जितनी अधिक लोच होगी उतनी ही अधिक मात्रामें करके भारको हस्तान्तरित करनेमें सुविधा होगी।

अब मांगके पक्षका अध्ययन करें। किसी भी वस्तुके ग्राहक उस वस्तुके मूल्यकी वृद्धिसे बचनेकी चेष्टा करेंगे। इस कामसे उनको तभी सफलता प्राप्त हो सकती है जब कि वह बढ़े हुए मूल्यपर अपनी मांगको पर्याप्त मात्रामें कम कर सकें। ऐसा करनेसे विक्रेताओंकी वस्तुएं कम परिमाणमें बिकेंगी और उनको बचनेके लिए उसे मूल्य कम करना पड़ेगा। परन्तु ग्राहक लोग भी उस वस्तुकी मांग पर्याप्त मात्रामें तभी कम कर सकते हैं जब कि वस्तु अधिक आवश्यक न हो अथवा उसकी प्रतिनिधि वस्तुएं वर्तमान हों जिनका प्रयोग वे कर वाली वस्तुके स्थानपर कर सकें अर्थात् यदि उस वस्तुकी मांग लोचदार हो तो ग्राहक मांगमें कमी कर सकते हैं और विक्रेताओंको मूल्य घटानेके लिए बाध्य कर सकते हैं। जितना अधिक मात्रामें मांगमें लोच होगा उतनी अधिक इस कायमें ग्राहकोंको सफलता मिलेगी और करका भार विक्रेताओंपर बना रहेगा। परन्तु यदि वह वस्तु आवश्यक है और उसकी प्रतिनिधि वस्तुएं नहीं हैं अथवा प्रतिनिधि वस्तुओंपर भी कर लगा हुआ है तो ग्राहकोंको देना पड़ेगा और करका भार भी उन्हींपर अधिक होगा। सामूहिक उपभोगकी अनेक वस्तुएं ऐसी होती हैं जैसे नमक, तम्बाकू जिनकी मांगमें बहुत कम लोच होती है और थोड़ी मात्रामें मूल्यकी वृद्धिसे उनकी बिक्रीमें कोई अन्तर नहीं आता। ऐसी ही वस्तुओंका मूल्य विक्रेता लोग करके पूरे परिमाणके बराबर बढ़ाकर ग्राहकोंसे वसूल करते हैं और इसीके आधारपर लोग समझते हैं कि सभी करों पर यही बात लागू होगी।

माग और पूर्तिके दोनो पक्षोको साथ साथ रखकर हम कह सकतेहै कि उत्पादक लोग उत्पत्तिकी मात्रामें कमी करके कर के भारको ग्राहकोंपर डालनेकी चेष्टा करतेहैं और ग्राहक लोग अपनी मागको कम करके उनकी इस चेष्टामें बाधा डालनेका प्रयत्न करते है। इस प्रतिद्वन्द्विता में कौन अधिक सफल होगा यह माग और पूर्तिकी सापेक्ष लोचपर निर्भर करता है। यदि मागमें लोच नहीहै अथवा बहुत कमहै तो विक्रेता अधिक सफलतासे कर को मूल्यमें जोड सकेगा, क्योंकि उसको उत्पत्तिकी मात्रामें कमी करनेकी आवश्यकता नही पडेगी। परन्तु यदि माग बहुत लोचदार है तो कर के भारको ग्राहकोपर डालना दुष्कर होगा क्योंकि ऐसी अवस्थामें उत्पत्ति की मात्रामें अधिक कमी करनेकी आवश्यकता पडेगी। अतएव कमस कम वर्तमान और निकट भविष्यकालमें कर का अधिकाश भाग उत्पादकापर ही रहेगा। यदि माग और पूर्तिकी लोच समान हो तो कर का भार दोनो पक्षोपर बराबर होगा। इस स्थितिको हम रेखा-चित्र द्वारा भी चित्रित करसकते है।
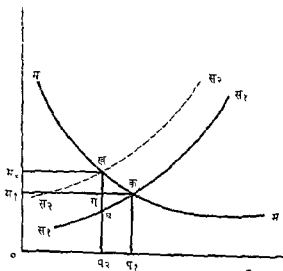
इस रेखा-चित्र में 'म म' माग रेखाहै और 'स१ स१' कर लगनेके पूर्व पूर्तिकी रेखा है। 'ख घ' कर की मात्राहै जिसके लगनेपर पूर्तिकी रेखा उसी परिमाणमें ऊंची

होकर स र स र हा गई है। कर लगानेसे पूर्व माग और पूर्तिका सन्तुलन ०प१ परिमाण और तदनुसार ०म१ मूल्यपर होताहै और कर लगानेके पश्चात् ०प२ परिमाण और ०म२ मूल्य पर होता है। स्पष्टहै कि जिस वस्तुकी माग और पूर्तिकी दशा इस प्रकारकी होगी, उस पर लगाएगये 'ग घ' करके भारका 'द स' भाग उस वस्तुके ग्राहकों पर और 'ग ध' उत्पादकों पर पड़ेगा।

एकाधिकारी पर कर

एकाधिकारीपर कर लगनेसे वह किस प्रकार उसके भारको हस्तान्तरित करनेकी चेष्टा करेगा, इसका विवेचन साधारण प्रतिस्पर्द्धाकी अवस्थासे कुछ भिन्न है, क्योंकि एकाधिकारी का किसी वस्तुकी पूर्तिपर अधिकार रहता है। एकाधिकारीपर कई प्रकारसे कर लगाया जा सकता है। यदि कर उत्पत्तिकी मात्राके हिसाबसे लगाया जाये और कर लगानेके पूर्व एकाधिकारी अपनी वस्तुके मूल्यका स्तर इस प्रकार निर्धारित कर चुका हो, तो कर लगानेसे वह वस्तुके मूल्य का ऊंचा करेगा अथवा नहीं और यदि ऊंचा करेगा तो किस स्तर तक इसका निर्णय माग और पूर्ति की विशदताओं पर ही निर्भर करता है। यदि उस वस्तु की मागमें बहुत कम लोच हो और उसकी प्रतिनिधि वस्तुएं प्राप्त न हों तो एकाधिकारी कर के भार का अपने ग्राहकों पर डालनेमें समर्थ हो सकेगा। परन्तु यदि उस वस्तुकी माग बहुत लोचदार हो और एकाधिकारी उत्पत्ति के साधनों को बहुत सुगमतासे अन्य उद्योग-धन्धोंमें लगाकर उस वस्तुके परिमाणको पर्याप्त मात्रामें कम करनेमें असमर्थ हो तो कर का अधिकांश एकाधिकारी परही रहेगा। यदि कर वस्तुओंकी मात्रा पर न लगाकर एकाधिकारीके लाभ पर लगाया गया हो तो एकाधिकारीको कर के बराबर मूल्य बढ़ा कर हस्तान्तरित करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी। लाभ पर कर दो प्रकारसे लगाया जा सकता है। एक विधि यह है कि एकाधिकारीसे एक निर्धारित रकम कर के रूपमें ले ली जाये और दूसरी विधि यह है कि लाभ पर एक निर्धारित दरके हिसाबसे कर लिया जाये। कल्पना कीजिए कि राज्य ने एकाधिकारी पर १००० रु० वार्षिक कर लगाया अथवा उसके लाभ पर १० प्रतिशत लगाया। कर लगानेसे पहिले एकाधिकारी अपनी वस्तुका मूल्य इस प्रकार निर्धारित कर चुका होगा कि उस

मूल्य पर उसको अधिकसे अधिक लाभ हो और उससे कम या अधिक मूल्य पर लाभ की मात्रा कम होजाय। अब नीचे दीगई तालिका पर ध्यान दीजिए:

१ मूल्य की दर	२ लाभ	३ कर की मात्रा	४ कर घटा-कर लाभ	५ कर की दर	६ कर की मात्रा	७ कर घटा-कर लाभ
रु०	रु०	रु०	रु०		रु०	रु०
१०	५०००	१०००	४०००	१० %	५००	४५००
९	६०००	१०००	५०००	१० %	६००	५४००
८	७०००	१०००	६०००	१० %	७००	६३००
७	६०००	१०००	५०००	१० %	६००	५४००
६	४०००	१०००	३०००	१० %	४००	३६००

(१) और (२) खानोंसे पता चलता है कि ८ रु० मूल्यकी दर रखनेसे एकाधिकारी को अधिकसे अधिक लाभ अर्थात् ७००० रु० प्रति वर्ष प्राप्त होता है। इसमे कम या अधिक मूल्य पर द्रव्य गिरने लगता है। (३) और (४) खानोसे पता चलताहै कि १००० रु० एक निर्धारित रकम कर के रूपमें देनेके बादभी अधिकतम लाभ अर्थात् ६००० रु० ८ रु० मूल्यपर ही प्राप्त होता है। इसी प्रकारसे १० रु० प्रतिशत लाभ पर कर लगाने पर भी (६) और (७) खानोंसे ८ रु० मूल्य पर ही ६३०० रु० लाभ बचताहै जो इस अवस्थामें अधिकतम है।

आयात और निर्यात कर

अब हम कुछ विशेष प्रकारके करोंके सम्बन्धमें कर-भार हस्तान्तरित करनेकी क्रियाओं का उल्लेख करेंगे। किसी देशमें जो वस्तुए बाहर जाती हैं उन पर लगाये गये कर को निर्यात-कर कहते हैं और विदेशोंसे देशमें आनेवाली वस्तुओंपर लगाये गये करोंको आयात-कर कहते हैं। उदाहरणके लिए मान लीजिए भारत चाय पर निर्यात-कर लगाता है। क्या इस कर का भार भारतवर्ष के चायके व्यापारियों

और उत्पादकों पर पड़ेगा अथवा उन देशवासियों पर पड़ेगा जो भारत की चायका उपयोग करते हैं। यदि भारतको चायकी उत्पत्तिका एकाधिकारी स्थान प्राप्त हो अथवा अधिकाश चाय भारतमें ही पैदा होती हो और चायके बदलेमें उस आवश्यकता को तृप्त करनेवाली अन्य वस्तु न हो और चायकी मागमें विशेष लोच न हो तो निस्सन्देह कर का भार विदेशी उपभोक्ताओं पर पड़ेगा। परन्तु यदि अन्य देशोंमें चाय उत्पन्न होती हो (चाय चीन जापान, बर्मा, लंका आदि देशोंमें होती है) अथवा चायके मूल्यमें वृद्धि होने पर विदेशी उपभोक्ता चायके बदलेमें कॉफी, कोको आदि अन्य वस्तुओंका उपभोग करने लगें तो भारतके चायके व्यापारियोंकी हस्तान्तरण शक्तिका ह्रास हो जायगा और इस अवस्थामें कर का अधिकाश भार उन्ही पर रहेगा। हां, यदि चाय उत्पन्न करनेवाले देशोंकी संख्या थोड़ी हो और वे आपसमें मिलकर एकाधिकार का पद प्राप्त करलें तो अवश्य ही उनको कर के भारको अन्य देशवासियों पर डालनेमें अधिक सफलता मिल सकेगी। लेकिन वास्तव में इस प्रकारका एकाधिकार स्थायी नहीं रहता।

आयात-करके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी धारणा है कि इनका भार विदेशी माल भेजनेवाले पर रहता है। परन्तु यह धारणा प्रत्येक अवस्थामें सही नहीं है। यह तभी ठीक होती है जब कि आयातवाली वस्तु देशवासियों के लिए आवश्यक न हो और उसकी प्रतिनिधि वस्तुएं सुगमतासे प्राप्त हो सकती हों अर्थात् यदि उस वस्तुकी माग विशेष रूपसे लोचदार हो और विदेशी व्यापारीकी उस वस्तुकी माग अन्य देशोंमें न हो अथवा बहुत कम हो। ऐसी अवस्थामें कर का अधिकाश भाग विदेशी व्यापारी को सहन करना पड़ेगा। परन्तु इस प्रकारकी अवस्था बहुत कम रहती है। यदि विदेशी वस्तु आयात करनेवाले देशवासियों के लिए आवश्यक हो और उसकी प्रतिस्पर्धा करनेवाली अन्य वस्तु सुगमतासे न प्राप्त हो सकती हो और यदि उस वस्तुकी माग अन्य देशोंमें भी हो तो निर्यात करनेवाले देशकी शक्ति बढ़ जाती है। अतएव ऐसी अवस्थामें आयात-कर का अधिकाश भाग आयात करनेवाले देशवासियों पर ही पड़ता है। इसप्रकार हम देखते हैं कि आयात-कर को हस्तान्तरित करना उन्ही परिस्थितियोंपर निर्भर करता है जिन परिस्थितियोंपर देशके भीतर बनायी गयी वस्तुओंपर लगाये गये कर को हस्तान्तरित करना सम्भव हो सकता है। दोनों परिस्थितियोंमें एक ही सिद्धान्त लागू होता है।

मकानो पर कर

यदि मकान पर कर लगाया जाये तो मालिक मकान किराया बढा कर (यदि मकान किराये पर उठाया जाता हो तो) कर के भारको किरायेदारपर डालनेकी चेष्टा करेंगे। यदि कर किरायेदार से लिया जाये तो वह मालिक मकान को उतना कम किराया देकर कर के भारसे अपने को मुक्त करनेकी चेष्टा करेगा। कहा तक ये लोग अपनी चेष्टामें सफल होंगे, यह मकानोंकी माग और पूर्तिकी दशा पर अवलम्बित है। अधिकतर यह देखा गयाहै कि भिन्न भिन्न आर्थिक स्थितिके लाग विशेष प्रकारके मकानो और मुहल्लामें रहना पसन्द करते है। इसके अतिरिक्त जहा लोग रहते आनेहै वहाके लोगोंसे जान पहचान और अन्य व्यावहारिक सम्वन्ध हो जाते है। मकान बदलनेमें असुविधाए और व्यय भी होता है। अतएव मकानोंकी मागमें अधिक लोच न होनके कारण कर का कुछ अग अवश्यही किरायेदारो को वहन करना पडता है। यदि, जैसा आजकल बडे शहरोमें है, राज्य द्वारा किराया निश्चित कर दिया गया हो तो कर का भार मकान मालिको पर ही रहेगा, यदि उनको कर के अनुसार किराया बढाने की अनुमति न मिले।

यदि किराया मकान मालिकोसे लिया गयाहै तो जिस अवधि तक मकान मालिक और किरायेदार के बीच किरायेके परिमाणकी लिखापढी होचुकी हो तव तक कर का भार मकान-मालिक परही रहेगा (किरायेदार से कर वसूल करनेपर इसअवधि तक कर का भार किरायेदार पर ही रहगा। पट्टा पूरा हा जानेपर मालिक मकान किराया बढानेकी चेष्टा करेगा)। मकानोके सम्बन्धमें एक विशेष बात यहहै कि मकान बहुत टिकाऊ हातेहै और निकट भविष्यमें इनकी सख्या कम करके इनका किराया सुगमतासे बढाया नही जासकता। अतएव यदि मकानोकी मागमें शिथिलता हो और कुछ मकान खाली पडे हो तो ऐसी अवस्थामें कर का भार अधिकाशमें मकान-मालिको परही रहेगा। वस्तुत. माग और पूर्तिकी विशेषताओ को साथ साथ रखने परही कर-भार का वितरण निश्चित होगा। यदि कर देनवाला किसी प्रकार का व्यवसाय करता हो तो ऐसाभी हो सकताहै कि वह कर के कुछ अशका भार अपनी वस्तुके ग्राहकोपर डालदे। नये मकानो को बनवानेमें कर का कुछ भार मकान बनाने वालोपर भी पड सकता है।

खेती की भूमि पर कर

यदि जमींदार अपने आसामियोंसे पूरा आर्थिक लगान वसूल कर रहाहो तो कर का भार जमींदार को ही वहन करना पड़ेगा, परन्तु यदि वास्तविक लगान आर्थिक लगानसे कम हो तो करका कुछ अंश आसामियों पर डाला जासकता है। भूमि का क्षेत्रफल घटाया नहीं जासकता। अतएव ऐसे देशोंमें जहां आबादीके स्थिर रहने अथवा घटनेके कारण भूमिकी मांगकी लोचमें कमी आगई हो वहां भूमि-कर का अधिकांश भाग जमींदार परही रहेगा। आबादी की वृद्धिके कारण अनाजकी मांग में भी वृद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्थामें कर का कुछ अंश अनाजके मूल्यमें वृद्धि करके उनके ग्राहकोंपर भी डाला जा सकता है।

आय-कर

आय-कर के बारेमें साधारणतः यही धारणा है कि इसका भार कर देनेवाले परही रहता है। इस प्रकरणमें वेतन, मज़दूरी, पेंशन इस प्रकारके आय-कर को और वाणिज्य-व्यापारके आय-कर की अलग अलग विवेचना करना ठीक जान पड़ता है। जहांतक वेतन और मजदूरीका प्रश्न है, कर देनेवाला कर का भार अपने नियोक्ता के ऊपर डालना चाहेगा। ऐसा करनेमें वह तभी सफल होसकेगा जब नियोक्ता उसके वेतन अथवा मज़दूरीमें कर के बराबर वृद्धि करदे। परन्तु नियोक्ता इसप्रकार की वृद्धि क्यों करे। आय-कर देनेके बाद नियोक्ताके लिए श्रमजीवियोंका काम अधिक उपयोगी अथवा लाभप्रद तो हो नहीं जाता है। यदि वह उनको उनकी सीमान्तिक उत्पादकताके अनुसार पारिश्रमिक दे रहा हो तो फिर वह उसमें वृद्धि क्यों करेगा। ऐसी अवस्थामें कर का भार श्रमजीवीपर ही रहेगा। परन्तु यदि पारिश्रमिक सीमान्तिक उत्पादकतासे कम परिमाणमें दिया जारहा हो तो बहुत सम्भव है कि कुछ अंशतक पारिश्रमिकमें वृद्धि कर नियोक्ता आय-कर के भारको अपने ऊपर लेलें। जहांतक श्रमजीवियोंकी शक्तिका प्रश्न है, यदि वे अपने श्रमकी मात्रा कम करनेमें समर्थ हों तो अपनी आयको बढ़वा सकते हैं। परन्तु इसमें कठिनाइयां हैं। पहिलेतो यदि किसी एक प्रकारके व्यवसायके श्रमजीवी उस व्यवसायको छोड़कर

अन्य व्यवसायोमें जानेकी चेष्टा करते और इसप्रकार उक्त व्यवसायमें श्रमकी मात्रा को कम करके अपने पारिश्रमिक को बढवानेमें अधिक समर्थ होते। परन्तु यदि सभी प्रकारके व्यवसायोके श्रमजीवियोंसे आय-कर लियाजाता हो तो एक व्यवसायसे दूसरे व्यवसायमें जानेसे कोई लाभ नही है। दूसरी बात यहहै कि यदि आय-कर के भारके फलस्वरूप श्रमजीवी अपने काम करनेके घंटे कम और अवकाश अधिक करना चाहताहो, तो पारिश्रमिक बढनेकी सम्भावना होसकती है। परन्तु यदि कर देनेके पश्चात् आय कम रहजानेके कारण कर देनेवाला अपना जीवनस्तर पूर्ववत् बनाये रखनेके लिए अधिक घंटे काम करना चाहे तो इससे पारिश्रमिककी दरमें वृद्धि नहीं होगी। कौन कर देनेवाला किस प्रकारका आचरण करेगा, यह साधारणतः उसके आय-स्तरपर निर्भर करता है। अधिक आय-स्तरवाले श्रमजीवी आय-कर बढ जाने से काम कम और अवकाश अधिक और निम्नस्तरवाले श्रमजीवी अधिक काम और अवकाश कम चाहेंगे। अतएव पहिली दशामें कर-भारको नियोक्तापर डालनेकी अधिक सम्भावना रहतीहै और दूसरी दशामें कर-भार श्रमजीवियोंपर ही रहेगा।

वाणिज्य और व्यवसाय द्वारा जो आय होतीहै उसपर लगाया कर साधारणतः हस्तान्तरित नही किया जासकता। व्यापारी और व्यवसायी लोग तो कहतेहैं कि यदि राज्यने आय-करमें वृद्धि की तो वे वस्तुका मूल्य बढाकर वसूल करलेंगे। परन्तु प्रश्न यहहै कि यदि वे वस्तुओंको अधिक मूल्यपर बेच सकतेथे, तो आय-कर की प्रतीक्षा क्यो करते रहे। पहिलेही से उन्होने वस्तुका मूल्य आय-कर के परिमाणके बराबर बढाकर लाभ क्यों नही उठाया। आय-कर के लगनेके कारण ही उनकी वस्तुकी चाह क्रेताओंको अधिक नही होजायेगी। इसके अतिरिक्त व्यवसाय और व्यापारकी आयपर कर लाभपर लगताहै और वस्तुके बेचनेसे जो प्राप्ति होतीहै उस परिमाणमें से लागतको निकालकर लाभका परिमाण जाना जासकता है। अब वस्तु तो बिक चुकीहै तो कैसे उसके मूल्यको बढाकर कर के भारको क्रेताओंपर डाला जासकता है। एक वस्तुके उत्पादन कार्यको छोडकर दूसरी वस्तुके उत्पादन कार्यमें लगनेसे भी कोई लाभ नही होताहै, क्योंकि सभी व्यवसायोंसे प्राप्त लाभपर आय-कर लगता है। अतएव जो कार्य आय-कर देनेके पूर्व अधिक लाभदायक था, वही आय-कर देनेके पश्चात्‌भी तुलनात्मक दृष्टिसे अधिक लाभदायक रहेगा।

करभार को हस्तान्तरित करनेकी क्रियाको और तत्सम्बन्धी समस्याओंको करो

के कुछ उदाहरण द्वारा हमने समझानेकी चेष्टाकी है। यह विषय बहुत विवादका है। एक कठिनाई यहहै कि करोंके कारण आर्थिक व्यवस्था कई प्रकारसे प्रभावित होती है। द्रव्यमय कर भारको हस्तान्तरित करनेकी चेष्टासे भी आर्थिक कार्यों और सम्बन्धोंमें परिवर्तन होता है। परन्तु इस परिवर्तनसे कर-भार हस्तान्तरित हो जायेगा, यह नहीं समझना चाहिए। उदाहरणके लिए यदि राज्यने किसी व्यक्तिपर १० रु० मासिक आय-कर लगाया और उसने १०,रु० मासिक वाले नौकरको निकाल दिया, तो क्या हम कह सकते हैं कि कर देनेवालने अपने कर का भार अपने नौकर पर डाल दिया? नहीं। यदि कर देनेवालने नौकरको निकालकर १० रु० की क्षति पूरी कर ली, तो भी वह नौकरकी सेवाओंसे वंचित रहा।

करों का आर्थिक प्रभाव

जैसाकि पिछले अध्यायोंमें लिखा जाचुका है, आधुनिक राज्य समाजकी आयका बड़ा हिस्सा कर के रूपमें ले लेतेहैं और उसको अनेक प्रकारसे भिन्न भिन्न मदोंमें व्यय करते हैं। इसका समाजके आर्थिक कार्यों जैसे उत्पादन उपभोग, विनिमय, वितरण पूंजीके बनने तथा लगाने और आर्थिक प्रगतिपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रभावका आंशिक विवेचन राज्यके व्ययके अध्यायमें किया जाचुका है। परन्तु, व्यय करनेके लिए आयकी आवश्यकता होती है जोकि साधारणत कर के रूपमें होती है। विविध प्रकारके करोंका भिन्न भिन्न आयस्तरके व्यक्तियोंपर और तत्सम्बन्धी आर्थिक क्रियाओंपर भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है। इस प्रकरणमें इसी विषयपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा कीगई है। कभी कभी राज्य ऋण लेकर भी व्यय करता है। इसका प्रभाव राज्यके ऋणवाले प्रकरणमें किया जायेगा।

करों का उत्पत्ति पर प्रभाव

कर उत्पत्तिके कुल परिमाण और उसके अन्तर्गत भिन्न भिन्न वस्तुओं और सेवाओं के परिमाणोंको, लोगोंकी कार्य करनेकी शक्ति, निपुणता और प्रवृत्ति, पूंजी सचय करनेकी और उसको आर्थिक कार्योंमें लगानेकी प्रवृत्ति और आर्थिक साधनोंको एक

व्यवसायसे दूसरे व्यवसायमें लगानेके द्वारा प्रभावित करता है। यदि करोंके लगाने के कारण कर देनेवालोंकी कार्य-क्षमता का ह्रास होता हो तो इससे उत्पत्तिके परिमाणमें भी कमी आजायगी। अतएव राज्यको चाहिए कि वह अपनी कर पद्धति इस प्रकारकी बनाये जिससे एक विशेष आय-स्तरसे निम्न आयवाले व्यक्तियोंपर कर का भार न पड़े। यह आयस्तर एक अपेक्षित जीवन-स्तर बनाये रखनेके आधारपर निर्धारित होना चाहिए। यदि इस स्तरसे निम्न आयस्तरोंके व्यक्तियोंपर कर-भार डाला जाये तो वे जीवन निर्वाह और कार्य कुशलता वाली वस्तुओंका उचित मात्रामें उपभोग करनेसे वंचित रहेंगे। इससे न केवल उनकी कार्य-क्षमता और स्वास्थ्यको क्षति पहुंचेगी, बल्कि उनके बच्चोंको उपयुक्त भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि न मिल सकनेके कारण भविष्यकी उत्पत्तिकी मात्रामें भी क्षति होनेकी आशंका है।

यदि राज्य किसी मनुष्यकी आयका एक भाग कर के रूपमें ले ले तो ऐसा भी हो सकता है कि उसके कार्य करनेकी प्रवृत्ति और पूंजी संचय करनेकी प्रवृत्तिमें शिथिलता आजाये। यदि ऐसा हुआ तो उत्पत्तिकी मात्रामें क्षति होनेकी सम्भावना है। ऐसा होगा अथवा नहीं यह कर का स्वरूप उसकी मात्रा और कर देनेवालोंकी प्रतिक्रियापर अवलम्बित रहता है। जिन लोगोंपर एक बड़े कुटुम्बका भार है, यदि उनकी आय कर देनेके कारण पर्याप्त नहीं होती, तो सम्भव है कि ऐसे लोग अपने जीवन-स्तरको बनाये रखनेके लिए अधिक कार्य करनेको बाध्य हों। इसी प्रकार जो लोग भविष्यमें एक निश्चित आय बनाये रखनेके लिए बचत करतेहै, कर-भार के कारण बचतकी मात्रा बनाये रखनेके लिए भी उनको अधिक उद्योग करना पड़ेगा। आर्थिक मन्दीके अवसरपर कर-भारसे उद्योग और उत्पत्तिकी मात्रामें अधिक क्षति होनेकी सम्भावना है। परन्तु आर्थिक उत्कर्षके कालमें उत्पादक लोग इन्हीं करोंसे कुछभी नहीं घबराते और उत्पत्तिके कार्यको आगे बढ़ाते रहते हैं।

जो कर अनपेक्षित आयपर लगाये जातेहैं उनका कार्य करनेकी अभिलाषा पर किसी प्रकारका प्रभाव नहीं पड़ता है। इसीप्रकार इस प्रकारके एकाधिकारी पर कर का जोकि उसमें एक निर्धारित परिमाणमें अथवा उसके लाभकी एक निर्धारित दरके हिसाबसे लिया जाताहै, एकाधिकारीको अपने व्यवसायकी मात्रा घटानेमें प्रेरित नहीं करता। यदि उत्तराधिकार-कर के कारण उत्तराधिकारीको कम प्राप्ति की सम्भावना हो तो ऐसी अवस्थामें सम्भवतः वह बेकार रहनेकी अपेक्षा कुछ उद्योग

में लगे रहनेकी चेष्टा करेगा जिससे उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि होगी।

आय-कर साधारणतः वर्धमान होते हैं। अतएव बहुत सम्भव है कि ऊंचे आय-स्तर पर जहां पर कि दर बहुत बढ़ जाती है, इस प्रकारका कर उद्योग और पूंजीके सञ्चयमें कमी लानेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करे। यह कहना कठिन है कि किस आय-स्तर पर कर की कौनसी दर इस प्रकारका प्रभाव उत्पन्न करगी। यदि आय-कर इस प्रकार लगाया जाये जिसमें परिश्रमसे प्राप्त आयपर उसकी दर कम हो और सम्पत्ति से प्राप्त आयपर अधिक हो, तो बचत और पूंजीकी मात्रामें कमी आनेकी सम्भावना कम रहेगी।

पूर्वकालमें एक ऐसी धारणा थी कि यदि आर्थिक साधनोंको भिन्न भिन्न व्यवसायोंमें प्रवेश करनेमें कोई व्याघात न हो तो स्वयमेव उनका वितरण इस प्रकारसे हो जायेगा जिससे वेही वस्तुएं उतनेही परिमाणमें उत्पादित की जायेंगी जो उपभोक्ताओंको अपेक्षित हों। यदि राज्य अपनी कर-नीति द्वारा इसमें व्यवधान उत्पन्न करे, तो इससे इस प्रवृत्तिमें रुकावट होगी और साधनोंका भिन्न भिन्न व्यवसायोंमें उपयुक्त वितरण नहीं हो पायेगा, यह तर्क ठीक नहीं है। पूंजीवादमें इस प्रकार की परिस्थिति रहती है जिसके कारण भिन्न भिन्न वस्तुओंका परिमाण समाजके हितके लिऐ नहीं, अपितु पूंजीपतियोंके लाभकी दृष्टिसे होता है। अतएव राज्यको हस्तक्षेप करना पड़ता है। करोंके प्रयोगसे आर्थिक साधनोंके भिन्न भिन्न व्यवसायों में वितरणको बदला जासकता है। ऐसा होसकता है कि राज्य भूलसे अथवा परिस्थितिवश इस प्रकारके कर लगादे जिससे साधनोंका वितरण अनपेक्षित होजाये। उदाहरणके लिए, यदि दूधपर कर लगानेके कारण उसका मूल्य बढ़जाये, और दूध की मांग कम होनेके कारण गो-पालनके व्यवसायमें कमी होजाये तो इसके परिणाम स्वरूप बच्चों तथा रोगियोंके क्षमकी क्षति होनेकी सम्भावना है। परन्तु यदि शराब और अन्य नशीली वस्तुओंपर कर लगानेसे उनके उपभोग और उत्पादनमें कमी हो और उन व्यवसायोंसे निकलकर साधनोंको अधिक उपयोगी व्यवसायोंमें लगाया जाये, तो इससे समाजका हित होगा। इसी प्रकार यदि विदेशी प्रतियोगिता के कारण ऐसे उद्योग धन्धे जिनका स्वदेशमें होना आवश्यक है, न पनपने पायें तो इस प्रकारकी विदेशोंसे आनेवाली वस्तुओंपर संरक्षण कर लगाकर देशमें उत्पत्तिके साधनोंको इन उद्योग-धन्धोंकी ओर आकृष्ट किया जासकता है। परन्तु इस बात

का ध्यान रखना पडताहै कि सरक्षण-कर बडी सावधानीसे देशके हितोको न कि किसी सस्था विशेष के हितोंको दृष्टिमें रखकर लगाया जाये।

करों का वितरण और नियोग पर प्रभाव

पूजीवादी आर्थिक व्यवस्थामें समय समयपर उत्पत्तिके साधनोंमें बेकारी आजाती है, जिसके फलस्वरूप आर्थिक उद्योगमें शिथिलता और राष्ट्रीय आयमें भी क्षति आजाती है। कुछ समय पहिले एक विचार-धारा प्रचलित थी कि स्वतन्त्र आर्थिक पद्धतिमें थोडीसी अनिवार्य बेकारीको छोडकर प्रतियोगिताके कारण लागत मूल्य-स्तरोमें इस प्रकारका बदलाव होजाता है जिससे स्वयमेव सभी साधन किसी न किसी व्यवसायमें लगजाते है, परन्तु वास्तवमें यह स्थिति पाई नही जाती। आधुनिक अर्थशास्त्री इस विचारके है कि पूजीवादी व्यवस्थामें आर्थिक कार्यों (उद्योगों) की प्रगतिशीलतामें रुकावट पैदा करनेवाले कुछ इस प्रकारके विकार उत्पन्न होजाते है जिनका निराकरण स्वयमेव नहीं होसकता। इनमें आयके वितरण और उपयोग, बचत और पूजीके लगावमें असम्बद्धता होजाना एक प्रधान विकार है। चूकि पूजीवादमें उत्पत्ति मागपर निर्भर रहतीहै, अतएव उसको प्रगतिशील बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक है कि मागका परिमाण न केवल बना ही रहे, बल्कि उसमें वृद्धि हो। कच्चा माल, मशीन, कल कारखाने इत्यादि वस्तुओकी माग अन्तनोगत्वा उपभोग की वस्तुओकी मागपर ही अवलम्बित रहती है। अब यदि उपभोगकी वस्तुओंकी मागमें अव्यवस्था उत्पन्न होजाये तो इससे सम्पूर्ण आर्थिक क्षेत्रमें अव्यवस्था उत्पन्न होजाती है। आर्थिक व्यवस्थाकी स्थितिके लिए यह आवश्यक है कि उपभोगकी वस्तुओकी और उत्पादक वस्तुओंकी माग बनी रहे। समाजकी आयके दो मुख्य उद्देश्य होते है। एकभाग तो उपभोगके पदार्थोमें व्यय किया जाताहै और दूसरा भाग बचतके रूपमें, जो पूजी बनकर व्यवसायोमें लगाया जाताहै, परन्तु बचत स्वयमेव पूजीके कार्यमें प्रवृत्त नही होजाती। पूजीपति अपनी बचतको उत्पादनके कार्यमें तभी लगातेहै जबकि उनको लाभकी आशा हो। यदि लाभकी आशा गिरने लगे तो बचत द्रव्यके रूपमें बेकारही सचित रहेगी। पूजीवादकी विशेषता यहहै कि इसमें आयका वितरण बहुत असमान होता है। आयका एक बडा भाग कुछ धनी

लोगोंके पास एकत्रित होजाता है जिनमें बचत करनेकी शक्ति एवं प्रवृत्ति अधिक होता है। ऐसी परिस्थितिमें उपभोगकी वस्तुओंकी मांगमें शिथिलता आजाती है। लाभकी आशा कम होनेलगती है और पूंजीके लगावकी मात्रा भी घटने लगती है। फलस्वरूप उत्पत्तिके साधनोंमें बेकारी और राष्ट्रीय आयमें कमी आजाती है।

राज्य इस परिस्थितिका सामना करनेके लिए कुछ अंश तक कर-नीतिका प्रयोग कर सकता है। कर नीति द्वारा आयके वितरणमें असमानता कम की जासकती है। यदि कर का भार निम्न आय-स्तरा पर कम करदियाजाय तो इससे उपभोगके पदार्थोंकी मांगको प्रोत्साहन मिलेगा क्योंकि इस श्रेणीके लोग अपनी आयका बहुत बड़ा भाग उपभोगके पदार्थोंमें ही व्यय करते हैं। इसीप्रकार राज्य यदि ऐसी वस्तुओंपर कर घटा या हटा दे जिनको साधारण आयके व्यक्ति अधिक मात्रामें मांग लेते हैं तोभी मांगको प्रोत्साहन मिलेगा। इसप्रकार हम देखतेहैं कि वर्धमान कर प्रणाली जिसके द्वारा वितरणकी असमानता कुछ अंशतक कम की जासकती है केवल नैतिक दृष्टिकोणसे ही नहीं अपितु आर्थिक प्रगतिको बनाये रखनेके लिए भी वांछित है। यदि राज्य ऐसे कर लगाए जिनसे वह बचत जो बेकार संचित द्रव्यके रूपमें पड़ी हुई है उद्योग धंधोंमें लगने लगे तो उससे भी आर्थिक स्थिति सुधर जायगी।

करोंके आर्थिक प्रभावका जो चित्रण इस अध्यायमें किया गयाहै उससे हमको आर्थिक व्यवस्थामें जो बदलाव होताहै उसका पूरा रूप सामने नहीं दिखाई देता। उदाहरणके लिए हमने एक स्थानपर कहाहै कि यदि करके कारण अल्प आयवाले व्यक्ति अपने जीवन-स्तरको घटानेको विवशहों तो उससे उनकी तथा उनकी सन्तानकी कार्य कुशलता एवं स्वास्थ्यको क्षति पहुंचेगी। यह चित्र अपूर्ण है। यदि राज्य इस प्रकारके करकी आयके व्ययसे इस श्रेणीके लोगोंको कम मूल्यपर खाने पीने की वस्तुओं और कम किरायेपर रहने योग्य मकान सुलभ कराये और उनके बच्चों के लिए निःशुल्क शिक्षा देने इत्यादिका प्रबन्धहो तो जो क्षति उनको कर देनेसे होतीहै उसकी पूर्तिसे भी अधिक क्षेम उनको राज्यकी व्यय नीति द्वारा होसकता है। आलोचनाकी सुगमताके लिए हमने व्यय और कर नीतिके आर्थिक प्रभावको अलग अलग दिया है। वस्तुतः राज्यकी व्यय तथा कर नीति द्वारा उत्पन्न आर्थिक प्रभाव का पूर्ण चित्र एकसाथ देखना चाहिए।

३६

राज्य-ऋण

राज्य-ऋण का प्रयोजन और महत्व

आधुनिक कालमें सभी देशोंमें राज्य-ऋणका परिमाण बहुत होगया है। कुछ समय पूर्व अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञोंकी यह धारणा थी कि राज्य-ऋण समाजके ऊपर भार-स्वरूप होता है। अतएव राज्यको सकटके समय ही ऋण लेना चाहिए और यथाशीघ्र उऋण होनेकी चेष्टा करनी चाहिए। साधारण आर्थिक अवस्थामें राज्य-ऋणको महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था, परन्तु आजकी विचार-धारा भिन्न है। राज्यके आर्थिक कार्य बहुत बढगये हैं और उनके द्वारा समाजके सम्पूर्ण आर्थिक अवयवोंको पुष्ट, उन्नतिशील और प्रगतिशील बनानेकी चेष्टा कीजाती है। इस प्रकारके अनेक आर्थिक-कार्योंके लिए राज्यको ऋण लेना आवश्यक होजाता है, क्योंकि करसे जो आय होतीहै वह पर्याप्त नहीं होती और अनेक अवस्थाओंमें जैसे आर्थिक मन्दीके अवसरपर कर-भार बढाना उपयुक्त नहीं समझा जाता। वर्तमान आर्थिक व्यवस्थामें राज्य-ऋणको भी एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगया है जिसके द्वारा राज्य अपनी आर्थिक द्रव्य-सम्बन्धी और राजस्व-सम्बन्धी नीतिको कार्यान्वित करनेकी चेष्टा करते हैं।

राज्य अनेक प्रयोजनोंके लिए ऋण लेते हैं। एक कारण यहहै कि राज्यको करोंसे जो आय होतीहै वह उसी समय और उसी परिमाणमें नहीं होती जिस समय और जिस परिमाणमें राज्यको व्ययकी आवश्यकता होती है। अतएव जिस समय तक पर्याप्त मात्रामें राज्यको अपने व्ययको पूरा करनेके लिए आय न मिलजाये तबतक के लिए उसको ऋणका ही सहारा लेना पडता है। यह ऋण कुछही महीनोंके लिए या तो केन्द्रीय बैंकसे लिया जाताहै अथवा अल्पकालीन सरकारी-हुंडी द्वारा जनता से प्राप्त कियाजाता है। आय होजानेपर इस ऋणका भुगतान करदिया जाता है।

राज्यको समाजके हितके लिए कुछ इसप्रकार के निर्माण कार्य करने पडतेहै जिनपर बहुत द्रव्य व्यय करना पडता है। इतना द्रव्य राज्यकी सामान्य आयसे प्राप्त नही होसकता है। उदाहरणके लिए बडी बडी नहरें खुदवाने, सडकें और पुल बनवाने, बडी मात्रामें जगल लगवाने, भूमिकी उन्नति करने तथा नदियोंकी घाटियोंके निर्माण-कार्योके लिए राज्यको बहुत बडी मात्रामें व्यय करना पड़ता है। यदि इन निर्माण-कार्योंके सम्पादनके लिए राज्यकी सामान्य आयका ही भरोसा किया जायतो इसमें बहुत अधिक समय लगजायगा और कार्यभी रुक रुक कर होगा। आवश्यकता इसबात कीहै कि इसप्रकार के आर्थिक निर्माणके कार्य यथाशीघ्र पूरे किये जायें। अतएव राज्यको ऋणका ही सहारा लेना पडता है। इसप्रकार का ऋण स्वभावत: दीर्घकालीन होताहै और राज्य बौंड, सिक्यूरिटी इत्यादि साख-पत्रोंके द्वारा इन प्रयोजनोंके लिए दीर्घकालीन पूजी ऋणके रूपमें प्राप्त करते हैं।

इस प्रकरणमें राज्यके निर्माण कार्योंको दो भागोमें विभाजित किया जासकता है। एक प्रकारके कार्य वे है जिनके निर्माणके पश्चात् उनमेंही द्रव्यके रूपमें इतनी आय होजाती है कि उसमे ऋणपर ब्याज और ऋणके कुछ अशको चुकता करनेके लिए भी रकम बचजाती है। भारतमें ऐसी अनेक नहरेंहै और रेलेंहै जोकि ऋण लेकर बनायी गयीहै और उनसे जो आय होतीहै उमसे प्रतिवर्ष ब्याज चुकाकर ऋण परिशोधन-कोषमें भी कुछ रकम डाल दीजाती है। इसप्रकारका ऋण उत्पादक ऋण कहलाता है। दूसरे प्रकारका ऋण वहहै जिसके निर्माण कार्यसे द्रव्य रूपमें इस प्रकारकी आय नही होतीहै जैसे सडकें, पुल और अस्पताल एव पाठशालाकी इमारतें आदि। ये कार्यभी आर्थिक उन्नतिके लिए आवश्यकहै और इनसेभी उत्पत्तिकी मात्रामें वृद्धि करनेमें सहायता मिलतीहै, परन्तु प्रत्यक्ष द्रव्यके रूपमें इतनी आय नही होती कि उस आयसे ब्याज और ऋण चुकता किया जासके।

आर्थिक अपकर्षके अवसरपर भी राज्यको ऋण लेनेकी आवश्यकता पड जाती है। उद्योग-धन्धों और वाणिज्य व्यवसायके गर्तमें पड जानेके कारण उत्पादनके साधनों और प्रधानत: श्रमजीवियोंमें बहुत बेकारी आजाती है। राज्यका कर्तव्य होजाताहै कि बेकारोंको आर्थिक सहायतादें और आर्थिक व्यवस्थाको भी गर्तसे निकालकर समृद्धिकी ओर अग्रसर करे। इन कार्योंमें बहुत रुपया व्यय होताहै जो कि कर-द्वारा प्राप्त नही होसकता है। वैसेही राष्ट्रीय आयके गिरजानेसे आर्थिक

अपकर्षके समय कर आय गिरजाती है। नये कर लगानेसे अथवा पुराने करोंकी दरमें वृद्धि करनेसे अपकर्षके और भी गहन होनेकी आशंका रहती है। ऐसी परिस्थिति में जो द्रव्य बेकार संचित पड़ा है, उसको अथवा बैंकोंसे नया साख द्रव्य ऋण लेकर आर्थिक सहायताके और निर्माणके कार्योंमें राज्य व्यय करता है। अपकर्षके समयके अतिरिक्त भी जब कभी आर्थिक स्वतन्त्रताके अन्तर्गत उत्पादनके साधनों का कुल नियोग नहीं हो पाता है ऐसे समयोंपर भी राज्यका कर्तव्य समझा जाता है कि वह अपनी साधारण कर की आयसे अधिक व्यय कर अर्थात ऋण लेकर बेकार साधनोंको काममें लगानेकी चेष्टा करे।

युद्ध-कालीन ऋण

वर्तमान राज्योंको ऋण ग्रस्तताका सबसे बड़ा कारण युद्ध है। आधुनिक युद्धोंमें बहुत व्यय होता है जिसकी पूर्ति करकी आयसे करना असम्भव होजाता है। अतएव राज्यको बड़ी मात्रामें ऋण लेना आवश्यक होजाता है। ऋण लेनेसे राज्यको एक सुभीता यह होता है कि वह यथाशीघ्र आवश्यक युद्ध-सामग्री प्राप्त करसकता है और उत्पादनके साधनोंको सुगमतासे युद्ध सामग्रियां बनाने वाले उद्योग धन्धोंमें नियुक्त करसकता है। ऐसे कर जिनसे शीघ्रतासे प्रचुर मात्रामें आय होसके अल्प कालमें नहीं संजोये जासकते हैं। इसके अतिरिक्त जनता भी करोंका विरोध करती है। कुछ कालान्तरमें ही करों द्वारा आयकी वृद्धि होसकती है। परन्तु युद्धको प्रतीक्षा करना नहीं। अतएव राज्यको ऋणका ही सहारा लेना पड़ता है। ऋणके पक्षमें एक बात यहभी कही जासकती है कि जो व्यक्ति अथवा संस्थाएं राज्यको ऋण देती है वह सरकारी बौंड और सिक्यूरिटीको सम्पत्तिका एक रूप मानते हैं जिनपर उनको ब्याज मिलता है और ऋणकी अवधि समाप्त होनेपर मूलधनभी वापस मिलजाता है। यह समझते हुएभी कि किसी न किसी दिन ब्याज और ऋणको चुकानेके लिए कर देना ही पड़ेगा सुदूर भविष्यमें लिया जाने वाला कर इस समय भार स्वरूप नहीं जान पड़ता है।

कुछ लोगोंका कहना है कि युद्ध कालमें जो ऋण लिया जाता है उसका परिशोध भविष्यकी पीढ़ी करेगी। इसप्रकार युद्धका कुछ भार भविष्यकी जनतापर भी पड़ेगा।

इस तर्कमें कोई सार नहीं है। जहांतक युद्धके भारका प्रश्न है वह युद्ध कालीन पीढ़ी पर ही पड़ता है क्योंकि इसी पीढ़ीको अनेक प्रकारकी वस्तुओं और सेवाओंसे वंचित रहना पड़ता है। जहांतक भविष्यकी जनताका प्रश्न है ब्याज और ऋण परिशोधक लिए उसपर जो कर लगाया जाता है वह उसीको वापस मिलजाता है। हां ऐसा होसकता है कि राज्यका ऋण देनेवाले ऊंचे आय स्तर वाले हों और कर देनेवाला में अधिकांश निम्न आय स्तरके लोग हों। ऐसी अवस्थामें आयके वितरणमें अधिक विषमता आजायगी और ऋणका भार निम्न आयवाली जनतापर अधिक पड़ेगा। यदि राज्य अन्य राष्ट्रोंसे ऋण लेता तो अवश्यही इस ऋणका भार भविष्यकी जनता पर पड़ेगा क्योंकि इसको उन सामग्रियोंसे अपनेको वंचित करना पड़ेगा जिनके द्वारा ऋणका परिशोध किया जायगा।

करोंके द्वारा युद्धके लिए आय संचय करनेके पक्षमें कहा जाता है कि जब ऋण लेनेपर भी युद्धका भार वर्तमान पीढ़ीपर ही पड़ताहै तो इसी भारको करके रूपमें ही क्यों न यह पीढ़ी सहन करे। इससे राज्यको भविष्यमें ब्याज और ऋण परिशोध के लिए चिंता न करनी पड़ेगी। यहभी कहा जाताहै कि यदि युद्धके आरम्भमें ही पर्याप्त मात्रामें करोंमें वृद्धि करदी जाए तो जनता कम आवश्यक वस्तुओं और सेवाओंके उपभोगकी मात्रामें कमी करके उत्पत्तिके साधनोंको युद्धकी सामग्रियोंके लिए मुक्त करदेगी। कर पक्षवालोंका यहभी कहनाहै कि यदि राज्य अधिक मात्रा में बैंकोंसे अथवा बैंकों द्वारा उत्पन्न द्रव्यको अन्य व्यक्तियों अथवा संस्थाओंसे ऋणके रूपमें लेकर व्यय करतो इससे द्रव्य स्फीतिकी आशंका रहती है। इन तर्कों में कुछ सार अवश्यहै परन्तु जैसाकि हम ऊपर लिख आयेहैं पर्याप्त मात्रामें कर लगानेमें राज्यको अनेक प्रकारकी समस्याओंका सामना करना पड़ता है। परन्तु *शनैः शनैः राज्यको अपनी कर प्रणालीको समयोचित बनाकर और जनतामें भी* विश्वास पैदा करके अपनी कर आय बढ़ानी चाहिए। अन्ततोगत्वा युद्ध व्ययका एक बड़ा भाग करकी आयसे ही चुकाना चाहिए। जहांतक द्रव्य-स्फीतिका प्रश्न है यह वास्तवमें चिन्ताका विषय है। जबतक बेकार आर्थिक साधनोंको पूर्ण रूपसे नियोजित नहीं किया जासकाहै तबतक द्रव्य-स्फीति जनित कष्टों और दुरावस्थाओं का अधिक भय नहीं है। परन्तु लम्बा अवधिके युद्धमें शीघ्रही ऐसी अवस्था आ जातीहै जबकि कामके योग्य सभी साधन नियुक्त होजाते हैं। ऐसी अवस्थामें ऋण

व्ययमें द्रव्य स्फीति जनित मूल्य-वृद्धि होनेके कारण अव्यवस्था और निम्न-आय-स्तर वालोंको परेशानी उठानी पडती है। इसका आंशिक निराकरण करनेकेलिए ही मूल्य नियन्त्रण और आवश्यक वस्तुओंका परिमित मात्रामें सभीको उपलब्ध करनेके लिए राज्यको प्रबन्ध करना पडता है।

ऋण अथवा कर

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात होजाताहै कि ऐसी अवस्थाएं और समस्याएं उत्पन्न होती रहतीहैं जिनके सम्बन्धमें राज्य कर आयपर ही निर्भर नहीं रहसकता है। यह मानतेहुए भी कि यथासम्भव राज्यको अपनी आवश्यकताओंकी पूर्ति कर आय से ही करनी चाहिए यह बातभी निर्विवादहै कि आधुनिक आर्थिक व्यवस्थामें राज्य-ऋणका भी एक महत्व पूर्ण स्थान है। ऋण और करको एक दूसरेका प्रतिद्वन्द्वी नहीं परन्तु पूरक समझना चाहिए और युक्ति पूर्वक इनका सामंजस्य करना चाहिए। किस अवस्थामें ऋण लियाजाना चाहिए और किस अवस्थामें कर लगाना चाहिए तथा किस प्रकार इनका सम्मिश्रण करना चाहिए इसका निर्णय तत्कालीन आर्थिक स्थिति, कर भार कर दाताओंकी मनस्थिति और कर्तव्यकी अपरिहार्यता और अविलम्बतापर निर्भर होगा। इस सम्बन्धमें हम आर्थिक अपकर्ष और युद्ध-व्ययके प्रकरणमें विवेचना करआये हैं।

ऋण-परिशोधन

ऋणकी अवधिके समाप्त होनेपर ऋण चुकाना पडता है। कभी कभी राज्य ऋणको अस्वीकार करदेतेहैं अर्थात ऋण चुकानेसे इनकार करदेते हैं इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। एकतो राज्यकी साख गिर जातीहै और उसको भविष्यमें ऋण प्राप्त करनेमें कठिनाई होसकतीहै अथवा अधिक व्याज देनेपर ही ऋण मिल सकता है। दूसरे यदि साधारण आयवालोंने भी बौंड और सिक्यूरिटी खरीदी हो तो उन्हें आर्थिक संकटका सामना करना पड़ेगा।

ऋणके परिशोधके लिए अनेक उपाय काममें लायेजाते हैं। एक उपाय यहहै कि

राज्य बजटकी बचतकी रकमसे बाजारमें बॉड खरीद कर ऋणकी मात्रा कम करे। इस उपायसे अधिक सफलता मिलनेकी आशा नहीं की जासकती। पहिले तो आज-कलके बजटमें बचत होनेकी सम्भावना ही कम रहती है जबतक कि विशेष रूपसे उसका प्रबन्ध न कियाजाय। इसके अतिरिक्त बौंड यदि नामाङ्कित मूल्यसे कम मूल्यपर बिकें तभी लाभ होसकता है।

ऋण-परिशोधन-कोष

कभी कभी ऋण चुकानेके लिए परिशोधन-कोषकी स्थापना कीजाती है। कुछ समय पूर्व एक प्रथा यहथी कि ऋण लेनेके पश्चात् उसके परिशोधनके लिए एक कोषमें प्रतिवर्ष इतना द्रव्य जमा किया जाताथा जाकि चक्र वृद्धि ब्याज सहित ऋणकी अवधि पूरी होने होते ऋणके परिमाणके बराबर होजाय। यह प्रथा पश्चिमी देशों में चली थी। आधुनिक कालमें इसमें कुछ परिवर्तन होगया है। अब यह आवश्यक नहीं है कि कोषमें द्रव्य इस हिसाबसे जमा कियाजाय कि वह ऋण अवधि तक इसके परिमाणके बराबर होजाये। कोईभी कोष जो ऋण कम करनेके लिए बनाया जाताहै उसको ऋण-परिशोधन कोष कहते हैं। यह आवश्यक नहीं कि इसमें द्रव्य जमा होता रहा हो। यह कभीभी बौंड खरीदनेके काममें लिया जासकता है। इसमें साल में जो कुछ रुपया बजटमें बच जाय वह जमा किया जासकताहै अथवा इसके लिए बजटमें विशेष रूपसे एक निर्धारित रकमका प्रबन्ध किया जाताहै अथवा आयकी किसी विशेष मदसे जो प्राप्ति हो वह इस कोषमें डाल दीजाती है। इसप्रकारके कोषसे लेनदारोंको आश्वासन रहताहै कि समयपर उनके ऋणका भुगतान होजायगा। परन्तु इस कोषको सुरक्षित रखना, इसका समुचित प्रबन्ध करना और अन्य मदोंपर व्यय न करना इत्यादि समस्याएं इसके साथ लगी हुई हैं।

विशेष पूंजी कर

प्रथम महायुद्धके बाद राज्य ऋणको शीघ्रतासे और बडी मात्रामें कम करनेके लिए एक सुझाव यह रक्खागया कि समाजकी पूंजीपर एकही बार एक विशेष कर लगाया

जाय और इससे जो आयहो उससे इकट्ठाही राज्य-ऋणका परिशोध किया जाये। इसके पक्षमें यह कहागया कि युद्धकालमें अनेक व्यक्तियों और संस्थाओंकी पूंजीमें युद्ध जनित कारणोंसे बड़ी मात्रामें वृद्धिहुई, अतएव इस पूंजी-कर का भार इन्हीं लोगोंपर पडेगा, और चूंकि इस प्रकारके लोग अधिकतर सम्पन्न होतेहैं और कर भी वर्धमान सिद्धान्तके अनुसार लगाया जायगा, अतएव इसका भार हैसियतके अनुसार होगा जिससे धनके वितरणकी असमानतामें भी कमी होगी। इस पूंजी-कर के प्रतिकूलभी अनेक बातें कहीगयीं। कहागया कि युद्ध ऋण सारे देशकी भलाईके लिए लियागया था तब उसका भार थोडेसे सम्पन्न लोगोंपरही क्यों डाला जारहा है? इसका परिणाम यह होगा कि जिन लोगोंने बचतकी है और पूंजी बढाईहै उनको एक प्रकारका दंड मिलेगा और जिन लोगोंने अपनी आय भोग-विलासमें लगादी वह छूट जायेंगे। इससे बचत करनेकी प्रवृत्तिको धक्का लगेगा। यदि इस करकी दर भारीहुई तो उद्योग धन्धोंमें पूंजी लगानेमें भी उत्साह मन्दा पडसकता है। इसके अतिरिक्त यदि इस प्रकारका कर राज्य बराबर लगाने लग तो कुछ समय बाद सारी सम्पत्ति राज्यके पास चली जायगी।

राज्य-ऋण चुकानेका यह उपाय विशेष रूपसे काममें नहीं लाया गया। कुछ देशोंमें एक विशेष कर अवश्य काममें लायागया, जोकि आय कर के सदृश था। यह एक बड़ी मात्रामें और वर्धमान नियमानुसार निर्धारित कियागया जिसका भुगतान वार्षिक किस्तोंमें कई वर्षोंकी अवधिमें फैलाकर, कर दियागया था।

ऋण-परिवर्तन

जैसा नामसे बोध होताहै ऋण-परिवर्तनसे ऋण-परिशोधन तो वास्तवमें नहीं होता है, परन्तु उसको भविष्यके लिए टाला जासकता है। जब किसी ऋणकी अवधि पूरी होजाती है और राज्यके पास परिशोधनके लिए धन नहीं है और वह देनेसे इनकार भी नहीं करना चाहताहै तो वह यातो ऋणकी अवधि बढा देताहै अथवा उसकालमें नया ऋण लेकर पुराने ऋणको चुकता करदेता है। एक प्रकारसे कहा जासकताहै कि ऋणका परिशोधन होगया, यद्यपि वस्तुत: पुराने ऋणके बदले उतनाही नया ऋण होगया। बहुधा जिन व्यक्तियों और संस्थाओंके पास सरकारी बौंड होतेहैं वे उनको

नये बौंडोंसे बदल लेतेहैं। उस समय ऋण सम्बन्धी शर्तोंमें परिवर्तनभी करसकते हैं। उदाहरणके लिए ब्याजकी दर घटासकते हैं अथवा यदि पुराने ऋण आय-कर से मुक्तहों तो उनपर आय-कर लगाया जासकता है। सङ्कटावस्थामें जब राज्य ऋण लेताहै तो उसको बहुधा अधिक ब्याजकी दर देनीपड़ती है। यदि ऋण-परिवर्तनके समय ब्याजकी दर गिरगई होतो राज्य अधिक ब्याजके ऋणको कम ब्याजके ऋण में परिवर्तन कर ब्याजके भारको कम करसकते है। आधुनिक कालमें सरकारी बौंड इस प्रकारसे लिखजाते हैं कि कुछ अवधिके बाद राज्यको अधिकार रहताहै कि वह चाहे तो ऋणका भुगतान करसकता है। एक १०/३० बौंडका यह तात्पर्य होताहै कि ३० वर्षके बाद तो राज्य इस बौंडका अवश्यही भुगतान करेगा, परन्तु १० वर्ष के बाद राज्यको अधिकार होजायगा कि वह जब चाहे तब भुगतान करे। यदि दस और तीस वर्षके बीच ब्याजकी दर गिरगई होतो राज्य पुराने ऋणको कम ब्याज वाले नये ऋणमें परिवर्तित कर सकता है।